तिलोय पण्णत्ती

1

आचार्य यति वृषभ प्रणीत

4507

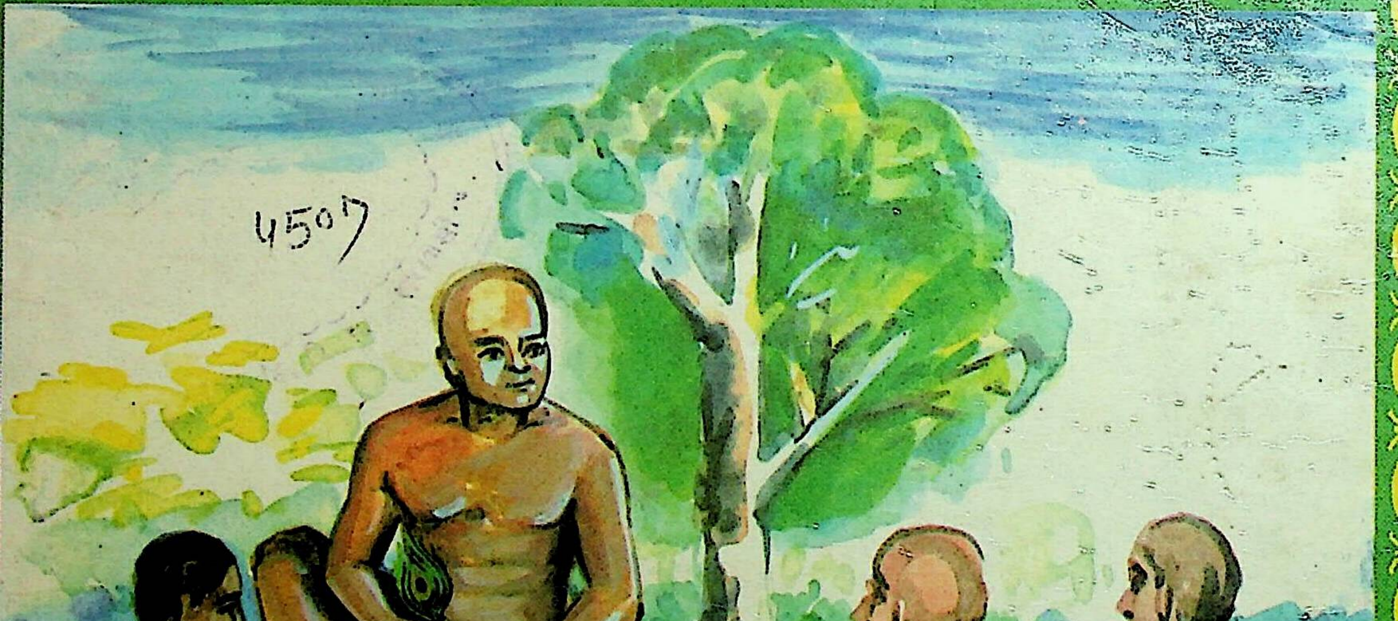

अनुवादिका : आर्यिका विशुद्धमति

11.२

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
4507
30-7-99
वाराणसी

4507
30-1-99

श्री चन्द्रप्रभ स्तवन

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचि गौरं चन्द्रं, द्वितीयम् जगतीव कान्तम्।
बन्देऽभिवन्द्यं महता मृषीन्द्रं, जिनं जितस्वान्त कषाय बन्धम्।।
स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीनां, विपन्न दोषाभ्र कलंक लेपः।
व्याकोशवाङ् न्याय मयूख मालः, पूयात्पवित्रों भगवान मनो मे।।

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा-तिजारा-३०१४११ (अलवर-राजस्थान)

श्रीयतिवृषभाचार्यविरचित

तिलोयपणणत्ती – प्रथम खण्ड

(प्रथम तीन महाधिकार)

◆

पुरोवाक्
डॉ. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

◆

भाषाटीका
आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी

◆

सम्पादन
डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी, जोधपुर (राज.)

◆

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान
श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा-तिजारा-३०१४११ (अलवर-राजस्थान)

◆

मूल्य-मूल्य-150/= रू०

◆

तृतीय संस्करण
ई. सन् १९९७ वीर निर्वाण संवत् २५२३ वि.सं. २०५४

◆

ऑफ्सैट मुद्रक
शकुन प्रिंटर्स, ३६२५, सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-११०००२

श्री १००८ भगवान चन्द्रप्रभ की पावन प्रतिमा, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Varanasi

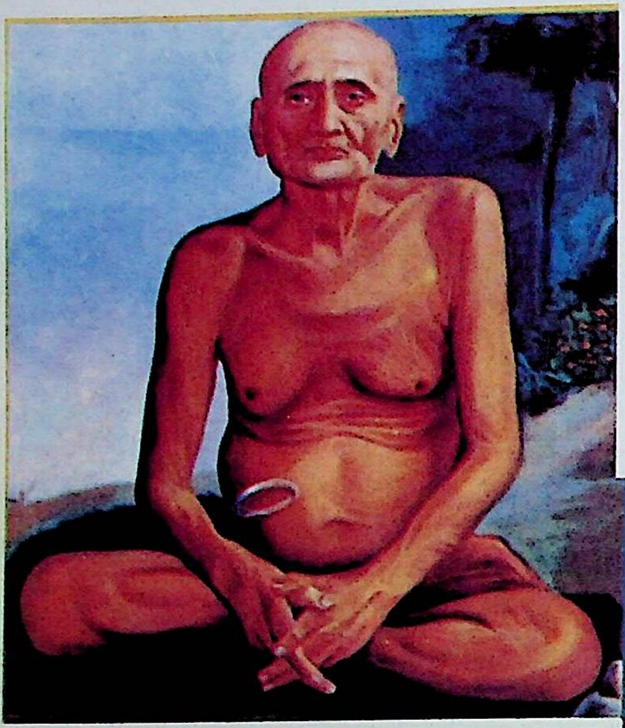

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी

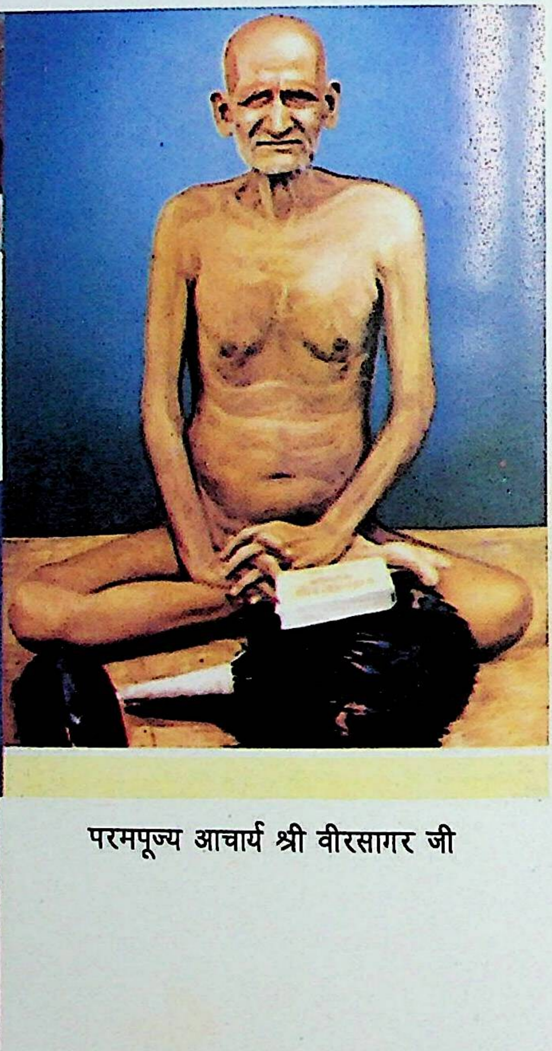

परमपूज्य आचार्य श्री वीरसागर जी

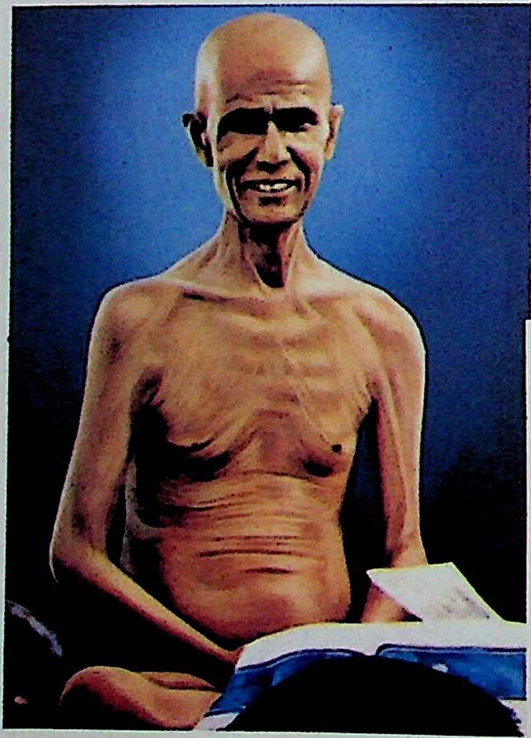

परमपूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी

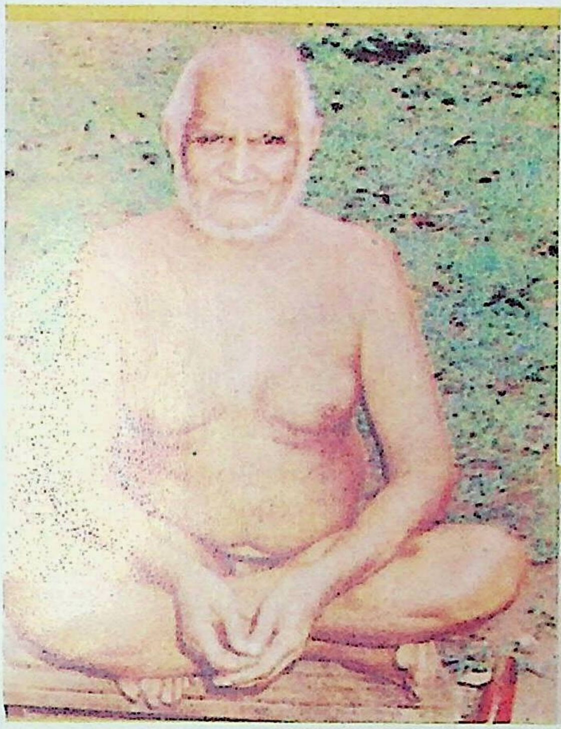

परमपूज्य आचार्य श्री धर्मसागर जी

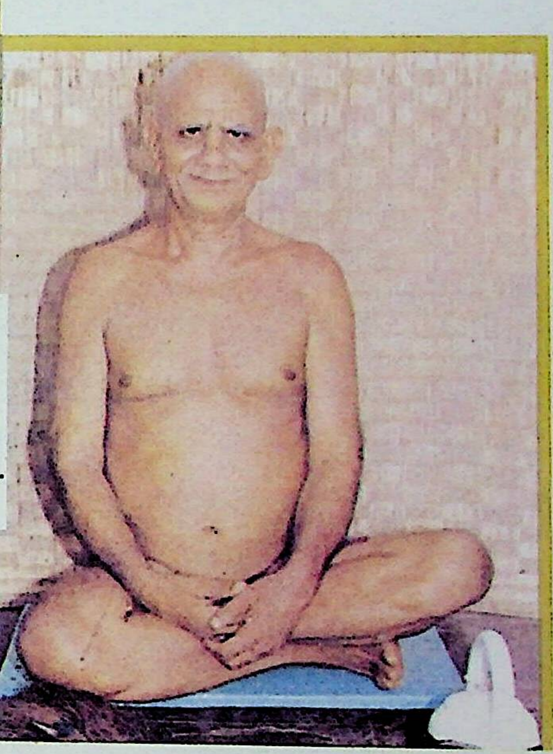

परमपूज्य आचार्य श्री अजितसागर जी

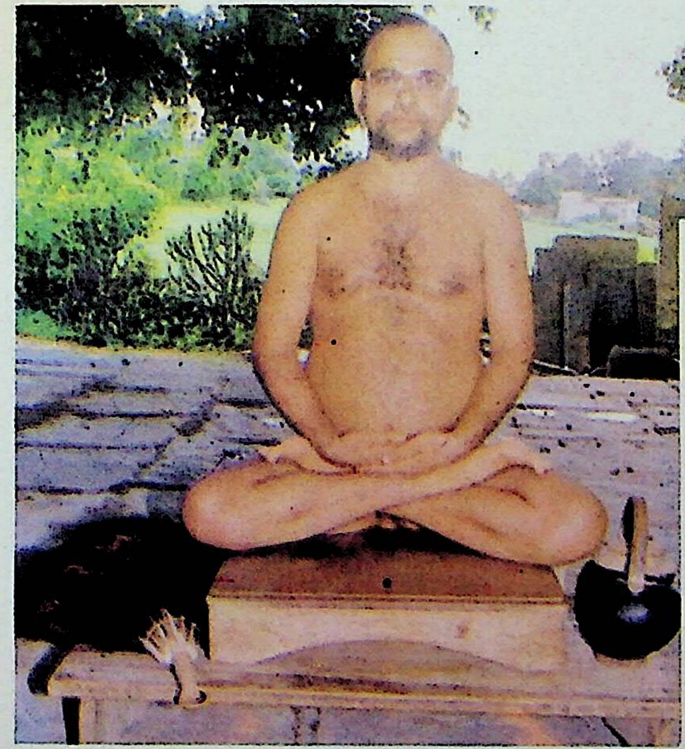

परमपूज्य आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी

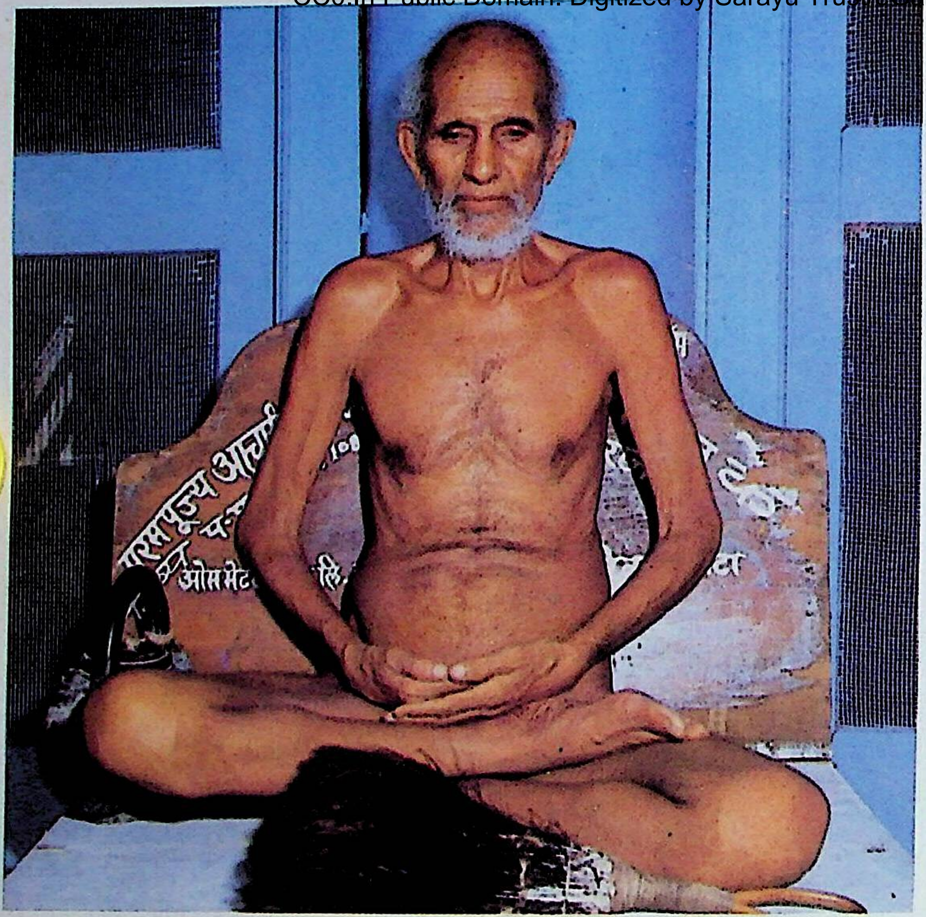
परमपूज्य आचार्य
ओसमेट

परमपूज्य आचार्य श्री सुमतिसागर जी

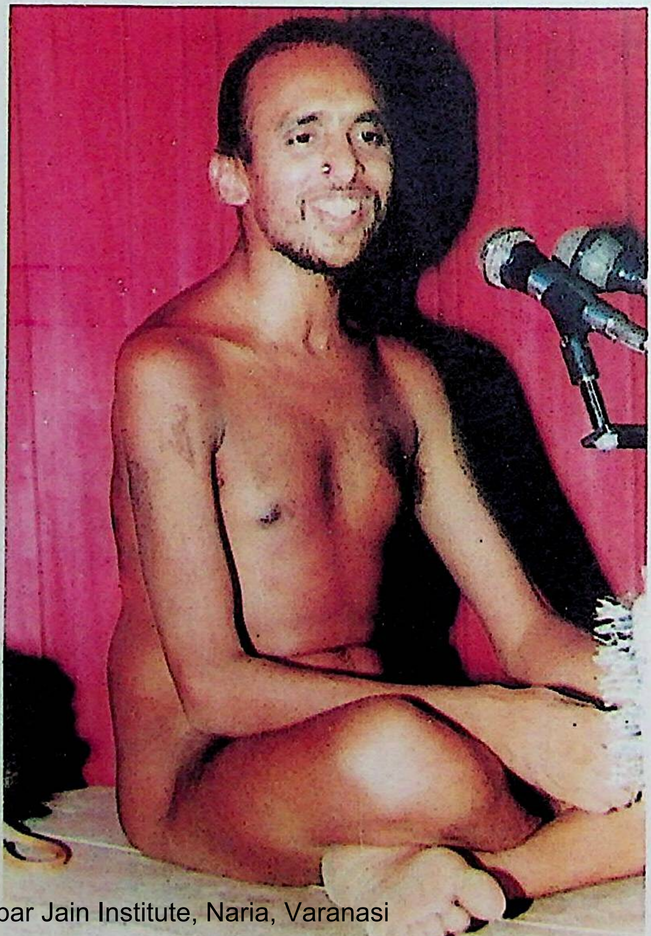

परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी

प्रकाशकीय

जैन धर्म और जैन वाङ्मय के इतिहास का समीचीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए लोक विवरण सम्बंधी ग्रन्थ भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने अन्य आगम। "तिलोयपण्णत्ती" इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। पूज्य आचार्य यतिवृषभजी महाराज की यह अमर कृति है। पूज्य आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमति माताजी की हिन्दी टीका ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता को और बढ़ा दिया है। इस ग्रन्थ के तीनों खण्डों का प्रकाशन क्रमशः १९८४, १९८६ व १९८८ में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा ने किया था।

ग्रन्थ का सम्पादन डा. चेतनप्रकाशजी पाटनी ने कुशलतापूर्वक किया है। गणित के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. लक्ष्मीचन्द्रजी ने गणित की विविध धाराओं को स्पष्ट किया है। डा. पन्नालालजी साहित्याचार्य ने इसका पुरोवाक् लिखा है। माताजी के संघस्थ ब्र. कजोड़ीमलजी कामदार ने प्रथम संस्करण के कार्य में पुष्कल सहयोग किया था।

हमारे पुण्योदय से श्री चन्द्रप्रभु दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पर उपाध्याय मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज का संघ सहित पदार्पण हुआ और उनके पावन सान्निध्य में क्षेत्र पर मान-स्तम्भ प्रतिष्ठा एवं श्री जिनेन्द्र पंचकल्याणक सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर उपाध्याय मुनिश्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन करना सम्भव हुआ। यह संस्करण शकुन प्रिन्टर्स नई दिल्ली में ऑफ्सैट विधि से मुद्रित हुआ ताकि पुनः कम्पोज की अशुद्धियों से बचा जा सके।

क्षेत्र कमेटी ग्रन्थ प्रकाशन की प्रक्रिया में संलग्न सभी त्यागीगण व विद्वानों का हृदय से आभारी है– विशेष रूप से हम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञान सागर जी महाराज के ऋणी हैं जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। हम भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षणी) महासभा के सम्मानित अध्यक्ष श्री निर्मलकुमार जी सेठी के आभारी हैं जिन्होंने ग्रन्थ का संस्करण कराने की अनुमति प्रदान की है। हम महासभा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री नीरजजी जैन के भी आभारी हैं जिन्होंने इस संस्करण की संयोजना से लेकर अनुमति दिलाने तक हमारा सहयोग किया। हमें पूर्ण आशा है कि ग्रन्थ के पुनर्प्रकाशन से जिज्ञासु महानुभाव इसका पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगे।

–तुलाराम जैन
अध्यक्ष, श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर
जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा–तिजारा (अलवर)

श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा

एक परिचय

चौबीस तीर्थंकरों में आठवें भगवान चन्द्रप्रभ का नाम चमत्कारों की दुनियाँ में अग्रणी रहा है। इसलिए सदैव ही विशेष रूप से वे जन-जन की आस्था का केन्द्र रहे हैं। राजस्थान में यूं तो अनेक जगह जिनबिंम्ब भूमि से प्रकट हुए हैं, परन्तु अलवर जिले में तिजारा नाम अत्यन्त प्राचीन है जहाँ भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रगट हुई हैं तब से "देहरा'' शब्द तिजारा के साथ लगने लगा है, और अब तो "देहरा'' तिजारा का पर्याय ही बन गया है। 'देहरा'' शब्द का अर्थ सभी दृष्टियों से देव स्थान, देवहरा, देवरा या देवद्वार कोषकारों ने अंकित किया है। इनके अनुसार देहरा वह मन्दिर है जहाँ जैनों द्वारा मूर्तियाँ पूजी जाती हैं। (A Place where idols are worshipped by Jains.)

देहरे का उपलब्ध वृतान्त, जुड़ी हुई अनुश्रुतियाँ साथ ही जैन समुदाय का जिनालय विषयक विश्वास इस स्थान के प्रति निरंतर जिज्ञासु बनता जा रहा था। सौभाग्य से सन् १९४४ मे प्रज्ञाचक्षु श्री धर्मपाल जी जैन खेकड़ा (मेरठ) निवासी तिजारा पधारे। इस स्थान के प्रति उनकी भविष्यवाणी ने भी पूर्व में स्थापित संभावना को पुष्ट ही किया। इस स्थान पर अवशिष्ट खंडहरों में उन्हें जिनालय की संभावना दिखाई दी। किन्तु उनका मत था कि "वर्तमान अंग्रेजी शासन परिवर्तन के पश्चात् स्वयं ऐसे कारण बनेंगे, जिनसे कि इस खण्डहर से जिनेन्द्र भगवान की मूर्तियाँ प्रकट होंगी।''

देश की स्वंतत्रता के बाद तिजारा में स्थानीय निकाय के रूप में नगर पालिका का गठन हुआ। जुलाई १९५६ में नगर पालिका ने इस नगर की छोटी व संकरी सड़कों को चौड़ा कराने का कार्य प्रारम्भ किया। वर्तमान में, जहां देहरा मंदिर स्थित है, यह स्थान भी ऊबड़-खाबड़ था। हां निकट ही एक खण्डहर अवश्य था। इस खण्डहर के निकट टीले से जब मजदूर मिट्टी खोदकर सड़क के किनारे डाल रहे थे, तो अचानक नीचे कुछ दीवारें नजर आईं। धीरे-धीरे खुदाई करने पर एक पुराना तहखाना दृष्टिगोचर हुआ। इसे देखते ही देहरे से जुड़ी हुई तमाम जनश्रुतियां, प्राचीन इतिहास और उस नेत्रहीन भविष्यवक्ता के शब्द क्रमशः स्मरण हो आये। जैन समाज ने इस स्थान की खुदाई कराकर सदा से अनुत्तरित कुतूहल को शान्त करने का निर्णय किया।

जब प्रतिमाएं मिलीं

राज्य अधिकारियों की देख-रेख में यहां खुदाई का कार्य प्रारम्भ किया गया। स्थानीय नगर पालिका ने जन भावना को दृष्टि में रखते हुए आर्थिक व्यवस्था की, किन्तु दो-तीन दिन निरन्तर उत्खनन के बाद भी आशा की कोई किरण दिखाई नहीं दी। निराशा के अंधकार में सरकार की ओर से खुदाई बन्द होना स्वभाविक था किन्तु जैन समाज की आस्था अन्धकार के पीछे प्रकाश पुंज को देख रही थी, अतः उसी दिन दिनांक २०-७-१९५५ को स्थानीय जैन समाज ने द्रव्य की व्यवस्था कर खुदाई का कार्य जारी रखा। गर्भगृह को पहले ही खोदा जा चुका था। आस-पास खुदाई की गई; किन्तु निरन्तर असफलता ही हाथ लगी। पर आस्था भी अपनी परीक्षा देने को कटिबद्ध थी। इसी बीच निकट के कस्बा

नगीना जिला गुड़गांवा से दो श्रावक श्री झब्बूराम जी व मिश्रीलाल जी यहां पधारे। उन्होंने यहां जाप करवाये। मंत्र की शक्ति ने आस्था को और बल प्रदान किया। परिणामस्वरूप रात्रि को प्रतिमाओं के मिलने के स्थान का संकेत स्वप्न से प्रत्यक्ष हुआ। संकेत से उत्खनन को दिशा प्राप्त हुई। बिखरता हुआ कार्य सिमट कर केन्द्रीभूत हो गया। सांकेतिक स्थान पर खुदाई शुरु की गई। निरंतर खुदाई के बाद गहरे भूरे रंग का पाषाण उभरता सा प्रतीत हुआ। खुदाई की सावधानी में प्रस्तर मात्र प्रतीत होने वाला रूप क्रमश: आकार लेने लगा। आस्था और घनीभूत हो गई; पर जैसे स्वयं प्रभु वहां आस्था को परख रहे थे, प्रतिमा मिली अवश्य किन्तु स्वरूप खंडित था। आराधना की शक्ति एक निष्ठ नहीं हो पाई थी। मिति श्रावण शुक्ला ५ वि.सं. २०१३ तदानुसार दिनांक १२-८-५६ई. रविवार को तीन खण्डित मूर्तियां प्राप्त हुई थीं। जिन पर प्राचीन लिपि में कुछ अंकित है। जिन्हें अभी तक पढ़ा नहीं जा सका है। हां मूर्तियों के सूक्ष्म अध्ययन से इतना प्रतीत अवश्य होता है कि ये मौर्यकाल की हैं। इन मूर्तियों के केन्द्र में मुख्य प्रतिमा उत्कीर्ण कर पार्श्व में यक्ष यक्षणी उत्कीर्ण किये हुए हैं। तपस्या की परम्परागत मुद्रा केश राशि और आसन पर उत्कीर्ण चित्र इन्हें जैन मूर्तियाँ सिद्ध करते हैं। एक मूर्ति समूह के पार्श्व में दोनों ओर पद्मासन मुद्रा में मुख्य विम्ब की तुलना में छोटे बिम्ब हैं। लाली के श्यामल पत्थर से निर्मित इन मूर्ति समूहों का सूक्ष्म अध्ययन करने से क्षेत्र के ऐतिहासिक वैभव पर प्रकाश पड़ सकता है।

इन खण्डित मूर्तियों से एक चमत्कारिक घटना भी जुड़ी हुई है। जिस समय उक्त टीले पर खुदाई चल रही थी, स्थानीय कुम्हार टीले से निकली मिट्टी को दूर ले जाकर डाल रहे थे। कार्य की काल-गत दीर्घता में असावधानी सम्भव थी और इसी असावधानी में कुम्हार किसी प्रतिमा का शीर्ष भाग भी मिट्टी के साथ कूड़े में डाल आया था। असावधानी में हुई त्रुटि ने उसे रात्रि भर सोने नहीं दिया। उस अदृश्य शक्ति से स्वप्न में साक्षात्कार कर कुम्हार को बोध हुआ, और वह भी "मुँह अंधेरे" मिट्टी खोजने लगा। अन्तत: खोजकर वह प्रतिमा का शीर्ष भाग निश्चित हाथों में सौंपकर चैन पा सका।

स्वप्न साकार हुआ

आस्था के अनुरूप खण्डित मूर्तियों की प्राप्ति शीर्ष भाग का चमत्कार, मिट्टी में दबे भवन के अवशेष जैन समुदाय को और आशान्वित बना रहे थे। उत्साह के साथ खुदाई में तेजी आई किन्तु तीन दिन के कठिन परिश्रम के पश्चात् भी कुछ हाथ नहीं लगा। आशा की जो भीनी किरण पूर्व में दिखलाई दी थी वह पुन: अन्धकार में विलीन होने लगी। एक बार समाज की प्रतिष्ठा मानों दाव पर लग गई थी। भक्त मन आस्था के अदृश्य स्वर का आग्रह मानों सर्वत्र निराशा के बादलों को घना करता जा रहा था। समाज की ही एक महिला श्रीमती सरस्वती देवीं धर्म पत्नी श्री बिहारी लाल जी वैद्य ने खंडित बिम्बों की प्राप्ति के बाद से ही अन्न जल का त्याग किया हुआ था। उनकी साधना ने जैसे असफलताओं को चुनौती दे रखी थी। आस्था खंडित से अखंडित का सन्धान कर रही थी। साधना और आस्था की परीक्षा थी। तीन दिन बीत चुके थे। श्रावण शुक्ला नवमी की रात्रि गाढ़ी होती जा रही थी। चन्द्र का उत्तरोत्तर

बढ़ता प्रकाश अंधकार को लीलने का प्रयास कर रहा था। मध्य रात्रि को उन्हें स्वप्न हुआ और भगवान की मूर्ति दबी होने के निश्चित स्थान व सीमा का संकेत मिला। संकेत पूर्व में अन्यान्य व्यक्तियों को मिले थे; किन्तु तीन दिन की मनसा, वाचा, कर्मणा साधनों ने संकेत की निश्चित्तता को दृढ़ता दी। रात्रि को लगभग एक बजे वह उठी और श्रद्धापूर्वक उसी स्थान को दीपक से प्रकाशित कर आई। अन्त: प्रकाशमान उस स्थल को वहिर्दीप्ति मिली। नये दिन यानी १६-८-५६ को निर्दिष्ट स्थान पर खुदाई शुरु की गई।

स्वप्न का संकेत एक बार फिर संजीवनी बन गया। श्री रामदत्ता मजदूर नई आशा व उल्लास से इस संधान में जुट गया। उपस्थित जन समुदाय रात्रि के स्वप्न के प्रति विश्वास पूर्वक वसुधा की गहनता और गम्भीरता के जैसे पल-पल दोलायमान चित्त से देख रहा था। मन इस बात के लिये क्रमश: तैयार हो रहा था कि यदि प्रतिमा न मिली तो संभवत: खुदाई बन्द करनी पड़े; किन्तु आस्था अक्षय कोष से निरंतर पाथेय जुटा रही थी जिसका परिणाम भी मिला। उसी दिन अर्थात् श्रावण शुक्ला दशमी गुरुवार सं. २०१३ दिनांक १६-८-१९५६ को मिट्टी की पवित्रता से श्वेत पाषाण की मूर्ति उभरने लगी। खुदाई में सावधानी आती गई। हर्षातिरेक में जन समूह भाव विह्वल हो गया। देवगण भी इस अद्‌भुत प्राप्ति को प्रमुदित मन मानों स्वयं दर्शन करने चले आये। मध्यान्ह के ११ बजकर ५५ मिनट हुए थे रिक्त आकश में मेघ माला उदित हुई। धारासार वर्षा से इन्द्र ने ही सर्वप्रथम प्रभु का अभिषेक किया। प्रतिमा प्राप्ति से जन समुदाय का मन तो पहिले ही भीग चुका था अब तन भी भीग गया। प्रतिमा पर अंकित लेख भी क्रमश: स्पष्ट होने लगा। जिसे पढ़कर स्पष्ट हुआ कि यह प्रतिमा सम्वत् १५५४ की है। जैनागम में निर्दिष्ट चन्द्र के चिन्ह से ज्ञात हुआ कि यह जिन बिम्ब जैन आम्नाय के अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ स्वामी का है। लगभग एक फुट तीन इंच ऊँची श्वेत पाषाण की यह प्रतिमा पद्‌मासन मुद्रा में थी। प्रभु की वीतरागी गंभीरता मानों जन जन को त्याग और संयम का उपदेश देने के लिये स्वयं प्रस्तुत हो गई थी। प्रतिमा पर अंकित लेख इस प्रकार है।

"सं. १५५४ वर्षे बैसाख सुदी ३ श्री काष्ठासंघ, पुष्करमठो भ. श्री मलय कीर्ति देवा, तत्पट्टे भ. श्री गुण भद्र देव तदाम्नाये गोयल गोत्रे सं. मंकणसी भार्या होलाही पुत्र तोला भा. तरी पुत्र ३ गजाधरू जिनदत्त तिलोक चन्द एतेषां मध्ये सं. तोला तेन इदम् चन्द्रप्रभं प्रति वापितम।"

प्रतिमा की प्राप्ति ने नगर में मानो जान फूंक दी। भूगर्भ से जिन बिम्ब की प्राप्ति का उल्लास बिखर पड़ा। तत्काल टीन का अस्थायी सा मंडप बनाकर प्रभु को काष्ठ सिंहासन पर विराजमान किया गया। श्वेत उज्जवल रश्मि ने अंधकार में नया आलोक भर दिया।

मंदिर निर्माण की भावना

श्वेत पाषाण प्रतिमा जी के प्रकट होने के पश्चात् उनके पूजा स्थान के क्रम में विभिन्न विचार धारायें सामने आने लगी। नवीनता के समर्थक युवकों का विचार था कि प्रतिमा जी को कस्बे के पुराने जिन मंदिर में विराजमान कर दिया जावे; क्योंकि वर्तमान दौर में नवीन पूजा गृहों की निर्मिति कराने की अपेक्षा पारंपरित मंदिरों का संरक्षण अधिक आवश्यक है। उनका कहना था कि बदलती हुई परिस्थितियों

में नये सिरे से मंदिर के निर्माण की अपेक्षा शिक्षा, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में प्रयास करने की अधिक आवश्यकता है। पूजा गृहों के निर्माण से पूर्व पूजकों में आस्था बनाये रखने के लिऐ जैन शिक्षण संस्थानों की स्थापना ज्यादा उपयोगी व युग सापेक्ष्य होगी। लेकिन कुछ भाइयों का विचार था कि इसी स्थान पर मंदिर बनवाया जावे जहां प्रतिमा प्रकट हुई है। दोनों प्रकार की विचार धारायें किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंच पा रही थी। असमंजस की सी स्थिति थी कि प्रतिमा जी की रक्षक दैवी शक्तियों ने चमत्कार दिखाना आरम्भ कर दिया।

पुणयोदय से चमत्कार

प्रतिमा प्रकट होने के दो तीन दिन पश्चात् ही एक अजैन महिला ने भगवान के दरबार में सिर घुमाना शुरु कर दिया। बाल खोले, सिर घुमाती यह महिला निरंतर देहरे वाले बाबा की जय घोष कर रही थी। व्यंतर बाधा से पीड़ित यह महिला इससे पूर्व जिन बिम्ब के प्रति आस्था शील भी न रही थी; किन्तु धर्म की रेखा जाति आदि से न जुड़कर मानव मात्र के कल्याण से जुड़ी हुई है। जिसमें प्राणी मात्र का संकट दूर करने की भावना है। बाबा चन्द्रप्रभ स्वामी के दरबार में महिला के मानस को आक्रान्त करने वाली उस प्रेत छाया (व्यंतर) ने अपना पूरा परिचय दिया और बतलाया कि वह किस प्रकार उसके साथ लगी, और क्या क्या कष्ट दिये। अन्त में तीन दिन पश्चात् क्षेत्र के महातिशय के प्रभाव से व्यंतर ने सदा के लिये रोगी को अपने चंगुल से मुक्त किया, और स्वयं भी प्रभु के चरणों में शेष काल व्यतीत करने की प्रतिज्ञा की। भूत प्रेत से सम्बन्धित यह घटना मानसिक विक्षिप्तता कहकर संदेह की दृष्टि से देखी जा सकती थी; किन्तु ऐसे रोगियों का आना धीरे-धीरे बढ़ता गया, तो विक्षिप्तता न मानकर प्रेत शक्ति की स्थिति स्वीकारने को मस्तिष्क प्रस्तुत हो गया। वैसे भी जैनागम व्यंतर देवों की अवस्थिति स्वीकार करता है। वर्तमान में विज्ञान भी मनुष्य मन को आक्रान्त करने वाली परा शक्तियों की स्थिति स्वीकार कर चुका है।

क्षेत्र पर रोगियों की बढ़ती संख्या और उनकी आस्था से निष्पन्न आध्यात्मिक चिकित्सा ने इसी स्थल पर मंदिर बनवाने की भावना को शक्ति दी। क्षेत्र की अतिशयता व्यंतर बाधाओं के निवारण के अतिरिक्त अन्य बाधाओं की फलदायिका भी बनी। श्रृद्धालु एवं अटूट विश्वास धारियों की विविध मनोकामनाएं पूर्ण होने लगीं। इन चमत्कारों ने जनता की नूतन मंदिर निर्माण की आकांक्षा को पुंजीभूत किया। फलत: २६-८-१९५६ को तिजारा दिगम्बर जैन समाज की आम सभा में सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि इसी स्थान पर मंदिर का नव निर्माण कराया जावे। मंदिर निर्माण हेतु जैन समाज ने द्रव्य संग्रह किया और मंदिर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ।

मंदिर निर्माण

वर्तमान में जहां दोहरा मंदिर स्थित है इस भूमि पर कस्टोडियन विभाग का अधिकार था। बिना भूमि की प्राप्ति के मंदिर निर्माण होना असम्भव था। समाज की इच्छा थी कि अन्यत्र नया मंदिर बनाने की बजाय प्रतिमा के प्रकट स्थान पर ही मंदिर निर्माण उचित होगा अत: इसकी प्राप्ति के लिये काफी

प्रयत्न किये गये। अन्ततः श्री हुकमचन्द जी लुहाड़िया अजमेर वालों ने कस्टोडियन विभाग में अपेक्षित राशि जमा कराकर अपने सद् प्रयत्नों से १२००० वर्ग गज भूमि मंदिर के लिये प्रदान की।

भूमि की प्राप्ति के पश्चात् मंदिर भवन के शिलान्यास हेतु शुभ मुहुर्त निकलवाया गया। मंदिर शिलान्यास के उपलक्ष्य में त्रिदिवसीय रथयात्रा का विशाल आयोजन २३ से २५ नवम्बर १९६१ को किया गया था। भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी की अतिशय चमत्कारी प्रतिमा की प्राप्ति के बाद यह पहला बड़ा आयोजन किया गया। दिनांक २४ नवम्बर १९६१ मध्यान्ह के समय शिलान्यास का कार्य पूज्य भट्टारक श्री देवेन्द्र कीर्ति जी गढ़ी नागौर के सान्निध्य में दिल्ली निवासी रायसाहब बाबू उल्फत राय जैन के द्वारा सम्पन्न हुआ।

मंदिर का उभरता स्वरूप

नव मंदिर शिलान्यास के साथ ही मंदिर निर्माण का कार्य शुरु हो गया। दानी महानुभावों के निरंतर सहयोग से सपाट जमीन पर मंदिर का स्वरूप उभरने लगा। मूल नायक चन्द्रप्रभ स्वामी की प्रतिमा को विराजित करने के लिए मुख्य वेदी के निर्माण के साथ दोनों पार्श्वों में दो अन्य कक्षों का निर्माण कराया गया। शनैः शनैः निर्माण पूरा होने लगा। २२ वर्ष के दीर्घ अन्तराल में अनेक उतार चढ़ावों के बावजूद नव निर्मित मंदिर का कार्य पूर्णता पाने लगा। मुख्य वेदी पर ५२ फुट ऊंचे शिखर का निर्माण किया गया। मंदिर के स्थापत्य को संवारने में शिल्पी धनजी भाई गुजरात वालों ने कहीं मेहरावदार दरवाजा बनाया तो कहीं प्राचीन स्थापत्य की रक्षा करते हुए वैदिक शैली का इस्तेमाल किया। शिखर में भी गुम्बद के स्थान पर अष्ट भुजी रूप को महत्ता दी। मंदिर की विशालता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि इसका निर्मांग लगभग दो करोड़ रुपयों में सम्पन्न हो सका। मंदिर निर्माण में मुख्य रूप से श्वेत संगमरमर प्रयोग में लाया गया। साथ ही कांच की पच्चीकारी एवं स्वर्ण चित्रकारी से भी समृद्ध किया गया।

पंच कल्याणक एवं वेदी प्रतिष्ठा

मन्दिर निर्माण का कार्य परिपूर्ण हो जाने के उपरान्त वेदियों में भगवान को प्रतिष्ठित करने की उत्सुकता जागृत होना स्वाभाविक था। संकल्प ने मूर्त्तरूप लिया। १६ से २० मार्च १९८३ तक पाँच दिन का पंचकल्याणक महोत्सव करा भगवान को वेदियों में विराजमान करा दिया गया। इस महोत्सव में भारत के महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह जी भी सम्मिलित हुए। उन्होंने क्षेत्र के विविध आयामी कार्यक्रमों का अवलोकन किया और अपने सम्बोधन में जैन समाज के प्रयासों की सराहना की। आचार्य शान्ति सागर जी महाराज के सान्निध्य में यह उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

मान-स्तम्भ में इस अवसर पर मूर्तियों की प्रतिष्ठा टाल दी गई थी; क्योंकि उसका निर्माण क्षेत्र की गरिमा और लोगों की आकांक्षाओं के अनुरुप नहीं हो पाया था। अतः उसका पुनर्निर्माण कराया गया। क्षेत्र का सितारा निरन्तर उत्कर्ष पर रहा। अब यह सम्भव ही नहीं था कि मूर्ति प्रतिष्ठा साधारण रूप से कराई जावे। अतः १६ से २० फरवरी ९७ को पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का विशाल आयोजन करने का समाज द्वारा निर्णय किया गया। यह महोत्सव शाकाहार प्रचारक उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज

के (ससंघ) सान्निध्य में हुआ। अत: सप्ताहान्त तक सभा और सम्मेलनों की रात दिन झड़ी लगी रही। एक ओर विद्वत् परिषद सम्मेलन चल रहा था तो दूसरी ओर साहू अशोक कुमार जैन की अध्यक्षता में श्रावक और तीर्थ क्षेत्र कमेटी की सभाओं में विचार विमर्श चल रहा था। कभी व्यसन मुक्ति आन्दोलन को हवा दी जा रही है तो कभी शाकाहार सम्मेलन में भारतीय स्तर के बुद्धिजीवी और प्रखर वक्ता उसके महत्व को जनमानस में ठोक कर बिठाने में लगे थे। इस तरह हर्षोल्लास से २०-२-९७ को मान-स्तम्भ में मूर्तियों की स्थापना के साथ समाज ने अपने एक लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। भगवान चन्द्रप्रभ और 'देहरे वाले बाबा' की जयघोष के साथ उत्सव सम्पन्न हुआ। तीर्थ क्षेत्र कमेटी इस क्षेत्र की सर्वांगीण प्रगति के लिए निरन्तर प्रयासरत है।

–तुलाराम जैन
अध्यक्ष, श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर
जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा–तिजारा (अलवर)

卐 अपनी बात 卐

जीवन में परिस्थितिजन्य अनुकूलता-प्रतिकूलता तो चलती ही रहती है परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियों में भी उनका अधिकाधिक सदुपयोग कर लेना विशिष्ट प्रतिभाओं की ही विशेषता है। **'तिलोयपण्णत्ती'** के प्रस्तुत संस्करण को अपने वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने वाली विदुषी आर्यिका पूज्य १०५ श्री विशुद्धमती माताजी भी उन्हीं प्रतिभाओं में से एक हैं। जून १९८१ में सीढ़ियों से गिर जाने के कारण आपको उदयपुर में ठहरना पड़ा और तभी ति० प० की टीका का काम प्रारम्भ हुआ। काम सहज नहीं था परन्तु बुद्धि और श्रम मिलकर क्या नहीं कर सकते। साधन और सहयोग संकेत मिलते ही जुटने लगे। अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ तथा उनकी फोटोस्टेट कॉपियाँ मंगवाने की व्यवस्था की गई। कन्नड़ की प्राचीन प्रतियों को भी पाठभेद व लिप्यन्तरण के माध्यम से प्राप्त किया गया। 'सेठी ट्रस्ट, गुवाहाटी' से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ और महासभा ने इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व वहन किया। डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी ने सम्पादन का गुरुतर भार संभाला और अनेक रूपों में उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। यह सब पूज्य माताजी के पुरुषार्थ का ही सुपरिणाम है। पूज्य माताजी 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार विशुद्ध मति को धारण करने वाली हैं तभी तो गणित के इस जटिल ग्रंथ का प्रस्तुत सरल रूप हमें प्राप्त हो सका है।

पाँवों में चोट लगने के बाद से पूज्य माताजी प्रायः स्वस्थ नहीं रहती तथापि अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग प्रवृत्ति से कभी विरत नहीं होती। सतत परिश्रम करते रहना आपकी अनुपम विशेषता है। आज से १५ वर्ष पूर्व मैं माताजी के सम्पर्क में आया था और यह मेरा सौभाग्य है कि तबसे मुझे पूज्य माताजी का अनवरत सान्निध्य प्राप्त रहा है। माताजी की श्रमशीलता का अनुमान मुझ जैसा कोई उनके निकट रहने वाला व्यक्ति ही कर सकता है। आज उपलब्ध सभी साधनों के वावजूद माताजी सम्पूर्ण लेखनकार्य स्वयं अपने हाथ से ही करती हैं—न कभी एक अक्षर टाइप करवाती हैं और न किसी से लिखवाती हैं। सम्पूर्ण संशोधन-परिष्कारों को भी फिर हाथ से ही लिखकर संयुक्त करती हैं। मैं प्रायः सोचा करता हूँ कि धन्य हैं ये, जो (आहार में) इतना अल्प लेकर भी कितना अधिक दे रही हैं। इनकी यह देन चिरकाल तक समाज को समुपलब्ध रहेगी।

मैं एक अल्पज्ञ श्रावक हूँ। अधिक पढ़ा-लिखा भी नहीं हूँ किन्तु पूर्व पुण्योदय से जो मुझे यह पवित्र समागम प्राप्त हुआ है. इसे मैं साक्षात् सरस्वती का ही समागम समझता हूँ। जिन ग्रन्थों के नाम भी मैंने कभी नहीं सुने थे उनकी सेवा का सुअवसर मुझे पूज्य माताजी के माध्यम से प्राप्त हो रहा है, यह मेरे महान् पुण्य का फल तो है ही किन्तु इसमें आपका अनुग्रहपूर्ण वात्सल्य भी कम नहीं।

जैसे काष्ठ में लगी लोहे की कील स्वयं भी तर जाती है और दूसरों को भी तरने में सहायक होती है, उसी प्रकार सतत ज्ञानाराधना में संलग्न पूज्य माताजी भी मेरी दृष्टि में तरण-तारण हैं। आपके सान्निध्य से मैं भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय का सामर्थ्य प्राप्त करूँ, यही भावना है।

मैं पूज्य माताजी के स्वस्थ एवं दीर्घजीवन की कामना करता हूँ।

विनीत :
ब्र० कजोड़ीमल कामदार, संघस्थ

* पुरोवाक् *

श्री यतिवृषभाचार्य द्वारा विरचित **'तिलोयपण्णत्ती'** ग्रन्थ जैन वाङ्मय के अन्तर्गत करणानुयोग का प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें लोक-प्ररूपणा के साथ अनेक प्रमेयों का दिग्दर्शन उपलब्ध है। राजवार्तिक, हरिवंशपुराण, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा सिद्धान्तसारदीपक आदि ग्रन्थों का यह मूल स्रोत कहा जाता है। इसका पहली बार प्रकाशन **डॉ० हीरालाल जी व डॉ० ए०एन० उपाध्ये** के सम्पादकत्व में **पं० बालचन्द्र जी शास्त्री** कृत हिन्दी अनुवाद के साथ **जीवराज ग्रन्थमाला** सोलापुर से हुआ था, जो अब अप्राप्य है। इस संस्करण में गणित सम्बन्धी कुछ संदर्भ अस्पष्ट रह गये थे जिन्हें इस संस्करण में **टीकाकर्त्री श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमती जी** ने अनेक प्राचीन प्रतियों के आधार पर स्पष्ट किया है।

त्रिलोकसार तथा **सिद्धान्तसारदीपक** की टीका करने के पश्चात् आपने **'तिलोयपण्णत्ती'** को प्राचीन प्रतियों के आधार से संशोधित कर हिन्दी अनुवाद से युक्त किया है तथा प्रसङ्गानुसार आगत अनेक आकृतियों, संदृष्टियों एवं विशेषार्थों से अलंकृत किया है, यह प्रसन्नता की बात है।

तीन खण्डों में यह ग्रन्थ क्रमशः १९८४, १९८६ और १९८८ में प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत प्रकाशन प्रथमखण्ड का द्वितीय संस्करण है जो संशोधित एवं यत्किंचित् परिवर्धित है। पूज्य माताजी **श्री विशुद्धमती जी** अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग वाली आर्यिका हैं। इनका समग्र समय स्वाध्याय और तत्त्व-चिन्तन में व्यतीत होता है। तपश्चरण के प्रभाव से इनके क्षयोपशम में आश्चर्यकारक वृद्धि हुई है। इसी क्षयोपशम के कारण आप इन गहन ग्रन्थों की टीका करने में सक्षम हो सकी हैं।

डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी ने ग्रन्थ का सम्पादन बहुत परिश्रम से किया है तथा प्रस्तावना में सम्बद्ध समस्त विषयों की पर्याप्त जानकारी दी है। गणित के प्रसिद्ध विद्वान् **प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जी** ने **'तिलोयपण्णत्ती और उसका गणित'** शीर्षक अपने लेख में गणित की विविध धाराओं को स्पष्ट किया है। माताजी ने अपने 'आद्यमिताक्षर' में ग्रन्थ के उपोद्घात का पूर्ण विवरण दिया है। **भारतवर्षीय दि० जैन महासभा** के उत्साही-कर्मठ **अध्यक्ष श्री निर्मलकुमारजी सेठी** ने महासभा के प्रकाशन विभाग द्वारा इस महान् ग्रन्थ का प्रकाशन कर प्रकाशनविभाग को गौरवान्वित किया है।

ग्रन्थ के सम्पादक **डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी**, दिवंगत पूज्य **मुनिराज श्री १०८ समतासागर जी** के सुपुत्र हैं तथा उन्हें पैतृक सम्पत्ति के रूप में अपार समता तथा श्रुताराधना की अपूर्व अभिरुचि (लगन) प्राप्त हुई है। टीकाकर्त्री माताजी प्रारम्भ में भले ही मेरी शिष्या रही हों पर अब तो मैं उनमें अपने आपको पढ़ा देने की क्षमता देख रहा हूँ।

टीकाकर्त्री माताजी और सम्पादक डॉ. चेतनप्रकाश जी पाटनी के स्वस्थ दीर्घजीवन की कामना करता हुआ अपना पुरोवाक् समाप्त करता हूँ।

विनीत :
पन्नालाल साहित्याचार्य

तीन लोक रचना

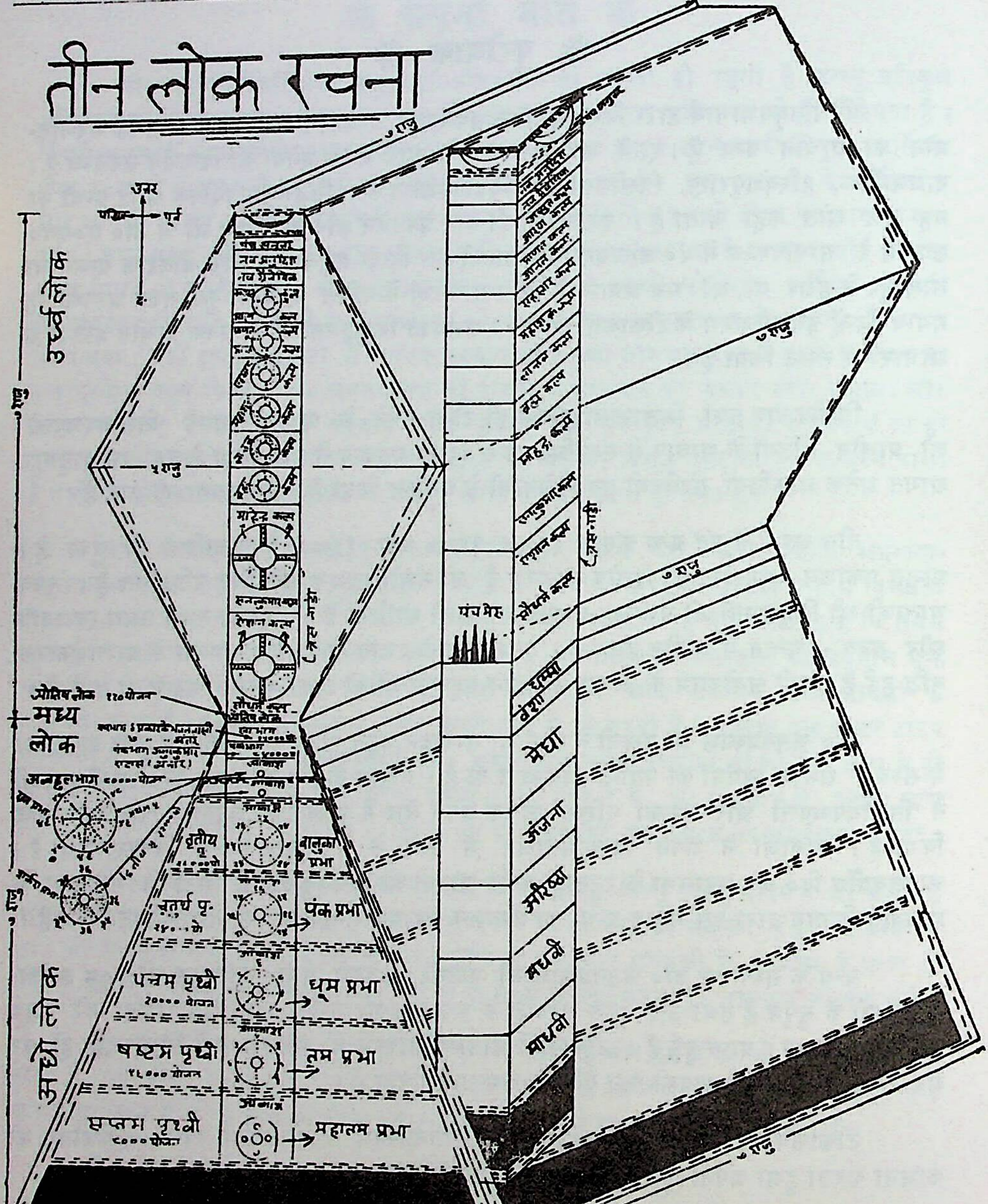
७ राजु
उत्तर
पश्चिम
पूर्व
द.
ऊर्ध्व लोक
७ राजु
५ राजु
मध्य लोक
अधो लोक
पंच अनुत्तर
नव अनुदिश
नव ग्रैवेयिक
माहेन्द्र कल्प
सनत्कुमार कल्प
ऐशान कल्प
सौधर्म कल्प
ज्योतिष लोक
त्रस नाड़ी
ज्योतिष लोक ११० योजन
खरभाग १६०००
पंकभाग ८४०००
अब्बहुल भाग ८०००० योजन
आकाश
तृतीय पृ.
बालुका प्रभा
चतुर्थ पृ.
२४००० यो
पंक प्रभा
पञ्चम पृथ्वी
२०००० योजन
धूम प्रभा
षष्टम पृथ्वी
१६,००० योजन
तम प्रभा
सप्तम पृथ्वी
८००० योजन
महातम प्रभा
७ राजु
नव अनुदिश
नव ग्रैवेयिक
अच्युत कल्प
आरण कल्प
प्राणत कल्प
आनत कल्प
सहस्रार कल्प
महाशुक्र कल्प
लान्तव कल्प
ब्रह्म कल्प
माहेन्द्र कल्प
सनत्कुमार कल्प
ऐशान कल्प
सौधर्म कल्प
त्रस नाड़ी
पंच मेरु
धम्मा
वंशा
मेघा
अंजना
अरिष्टा
मघवी
माघवी
७ राजु
७ राजु
१ राजु

आद्यमिताक्षर

(प्रथम संस्करण)

जैनधर्म सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रपरक धर्म है। इस धर्म के प्रणेता अरहंतदेव हैं जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। इनकी दिव्य वाणी से प्रवाहित तत्त्वों की संज्ञा आगम है। इन्हीं समीचीन तत्त्वों के स्वरूप का प्रसार-प्रचार एवं आचरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सच्चे गुरु हैं।

वर्तमान में जितना भी आगम उपलब्ध है, वह सब हमारे निर्ग्रन्थ गुरुओं की अनुकम्पा एवं धर्म वात्सल्य का ही फल है। यह आगम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के नाम से चार भेदों में विभाजित है।

'त्रिलोकसार' ग्रन्थ के संस्कृतटीकाकार **श्रीमन्माधवचन्द्राचार्य त्रैविद्यदेव** ने करणानुयोग के विषय में कहा है कि—**"तदर्थ-ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न-पापवर्ज्य-भीरुगुरु-पर्वक्रमेणाव्युच्छिन्नतया प्रवर्तमानाविनष्ट-सूत्रार्थत्वेन केवलज्ञान-समानं करणानुयोग-नामानं परमागमं**………………।" अर्थात् जिस अर्थ का निरूपण श्री वीतराग सर्वज्ञ वर्धमान स्वामी ने किया था, उसी अर्थ के विद्यमान रहने से वह करणानुयोग परमागम केवलज्ञान के समान है।

आचार्य यतिवृषभ ने भी **तिलोयपण्णत्ती** के प्रथमाधिकार की गाथा ८६-८७ में कहा है कि—**"पवाह-रूवत्तणेण………आइरियअणुक्कमाआदं तिलोयपण्णत्ति अहं वोच्छामि**……" अर्थात् आचार्य-परम्परा से प्रवाह रूप में आये हुए 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' शास्त्र को मैं कहता हूँ। इसी प्रकार प्रथमाधिकार की गाथा १४८ में भी कहा है कि—**"भणामो णिस्संदं दिट्ठिवादादो"** अर्थात् मैं वैसा ही वर्णन करता हूँ, जैसा कि दृष्टिवाद अंग से निकला है।

आचार्यों की इस वाणी से ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध है।

बीजारोपण—सन् १९७२ सं० २०२९ आसौज कृ० १३ गुरुवार को अजमेर नगर-स्थित छोटे धड़े की नसियाँ में त्रिलोकसार ग्रन्थ की टीका प्रारम्भ होकर सं० २०३० ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी शुक्रवार को जयपुर खानियाँ में पूर्ण हो चुकी थी। ग्रन्थ का विमोचन भी सन् १९७४ में हो चुका था। पश्चात् सन् १९७५ के जून माह में परम पूज्य परमोपकारी शिक्षागुरु आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी एवं परम पूज्य श्रद्धेय विद्यागुरु १०८ श्री अजितसागर महाराज जी के सान्निध्य में

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थराज का स्वाध्याय प्रारम्भ किया. किन्तु १५० गाथाओं के बाद जगह-जगह शंकाएँ उत्पन्न होने लगीं तथा उनका समाधान न होने के कारण स्वाध्याय में नीरसता आ गयी। फलस्वरूप, आत्मा में निरन्तर यही खरोंच लगती रहती कि 'त्रिलोकसार' जैसे ग्रन्थ की टीका करने के बाद 'तिलोयपण्णत्ती' का प्रमेय ज्ञेय नहीं बन पा रहा.......।

उसी वर्ष (सन् १९७५ में) सवाईमाधोपुर में ससंघ वर्षायोग चल रहा था। करणानुयोग के प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धान्तभूषण **पं० रतनचन्दजी मुख्तार,** सहारनपुर वाले **सिद्धान्तसार दीपक** की पाण्डुलिपि देखने हेतु आये। हृदयस्थित शल्य की चर्चा पण्डितजी से की। आपने प्रथमाधिकार की गाथा सं० १४०, १४५-४७, १६३, १६८, १६९. १७८-७९, १८०, १८१, १८४ से १९१, १९६-९७, २०० से २१२. २१४ से २३४, २३८ से २६६ तक का विषय स्पष्ट कर समझा दिया जिसे मैंने व्यवस्थित कर आकृतियों सहित नोट कर लिया। इसके पश्चात् सन् १९८१ तक इसकी कोई चर्चा नहीं उठी। कभी-कभी मन में अवश्य यह बात उठती रहती कि यदि ये ८३ गाथाएँ प्रकाशित हो जायें तो स्वाध्यायप्रेमियों को प्रचुर लाभ हो सकता है। यह बात सन् १९७७ में जीवराज ग्रन्थमाला को भी लिखवायी थी कि यदि आप 'तिलोयपण्णत्ती' का पुनः प्रकाशन करावें तो प्रथमाधिकार की कुछ गाथाओं का गणित हम उसमें देना चाहते हैं।

अंकुरारोपण—श्रीमान् धर्मनिष्ठ मोहनलालजी शान्तिलालजी भोजन ने उदयपुर में स्वद्रव्य से श्री महावीर जिनमन्दिर का निर्माण कराया। उसकी प्रतिष्ठा हेतु वे मुझे उदयपुर लाये। सन् १९८१ में प्रतिष्ठाकार्य विशाल संघ के सान्निध्य में सानन्द सम्पन्न हुआ। पश्चात् वर्षायोग के लिए अन्यत्र विहार होने वाला था किन्तु अनायास सीढ़ियों से गिर जाने के कारण दोनों पैरों की हड्डियों में खराबी हो गयी और चातुर्मास ससंघ उदयपुर ही हुआ। एक दिन **तिलोयपण्णत्ती** की पुरानी फाइल अनायास हाथ में आ गयी। उन गाथाओं को देखकर विकल्प उठा कि जैसे अचानक पैर पंगु हो गये हैं, उसी प्रकार एक दिन ये प्राणपखेरू उड़ जायेंगे और यह फाइल बन्द ही पड़ी रहेगी। अतः इन गाथाओं सहित प्रथमाधिकार के गणित का कुछ विशेष खुलासा कर प्रकाशित करा देना चाहिए। उसी समय श्रीमान् पं०पन्नालालजी को सागर पत्र दिलवाया। श्री पण्डित सा०का प्रेरणाप्रद उत्तर आया कि आपको पूरे ग्रन्थ की टीका करनी है। श्री धर्मचन्द्रजी शास्त्री भी पीछे पड़ गये। इसी बीच श्री निर्मलकुमारजी सेठी संघ के दर्शनार्थ यहाँ आये। आप से मेरा परिचय प्रथम ही था। दो-ढाई घण्टे अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ हुई। इसी बीच आपने कहा कि "इस समय आपका लेखन-कार्य क्या चल रहा है?" मैंने कहा, "लेखनकार्य प्रारम्भ करने की प्रेरणा बहुत प्राप्त हो रही है किन्तु कार्य प्रारम्भ करने का भाव नहीं है।" कारण पूछे जाने पर मैंने कहा कि "ग्रन्थ-लेखनादि के कार्यों में संलग्न रहना साधु का परम कर्तव्य है, किन्तु उसकी व्यवस्था आदि के व्यय की जो आकुलता एवं

याचना आदि की प्रवृत्ति होती है, उसे देखते हुए तो शास्त्र नहीं लिखना ही सर्वोत्तम है। यथार्थ में इस प्रक्रिया से साधु को बहुत दोष लगता है।" यह बात ध्यान में आते ही आपने तुरन्त आश्वासन दिया कि "आप टीका का कार्य प्रारम्भ कीजिए, लेखनकार्य के सिवा आपको अन्य किसी प्रकार की चिन्ता करने का अवसर प्राप्त नहीं होगा।"

इसी बीच परम पूज्य प्रातःस्मरणीय १०८ श्री सन्मतिसागर महाराज जी ने यम-सल्लेखना धारण कर ली। वे क्रमशः आहार का त्याग करते हुए मात्र जल पर आ चुके थे। शरीर की स्थिति अत्यन्त कमजोर हो चुकी थी। मेरे मन में अनायास ही भाव जागृत हुए कि यदि तिलोयपण्णत्ती की टीका करनी ही है तो पूज्य महाराजश्री से आशीर्वाद लेकर आपके जीवन-काल में ही कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। किन्तु दूसरी ओर आगम की आज्ञा सामने थी कि "यदि संघ में कोई भी साधु समाधिस्थ हो तो सिद्धान्त-ग्रन्थों का पठन-पाठन एवं लेखनादि-कार्य नहीं करना चाहिए"। इस प्रकार के द्वन्द्व में झूलता हुआ मेरा मन महाराजश्री से आशीर्वाद लेने वाले लोभ का संवरण नहीं कर सका और सं० २०३८ मार्गशीर्ष कृष्णा ११, रविवार को हस्त नक्षत्र के उदित रहते ग्रन्थ प्रारम्भ करने का निश्चय किया तथा प्रातःकाल जाकर महाराजश्री से आशीर्वाद की याचना की। उस समय महाराजश्री का शरीर बहुत कमजोर हो चुका था। जीवन केवल तीन दिन का अवशेष था, फिर भी धन्य है आपका साहस और धैर्य। आप तुरन्त उठ कर बैठ गये. उस समय मुखारविन्द से प्रफुल्लता टपक रही थी, हृदय वात्सल्य रस से उछल रहा था, वाणी से अमृत झर रहा था, उस अनुपम पुण्य-वेला में आपने क्या-क्या दिया और मैंने क्या लिया, यह लिखा नहीं जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि यदि वह समय मैं क जाती तो इतने उदारतापूर्ण आशीर्वाद से जीवनपर्यन्त वञ्चित रह जाती, तब शायद यह ग्रन्थ हो भी नहीं पाता। पश्चात् विद्यागुरु १०८ श्री अजितसागर महाराज जी से आशीर्वाद लेकर हूमड़ों के नोहरे में भगवान् जिनेन्द्रदेव के समीप बैठकर ग्रन्थ का शुभारम्भ किया।

उस समय धन लग्न का उदय था। लाभ भवन का स्वामी शुक्र लग्न में और लग्नेश गुरु तथा कार्येश बुध लाभ भवन में बैठकर विद्या भवन को पूर्णरूपेण देख रहे थे। गुरु पराक्रम और सप्तम भवन को पूर्ण देख रहा था। कन्या राशिस्थ शनि और चन्द्र दशम में, मंगल नवम में और सूर्य अष्टम भवन में स्थित थे। इस प्रकार दि० २२-११-१९८१ को ग्रन्थ प्रारम्भ किया और २५-११-८१ बुधवार को णमोकार मन्त्र का उच्चारण करते हुए परमोपकारी महाराजश्री स्वर्ग पधार गये।

तुषारपात— दिनांक ९-१-८२ को प्रथमाधिकार पूर्ण हो चुका था किन्तु इसकी गाथा १३८, १४१-४२, २०८ और २१७ के विषयों का समुचित संदर्भ नहीं बैठा, गा० २३४ का प्रारम्भ तो 'तं' पद से हुआ था। अर्थात् इसको ३५ से गुणा करके ....। किस संख्या को ३५ से गुणित करना है यह

बात गाथा में स्पष्ट नहीं थी। दि० १६-२-८२ को दूसरा अधिकार पूर्ण हो गया किन्तु इसमें भी गाथा सं० ८५, ८६, ६५, १६५, २०२ और २८८ की संदृष्टियों का भाव समझ में नहीं आया, फिर भी कार्य प्रगति पर रहा और २०-३-८२ को तीसरा अधिकार भी पूर्ण हो गया, किन्तु इसमें भी गाथा २५, २६, २७ आदि का अर्थ पूर्णरूपेण बुद्धिगत नहीं हुआ।

इतना होते हुए भी कार्य चालू रहा क्योंकि प्रारम्भ में ही यह निर्णय ले लिया था कि पूर्व सम्पादकद्वय एवं हिन्दीकर्त्ता विद्वानों के अपूर्व श्रम के फल को सुरक्षित रखने के लिए ग्रन्थ का मात्र गणित भाग स्पष्ट करना है, अन्य किन्हीं विषयों को स्पर्श नहीं करना। इसी भावना के साथ चतुर्थाधिकार प्रारम्भ किया जिसमें गा० ५७ और ६४ तो प्रश्नचिह्न युक्त थीं ही किन्तु गणित की दृष्टि से गा० ६१ के बाद निश्चित ही एक गाथा छूटी हुई ज्ञात हुई। इसी बीच हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र करने की बहुत चेष्टा की किन्तु कहीं से भी सफलता प्राप्त नहीं हुई, तब यही भाव उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार अशुद्ध कृति लिखने से कोई लाभ नहीं। अन्ततोगत्वा, अनिश्चित समय के लिए टीका का कार्य बन्द कर दिया।

प्रगति का पुरुषार्थ—उत्तरभारत के प्रायः सभी प्रमुख शास्त्रभण्डारों से हस्तलिखित प्रतियों की याचना की; जिनमें मात्र श्री महावीरप्रसाद विशम्बरदासजी सर्राफ, चांदनी चौक दिल्ली, श्रीमान् कस्तूरचन्द्रजी काशलीवाल, जयपुर और श्री रतनलालजी सा० व्यवस्थापक श्री १००८ शान्तिनाथ दि० जैन खंडेलवाल पंचायती दीवान मन्दिर कामा (भरतपुर) के सौजन्य से (१+२+१=)चार प्रतियाँ प्राप्त हुईं। "आपकी प्रति यथासमय वापस भेज दी जायेगी" ऐसा शपथ स्वीकार कर लेने के बाद भी जब अन्य कहीं से सफलता नहीं मिली तब उज्जैन और ब्यावर की प्रतियों से केवल चतुर्थाधिकार की फोटोकॉपी करवायी गयी। इस प्रकार कुछ प्रतियाँ प्राप्त अवश्य हुई किन्तु वे सब मुद्रित प्रति के सदृश एक ही परम्परा की लिखी हुई थीं। यहाँ तक कि पूर्व सम्पादकों को प्राप्त हुई बम्बई की प्रति ही उज्जैन की प्रति है और इसी की प्रतिलिपि कामा की प्रति है, मात्र प्रतिलिपि के लेखनकाल में अन्तर है। इस कारण कुछ पाठ-भेदों के सिवा गाथाएँ आदि प्राप्त न होने से गणितादि की गुत्थियाँ ज्यों-की-त्यों उलझी ही रहीं।

उस समय परम पूज्य आचार्यवर्य १०८ विमलसागरजी महाराज और परम पूज्य १०८ श्री विद्यानन्द जी महाराज दक्षिण प्रान्त में ही विराज रहे थे। इन युगल गुरुराज को पत्र लिखे कि मूड़बिद्री के शास्त्रभण्डार से कन्नड़ की प्रति प्राप्त कराने की कृपा कीजिये। महाराजश्री ने तुरन्त श्री भट्टारकजी को पत्र लिखवा दिया और उदयपुर से भी श्रीमान् पं० प्यारेलालजी कोटड़िया ने पत्र दिया, जिसका उत्तर पं० देवकुमारजी शास्त्री (वीरवाणी भवन, मूड़बिद्री) ने दिनांक २१-४-१९८२

को दिया कि यहाँ तिलोयपण्णत्ती की दो ताड़पत्रीय प्राचीन प्रतियाँ मौजूद हैं। उनमें से एक प्रति मूलमात्र है और पूर्ण है। दूसरी प्रति में टीका भी है लेकिन उसमें अन्तिम भाग नहीं है, पर संख्या की संदृष्टियाँ वगैरह साफ हैं" इत्यादि। टीका की बात सुनते ही मन-मयूर नाच उठा। उसके लिए प्रयास भी बहुत किये किन्तु अन्त में ज्ञात हुआ कि टीका नहीं है।

इसी बीच (सन् १९८२ के मई या जून में) ज्ञानयोगी भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी (मूड़बिद्री) उदयपुर आये। चर्चा हुई और आपने प्रतिलिपि भेजने का विशेष आश्वासन भी दिया, किन्तु अन्त में वहाँ से चतुर्थाधिकार की गाथा सं० २२३८ पर्यन्त मात्र पाठभेद ही आये। साथ में सूचना प्राप्त हुई कि 'आगे के पत्र नहीं हैं'। एक अन्य प्रति की खोज की गयी जिससे चतुर्थाधिकार की गाथा सं० २५२७ से प्रारम्भ होकर पाँचवें अधिकार की गाथा सं० २८० तक के पाठभेद मिले (चौथा अधिकार भी पूरा नहीं हुआ, उसमें २८६ गाथाओं के पाठभेद नहीं आये)। दिनांक २५-२-८३ को सूचना प्राप्त हुई कि ग्रन्थ यहाँ तक आकर अधूरा रह गया है, अब आगे कोई पत्र नहीं है। इस सूचना ने हृदय को कितनी पीड़ा पहुँचायी, इसकी अभिव्यञ्जना कराने में यह जड़ लेखनी असमर्थ है।

संशोधन—मूड़बिद्री से प्राप्त पाठभेदों से पूर्व लिखित तीनों अधिकारों का संशोधन कर अर्थात् पाठभेदों के माध्यम से यथोचित परिवर्तन एवं परिवर्धन कर प्रेसकॉपी दिनांक १०-६-८३ को प्रेस में भेज दी और यह निर्णय ले लिया कि इन तीन अधिकारों का ही प्रकाशन होगा, क्योंकि पूरी गाथाओं के पाठभेद न आने के कारण चतुर्थाधिकार शुद्ध हो ही नहीं सकता।

यहाँ (उदयपुर) अशोकनगरस्थ समाधिस्थल पर श्री १००८ शान्तिनाथ जिनालय का निर्माण दि० जैन समाज की ओर से कराया गया था। पुण्ययोग से मन्दिरजी की प्रतिष्ठा हेतु कर्मयोगी भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी जैनबिद्री वाले मई मास १९८३ में यहाँ पधारे। ग्रन्थ के विषय में विशेष चर्चा हुई। आपने विश्वासपूर्वक आश्वासन दिया कि हमारे यहाँ एक ही प्रति है और पूर्ण है किन्तु अभी वहाँ कोई उभय भाषाविज्ञ विद्वान् नहीं है, जिसकी व्यवस्था मैं वहाँ पहुँचते ही करूँगा और ग्रन्थ का कार्य पूर्ण करने का प्रयास करूँगा।

आप कर्मनिष्ठ, सत्यभाषी, गम्भीर और शान्त प्रकृति के हैं। अपने वचनानुसार सितम्बर माह (१९८३) के प्रथम सप्ताह में ही आपने प्रथमाधिकार की लिप्यन्तरित गाथायें भिजवा दीं और तब से आज पर्यन्त यह कार्य अनवरत चालू है। गाथाएँ आने के तुरन्त बाद प्रेस से प्रेसकॉपी मंगाकर उन्हें पुनः संशोधित किया और इस टीका का मूलाधार इसी प्रति को बनाया। इस प्रकार जैनबिद्री से सं० १२६६ की प्राचीन कन्नड़प्रति की देवनागरी प्रतिलिपि प्राप्त हो जाने से और उसमें नवीन अनेक गाथाएँ, पाठभेद और शुद्ध संदृष्टियाँ आदि प्राप्त हो जाने से विषय एवं भाषा आदि में स्वयमेव परिवर्तन/परिवर्धन आदि हो गया, जिसके फलस्वरूप ग्रन्थ का नवीनीकरण जैसा ही हो गया है।

अन्तर्वेदना—हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करने में कितना संक्लेश और उनके पाठों एवं गाथाओं आदि का चयन करने में कितना श्रम हुआ है, इसका वेदन सम्पादक-समाज तो मेरे लिखे बिना ही अनुभव कर लेगी क्योंकि वह भुक्तभोगी है और अन्य भव्यजन लिख देने पर भी उसका अनुभव नहीं कर सकेंगे क्योंकि—"न हि वन्ध्या विजानाति पर-प्रसव-वेदनाम्।"

कार्यक्षेत्र--वीरप्रसविनी झीलों की नगरी उदयपुर अपने नगर-उपनगरों में स्थित लगभग पन्द्रह-सोलह जिनालयों से एवं देव-शास्त्र-गुरु भक्त और धर्म-निष्ठ समाज से गौरवान्वित है। नगर के मध्य मण्डी की नाल में स्थित १००८ श्री पार्श्वनाथ दि० जैन खण्डेलवाल मन्दिर इस ग्रन्थ का रचना-क्षेत्र रहा है। यह स्थान सभी साधन-सुविधाओं से युक्त है। यहीं बैठकर ग्रन्थ के तीन महाधिकार पूर्ण होकर प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं और चतुर्थ महाधिकार का ¾ कार्य पूर्ण हो चुका है।

सम्बल—इस भव्य जिनालय में स्थित भूगर्भ प्राप्त, श्याम वर्ण, खड्गासन, लगभग ३' उत्तुंग, अतिशयवान् अतिमनोज्ञ १००८ श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनेन्द्र की चरण-रज एवं हृदयस्थित आपकी अनुपम भक्ति, आगमनिष्ठा और परम पूज्य परम श्रद्धेय साधु परमेष्ठियों का शुभाशीर्वाद रूप वरद हस्त ही मेरा सबल सम्बल रहा है, क्योंकि जैसे लकड़ी के आधार बिना अन्धा व्यक्ति चल नहीं सकता वैसे ही देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति बिना मैं यह महान् कार्य नहीं कर सकती थी। ऐसे तारण-तरण देव, शास्त्र, गुरु को मेरा कोटिशः त्रिकाल नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु !! नमोऽस्तु !!!

आधार—प्रो० आदिनाथ उपाध्याय एवं प्रो० हीरालालजी द्वारा सम्पादित, पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा हिन्दी में अनूदित एवं **जीवराज ग्रन्थमाला से प्रकाशित तिलोयपण्णत्ती और जैनबिद्री स्थित जैनमठ की कन्नड़ प्रति से की हुई देवनागरी लिपि** ही इस ग्रन्थ की आधारशिला है। कार्य के प्रारम्भ में तो मूड़बिद्री की कन्नड़ प्रति के पाठभेदों का ही आधार था किन्तु यह प्रति अधूरी ही प्राप्त हुई।

यदि मुद्रित प्रति न होती तो मैं अल्पमति इसकी हिन्दी टीका कर ही नहीं सकती थी और यदि कन्नड़ प्रतियाँ प्राप्त न होतीं तो पाठों की शुद्धता, विषयों की सम्बद्धता तथा ग्रन्थ की प्रामाणिकता आदि अनेक विशेषतायें ग्रन्थ को प्राप्त नहीं हो सकती थीं।

सहयोग—नींव के पत्थर सदृश सर्वप्रथम सहयोग उदयपुर की उन भोली-भाली माताओं-बहिनों का है जो तीन वर्ष के दीर्घकाल से संयम और ज्ञानाराधन के कारणभूत आहारादि दान-प्रवृत्ति में वात्सल्यपूर्वक तत्पर रही हैं।

श्री ज्ञानयोगी भट्टारक चारुकीर्तिजी एवं पं० श्री देवकुमारजी शास्त्री, मूड़बिद्री तथा **श्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्तिजी एवं पं० श्री देवकुमारजी शास्त्री, जैनबिद्री** का प्रमुख सहयोग प्राप्त हुआ। प्राचीन कन्नड़ की देवनागरी लिपि देकर इस ग्रन्थ को शुद्ध बनाने का पूर्ण श्रेय आपको ही है।

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और यहाँ प्राकृत-भाषाविज्ञ **डॉ० कमलचन्द्रजी सोगाणी, डॉ० प्रेमसुमनजी जैन और डॉ० उदयचन्द्रजी जैन** उच्चकोटि के विद्वान् हैं। समय-समय पर आपके सुझाव आदि बराबर प्राप्त होते रहे हैं। प्रतियों के मिलान एवं पाठों के चयन आदि में **डॉ० उदयचन्द्रजी** का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है।

सम्पादक डॉ० श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी (जोधपुर) सौम्य मुद्रा, सरल हृदय, संयमित जीवन और समीचीन ज्ञानभण्डार के धनी हैं। सम्पादन-काय के अतिरिक्त समय-समय पर आपका बहुत सहयोग प्राप्त होता रहा है। आपकी कार्यक्षमता बहुत कुछ अंशों में श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार के रिक्त स्थान की पूर्ति में सक्षम सिद्ध हुई है।

पूर्व अवस्था के विद्यागुरु, अनेक ग्रन्थों के टीकाकार, सरल प्रकृति, सौम्याकृति, अपूर्व विद्वत्ता से परिपूर्ण, विद्वच्छिरोमणि वयोवृद्ध **पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य** की सत्प्रेरणा मुझे निरन्तर मिलती रही है और भविष्य में भी दीर्घकाल पर्यन्त मिलती रहे, ऐसी भावना है।

श्रीमान् उदारचेता दानशील **श्री निर्मलकुमारजी सेठी** इस ज्ञानयज्ञ के प्रमुख यजमान हैं। वे धर्मकार्यों में इसी प्रकार अग्रसर रह कर धर्मोद्योत करने में निरन्तर प्रयत्नशील बने रहें।

श्रीमान् कजोड़ीमलजी कामदार, श्री विमलप्रकाशजी ड्राफ्ट्समेन अजमेर, **श्री रमेशचन्द्रजी मेहता, उदयपुर और मुनिभक्त दि० जैन समाज उदयपुर** का पूर्ण सहयोग प्राप्त होने से ही आज यह ग्रन्थ नवीन परिधान में प्रकाशित हो पाया है।

आशीर्वाद—इस सम्यग्ज्ञान रूपी महायज्ञ में तन, मन एवं धन आदि से जिन-जिन भव्य जीवों ने किञ्चित् भी सहयोग दिया है, वे सब परम्परया शीघ्र ही विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करें। यही मेरा आशीर्वाद है।

अन्तिम—मुझे प्राकृत भाषा का किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है। बुद्धि अल्प होने से विषयज्ञान भी न्यूनतम है। स्मरण-शक्ति और शारीरिक शक्ति क्षीण होती जा रही है। इस कारण स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ एवं गणित आदि की भूल हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि –**'को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे'**। अतः परम पूज्य गुरुजनों से इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। विद्वज्जन ग्रन्थ को शुद्ध करके ही अर्थ ग्रहण करें। इत्यलम्। भद्रं भूयात्।

सं० २०४०
बसन्त पंचमी

—आर्यिका विशुद्धमती
दिनांक ७-२-१९८४

द्वितीय संस्करण

तिलोयपण्णत्ती करणानुयोग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें तीन लोक का और त्रेशठशलाका महापुरुषों का परिचयात्मक प्रतिपादन किया गया है। सन् १९८४, १९८६ और १९८८ में क्रमशः इसके तीनों भाग प्रकाशित हो चुके थे। सन् १९८४ में प्रकाशित हुए इस प्रथम भाग की ४८० प्रतियाँ प्रेस से उठाकर व्यवस्थापकजी (जो उस समय इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर रहे थे) ने कहीं सुरक्षित रख दी थीं। इन ८ वर्षों में अनेक महापुरुषों ने अनेक पुरुषार्थ कर लिये किन्तु वे प्रतियाँ सुरक्षागृह से बाहर न आ सकीं। प्रथम भाग के बिना द्वितीय और तृतीय भाग की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लग गया, अतः प्रथम भाग का यह दूसरा संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है।

"जो होता अच्छे के लिए" इस नीति के अनुसार इस भाग का यह पुनर्मुद्रण अनेक दृष्टियों से उत्तम ही रहा, क्योंकि जब सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का कार्य हाथ में लिया था, उस समय यही भाव था कि पूर्व सम्पादकद्वय (प्रो० हीरालालजी जैन एवं प्रो० ए. एन. उपाध्ये) एवं हिन्दी अनुवादकर्त्ता पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री के अथक और श्लाघनीय परिश्रम को सुरक्षित रखना है, अतः गणित के अतिरिक्त इसमें अन्य किसी प्रकार का संशोधन एवं संवर्धन नहीं करना है। इसीलिए अपने कार्य के लिए पुरानी प्रकाशित प्रति को मूल आधार बना कर कार्यारम्भ किया था; किन्तु जैसे जैसे ग्रन्थ के हार्द में प्रवेश होता गया वैसे-वैसे त्रुटित पाठों का अनुभव होता गया तब श्रीमूड़बिद्री-जैनबिद्री के भट्टारक महोदय जी से सम्पर्क बनाया। पुण्योदय से वहाँ की पुरानी ताडपत्रीय प्रतियों से पाठभेद और (जैनबिद्री से) देवनागरी भाषा में की हुई पूरी मूल कॉपी होकर आई। तब तक इस प्रथमभाग का मैटर प्रेस में जा चुका था तथा कुछ छप भी चुका था। प्रेस से मैटर पुनः मंगवाया गया और तब जैनबिद्री की प्रति को मूलाधार बनाकर संशोधन भी किया गया। इस प्रक्रिया में अनेक अशुद्धियाँ रह गयी थीं जो इस संस्करण में यथाशक्य सुधारी गयी हैं। मेरे ही हाथों इस महान् कृति का पुनःसंशोधन हो गया, इसका मुझे असीम हर्ष है। इस संशोधन में आर्यिका १०५ श्री प्रशान्तमती जी का अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ है। उनका क्षयोपशम निरन्तर वृद्धिगत होता रहे, यही मेरी आन्तरिक भावना है।

दूसरे-तीसरे भाग की भाँति इस भाग में भी कुछ स्थल विचारणीय हैं, जो विद्वज्जनों द्वारा चिन्तनीय हैं—

विचारणीय स्थल—

(१) प्रथमाधिकार पृ० १५, १६, गा० ६८, ६९

गा. ६८, ६९ में कहा गया है कि चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में ३३ वर्ष, ८$\frac{१}{२}$ माह शेष रहने पर श्रावण मास. कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा को प्रातः धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई। यह गणित कैसे ठीक बैठेगा? क्योंकि--

वीर जिनेन्द्र को वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान हुआ था। उसी वैशाख शुक्ला दशमी को २६ वर्ष पूर्ण हो जाने के ५ मास, २० दिन बाद अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान निर्वाण पधारे। उस समय चतुर्थ काल के ३ वर्ष, ८½ मास अवशेष थे। इन दोनों कालों को जोड़ देने पर ज्ञात होता है कि चतुर्थकाल के (२६ वर्ष, ५ मास, २० दिन + ३ वर्ष, ८ मास, १५ दिन =) ३३ वर्ष, २ मास और ५ दिन शेष रहने पर केवलज्ञान की उत्पत्ति होनी चाहिए। केवलज्ञान होने के बाद ६६ वें दिन दिव्यध्वनि खिरी; अतः उपर्युक्त ३३ वर्ष, २ मास, ५ दिन में से (६५ दिन के ये) २ मास, ५ दिन घटा देने पर ३३ वर्ष शेष रहते हैं, अतः चतुर्थकाल के ३३ वर्ष शेष रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई; ऐसा लगता है।

यह विषय विद्वज्जनों द्वारा विचारणीय है।

(२) प्रथमाधिकार पृ० २३, २४। गा० १०७ से—

उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल के लक्षण कह कर गा० ११० में मनुष्यों आदि के शरीर एवं उनके निवासस्थानों का माप उत्सेधांगुल से कहा गया है, तथा गाथा १११ में द्वीप, समुद्र आदि का माप प्रमाणांगुल से कहा गया है किन्तु चतुर्थाधिकार की गाथा ५१ से ५६ पर्यन्त जम्बूद्वीप की सूक्ष्म परिधि का प्रमाण निकालते हुए और गाथा ७२४ से ७४० पर्यन्त समवसरण, तत्रस्थित सोपानों, वीथियों एवं वेदियों आदि का प्रमाण बताते हुए सर्वत्र योजनों के कोस बनाने हेतु ४ (कोस) का ही गुणा किया गया है। सो कैसे ?

नोट—यह उपर्युक्त शंका तिलोयपण्णत्ती भाग दो आद्यमिताक्षर पृ. १२ पर दी गयी थी। इसका समाधान तिलोयपण्णत्ती भाग तीन पृ० १२ पर प्रकाशित हुआ है, जो इस प्रकार है—

जिन-जिन वस्तुओं के माप में इन भिन्न-भिन्न अंगुलों का प्रयोग करना है, उनका निर्देश आचार्यश्री ने इसी अधिकार की गा० ११० से ११३ तक किया है। इस निर्देशानुसार जिस वस्तु के माप का कथन हो सके उसी प्रकार के अंगुल से माप लेना चाहिए। जिस प्रकार १० पैसे, १० चवन्नी और १० रुपयों में १० का गुणा करने पर क्रमशः १०० पैसे, १०० चवन्नी और १०० रुपये आवेंगे। उसी प्रकार ¾ उत्सेधयोजन, ¾ प्रमाणयोजन और ¾ आत्मयोजन के कोस बनाने के लिए ४ का गुणा करने पर क्रमशः ३ उत्सेध कोस, ३ प्रमाण कोस और ३ आत्म कोस प्राप्त होंगे।

इससे यह सिद्ध हुआ कि लघुयोजन और महायोजन के मध्य जो अनुपात होगा वही अनुपात यहाँ उत्सेध कोस और प्रमाण कोस के मध्य होगा। वही अनुपात उत्सेधांगुल और प्रमाणांगुल के बीच होगा।

आचार्यों ने भी इसी प्रकार के माप दिये हैं। **यथा**—

तिलोयपण्णत्ती भाग १ अधिकार २ रा पृ० २५२, गाथा ३१६ 'उच्छेहह-जोयणाणि सत्त'
" " " ३ " ७ वाँ " २९२, " २०१ 'चत्तारि पमाणअंगुलाणं'
" " " ३ " ७ वाँ " ३१२, " २७३ 'चत्तारि पमाण-अंगुलाणि'

धवल ४/४० चरम पंक्ति, उत्सेध-घनांगुल।
धवल ४/४१ १०वीं पंक्ति, प्रमाणघनांगुल।
धवल ४/३४, ३५ प्रमाणघनांगुल।
धवल ४/३४ मूल एवं टीका, उत्सेधयोजन, प्रमाणयोजन आदि।

यह समाधान श्री पं० जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर के माध्यम से प्राप्त हुआ है।

(३) **पूज्यपाददेव** ने **सर्वार्थसिद्धि** अ० ४ सूत्र १०-११ में और **अकलंकदेव** ने **तत्त्वार्थवार्तिक** में रत्नप्रभा पृथिवी के खर आदि भाग करके, भवनवासी एवं व्यन्तर देवों के निवासक्षेत्र का प्रमाण एक लाख योजन बताते हुए भी वहाँ निवास करने वाले देवों का भी विभाजन किया है; यथा—"पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि। खरपृथिवीभागे... ...शेष नवानां कुमाराणामावासा:। किन्तु यहाँ अधिकार तीसरा, पृष्ठ २६६, गा० ७-८ में रत्नप्रभा पृ. के खरभाग और पंक भाग ऐसे भेद कहे हैं और गा. २४ में क्षेत्र भी एक लाख योजन ही ग्रहण किया है किन्तु देवों के निवास का विभाग **"दुग-बादाल-सहस्सा, लक्खमधोधो खिदीए गंतूण भवणाणि होंति"** गा. २४ पृ. २७२ के द्वारा चित्रा पृ. से २००० यो. नीचे, चित्रा से ही ४२००० योजन नीचे और चित्रा से ही १००००० योजन नीचे भवनवासी देवों के निवास का कथन किया है।

इसी प्रकार भाग ३ अधिकार ६ पृ. २१६ गा. ५ में व्यन्तरदेवों के निवासक्षेत्र का प्रमाण १ राजू × १ राजू × १९९००० योजन कहा है।

अन्य ग्रन्थों के सदृश जब पूज्य यतिवृषभाचार्य को खर और पंक भागों में देवों का निवास इष्ट नहीं था तब अधिकार ३ पृ. २६६ गा. ७-८ में इनके खर आदि भेद क्यों कहे, यह बात समझ में नहीं आई। ●

चतुर्थकालीन निर्लोभ वृत्ति एवं परिश्रम की प्रतिमूर्ति **डॉ. श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी (जोधपुर)** की सत्प्रेरणा और लगन के फलस्वरूप ही यह द्वितीय संस्करण इतना शीघ्र समाज के समक्ष आ सका है।

श्रीमान् दानशील निर्मलकुमारजी सेठी 'सेठी ट्रस्ट' से ही इसका प्रकाशन करा रहे हैं। माँ सरस्वती की सेवा करने वाले अतिशीघ्र निर्मलज्ञान के भाजन बनें, यही मेरी हार्दिक भावना है।

बुद्धि अल्प और विषय गहन होने से त्रुटियाँ रह जाना सम्भव हैं, अत: परम पूज्य गुरुजन एवं विद्वज्जन ग्रन्थ को शुद्ध करके ही अर्थ ग्रहण करें। भद्रं भूयात्।

सं २०४९
फाल्गुन अष्टाह्निका

आर्यिका विशुद्धमती
दि० ७.३.९३

आद्यमिताक्षर

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी भगवान जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निर्गत जिनागम चार अनुयोगों में सम्विभक्त है। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की अपेक्षा गणित प्रधान होने से करणानुयोग का विषय जटिलताओं से युक्त होता है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार वासना सिद्धि प्रकरणों के कारण दुरूह है। करणानुयोग मर्मज्ञ श्री रतनचन्द्र जी मुख्तार सहारनपुर वालों की प्ररेणा और सहयोग से इस ग्रन्थ की टीका हुई। इसका प्रकाशन सन् १९७५ में हुआ था, इसके पूर्व पं. टोडरमल जी की हिन्दी टीका के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की अन्य कोई हिन्दी टीका उपलब्ध नहीं हुई थी।

श्री सकलकीर्त्याचार्य विरचित सिद्धान्तसार दीपक त्रिलोकसार जैसा कठिन नहीं था, किन्तु यह ग्रन्थ अप्रकाशित था। हस्तलिखित में भी इस ग्रन्थ की कोई टीका उपलब्ध नहीं हुई। हस्तलिखित प्रतियों से टीका करने में कठिनाई का अनुभव हुआ। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९८१ में हो चुका था।

तिलोयपण्णत्ती में त्रिलोकसार सदृश वासना सिद्धि नहीं है फिर भी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय सरल नहीं है। इस ग्रन्थ के (प्रथम और पंचम) ये दो अधिकार अत्यधिक कठिन है। सन् १९७५ में श्री रतनचन्द्र जी मुख्तार से प्रथमाधिकार की कठिन-कठिन ८३ गाथाएँ समझ कर आकृतियों सहित नोट कर ली थीं। मन बार-बार कह रहा था कि इन गाथाओं का यह सरलार्थ यदि प्रकाशित हो जाय तो स्वाध्याय संलग्न भव्यों को विशेष लाभ प्राप्त हो सकता है, इसी भावना से सन् १९७७ में जीवराज ग्रन्थमाला को लिखाया कि यदि तिलोयपण्णत्ती का दूसरा संस्करण छप रहा हो तो सूचित करें, उसमें कुछ गाथाओं का गणित स्पष्ट करके छापना है, किन्तु संस्था से दूसरा संस्करण निकला ही नहीं। इसी कारण टीका के भाव बने और २२।११।१९८१ को टीका प्रारम्भ की तथा १६।२।८२ को दूसरा अधिकार पूर्ण कर प्रेस में भेज दिया। पूर्व सम्पादकों का श्रम यथावत् बना रहे इस उद्देश्य से गाथार्थ यथावत् रखकर मात्र गणित की जटिलताएँ सरल कीं। इनमें भी पाँच-सात गाथाओं की संदृष्टियों का अर्थ बुद्धिगत नहीं हुआ फिर भी कार्य सतत् चलता रहा और २०।३।८२ तृतीयाधिकार भी पूर्ण हो गया, किन्तु इसकी भी तीन चार गाथाएँ स्पष्ट नहीं हुईं। चतुर्थाधिकार की ५६ गाथा से आगे तो लेखनी चली ही नहीं, अत: कार्य बन्द करना पड़ा।

समस्या के समाधान हेतु स्वस्ति श्री भट्टारक जी मूड़विद्री से सम्पर्क साधा। वहाँ से कुछ पाठ भेद आये उससे भी समाधान नहीं हुआ। अनायास स्वस्ति श्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति जी जैनविद्री का सम्पर्क हुआ, वहाँ से पूरे ग्रन्थ की लिप्यन्तर प्रति प्राप्त हुई जिसमें अनेक बहुमूल्य पाठभेद और

छूटी हुई ११५ गाथाएँ प्राप्त हुईं जो इस प्रकार हैं–

अधिकार –	प्राप्त गाथाएँ	
प्रथम –	३	इन तीन अधिकारों का प्रथम खण्ड है। इस खण्ड में ४५ चित्र और १९ तालिकाएँ हैं।
द्वितीय –	४	
तृतीय –	१९	
चतुर्थ –	५५	चतुर्थ अधिकार का दूसरा खण्ड है, इसमें ३० चित्र और ४६ तालिकाएँ हैं।
पंचम–	२	इन पाँच अधिकारों का तृतीय खण्ड है। इस खण्ड में १५ चित्र और ३३ तालिकाएँ हैं।
षष्ठ –	०	
सप्तम–	५	
अष्टम–	२३	
नवम–	४	

इस पूरे ग्रन्थ में नवीन प्राप्त गाथाएँ ११५, चित्र ९० और तालिकाएँ ९५ है। पाठ भेद अनेक हैं। पूरे ग्रन्थ में अनुमानतः ५२-५३ विचारणीय स्थल हैं, जो दूसरे एवं तीसरे खण्ड के प्रारम्भ में दिये गये हैं। ग्रन्थ प्रकाशित हुए लगभग नौ वर्ष हो चुके हैं किन्तु इन विचारणीय स्थलों का एक भी समाधान प्राप्त नहीं हुआ।

बुद्धिपूर्वक सावधानी बरतते हुए भी **'को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे'** नीत्यानुसार अशुद्धियाँ रहना स्वाभाविक है।

इस द्वितीय संस्करण के प्रकाशन के प्रेरणा सूत्र परमपूज्य १०८ श्री उपाध्याय ज्ञान सागर जी के चरणों में सविनम्र नमोऽस्तु करते हुए मैं आपका आभार मानती हूँ।

इस संस्करण को श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा की कार्यकारिणी ने अपनी ओर से प्रकाशित कराया है। सभी कार्यकर्त्ताओं को मेरा शुभाशीर्वाद।

आर्यिका विशुद्धमति
दि.२७.६.१९९७

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, आर्षमार्गपोषक

परम पू० १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी

[संक्षिप्त जीवन-वृत्त]

गेहुँआ वर्ण, मझोला कद, अनतिस्थूल शरीर, चौड़ा ललाट, भीतर तक झाँकती सी ऐनक धारण की हुई आँखें, हित-मित-प्रिय स्पष्ट बोल, संयमित सधी चाल और सौम्य मुखमुद्रा—बस, यही है उनका **अंगन्यास**।

नंगे पाँव, लुञ्चितसिर, धवल शाटिका, मयूरपिच्छिका—बस, यही है उनका **वेष-विन्यास**।

विषयाशाविरक्त, ज्ञानध्यान-तप-जप में सदा निरत, करुणासागर, परदुःख-कातर, प्रवचनपटु, निःस्पृह, समता-विनय-धैर्य और सहिष्णुता की साकारमूर्ति, भद्रपरिणामी, साहित्य-सृजनरत, साधना में वज्र से भी कठोर, वात्सल्य में नवनीत से भी मृदु, आगमनिष्ठ, गुरुभक्तिपरायण, प्रभावनाप्रिय— बस, यही है उनका **अन्तर आभास**।

जूली और जया, जानकी और जेबुन्निसा सबके जन्मों का लेखा-जोखा नगरपालिकायें रखती हैं पर कुछ ऐसी भी हैं जिनके जन्म का लेखा-जोखा राष्ट्र, समाज और जातियों के इतिहास स्नेह और श्रद्धा से अपने अंक में सुरक्षित रखते हैं। वि० सं० १९८६ की चैत्र शुक्ला तृतीया को रीठी (ज़बलपुर, म० प्र०) में जन्मी वह बाला सुमित्रा भी ऐसी ही रही है—जो आज है आर्यिका विशुद्धमती माताजी।

इस शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के निकट सम्पर्क से संस्कारित धार्मिक गोलापूर्व परिवार में सद्गृहस्थ पिताश्री लक्ष्मणलाल जी सिंघई एवं माता सौ० मथुराबाई की पाँचवीं सन्तान के रूप में सुमित्राजी का पालन-पोषण हुआ। घूँटी में ही दयाधर्म और सदाचार के संस्कार मिले। फिर थोड़ी पाठशाला की शिक्षा, बस; सब कुछ सामान्य, विलक्षणता का कहीं कोई चिह्न नहीं। आयु के पन्द्रह वर्ष बीतते-बीतते पास के ही गाँव बाकल में एक घर की वधू बनकर सुमित्राजी ने पिता का घर छोड़ा। इतने सामान्य जीवन को लखकर तब कैसे कोई अनुमान कर लेता कि यह बालिका एक दिन ठोस आगमज्ञान प्राप्त करके स्व-पर-कल्याण के पथ पर आरूढ़ हो स्त्री-पर्याय का उत्कृष्ट पद प्राप्त कर लेगी।

सच है, कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है। चन्द्रमा एवं सूर्य को राहु और केतु नामक ग्रह-विशेष से पीड़ा, सर्प तथा हाथी को भी मनुष्यों के द्वारा बन्धन और विद्वद्जन की दरिद्रता देखकर अनुमान लगाया जाता है कि नियति बलवान है और फिर काल! काल तो महाक्रूर है! 'अपने मन कछु और है विधना के कछु और'। दैव दुर्विपाक से सुमित्राजी के विवाह के कुछ ही समय बाद उन्हें सदा के लिए मातृ-पितृ-वियोग हुआ और विवाह के डेढ़ वर्ष के भीतर ही कन्या-जीवन के लिए अभिशापस्वरूप वैधव्य ने आपकी आ घेरा।

अब तो सुमित्राजी के सम्मुख समस्याओं से घिरा सुदीर्घ जीवन था। इष्ट (पति और माता-पिता) के वियोग से उत्पन्न हुई असहाय स्थिति बड़ी दारुण थी। किसके सहारे जीवन-यात्रा व्यतीत होगी? किस प्रकार निश्चित जीवन मिल सकेगा? अवशिष्ट दीर्घजीवन का निर्वाह किस विधि होगा? इत्यादि नाना प्रकार की विकल्प-लहरियाँ मानस को मथने लगीं। भविष्य प्रकाशविहीन प्रतीत होने लगा। संसार में शीलवती स्त्रियाँ धैर्यशालिनी होती हैं, नाना प्रकार की विपत्तियों को वे हँसते-हँसते सहन करती हैं। निर्धनता उन्हें डरा नहीं सकती, रोगशोकादि से वे विचलित नहीं होतीं परन्तु पतिवियोगसदृश दारुण दुःख का वे प्रतिकार नहीं कर सकती हैं। यह दुःख उन्हें असह्य हो जाता है। ऐसी दुःखपूर्ण स्थिति में उनके लिए कल्याण का मार्ग दर्शाने वाले विरल ही होते हैं और सम्भवतया ऐसी ही स्थिति के कारण उन्हें 'अबला' भी पुकारा जाता है। परन्तु सुमित्राजी में आत्मबल प्रगट हुआ, उनके अन्तरंग में स्फुरणा हुई कि इस जीव का एक मात्र सहायक या अवलम्बन धर्म ही है। **'धर्मो रक्षति रक्षितः'**। अपने विवेक से उन्होंने सारी स्थिति का विश्लेषण किया और 'शिक्षार्जन' कर स्वावलम्बी (अपने पाँवों पर खड़े) होने का संकल्प लिया। भाइयों— श्री नीरज जी और श्री निर्मल जी, सतना—के सहयोग से केवल दो माह पढ़ कर प्राइमरी की परीक्षा उत्तीर्ण की। मिडिल का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम दो वर्ष में पूरा किया और शिक्षकीय प्रशिक्षण प्राप्त कर अध्यापन की अर्हता अर्जित की और अनन्तर सागर के उसी महिलाश्रम में जिसमें उनकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ था—अध्यापिका बनकर सुमित्राजी ने स्व + अवलम्बन के अपने संकल्प का एक चरण पूर्ण किया।

सुमित्राजी ने महिलाश्रम (विधवाश्रम) का सुचारु रीत्या संचालन करते हुए करीब बारह वर्ष पर्यन्त प्रधानाध्यापिका का गुरुतर उत्तरदायित्व भी सँभाला। आपके सद्प्रयत्नों से आश्रम में श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय की स्थापना हुई। भाषा और व्याकरण का विशेष अध्ययन कर आपने भी 'साहित्यरत्न' और 'विद्यालंकार' की उपाधियाँ अर्जित कीं। विद्वद्शिरोमणि डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य का विनीत शिष्यत्व स्वीकार कर आपने 'जैन सिद्धान्त' में प्रवेश किया और धर्म विषय में 'शास्त्री' की परीक्षा उत्तीर्ण की। अध्यापन और शिक्षार्जन की इस संलग्नता ने सुमित्रा जी के जीवनविकास के नये क्षितिजों का उद्घाटन किया। शनैःशनैः उनमें 'ज्ञान का फल' अंकुरित होने लगा। एक सुखद संयोग ही समझिये कि सन् १९६२ में परमपूज्य परमश्रद्धेय (स्व०)

आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज का वर्षायोग सागर में स्थापित हुआ। आपकी परम निरपेक्षवृत्ति और शान्त सौम्य स्वभाव से सुमित्राजी अभिभूत हुईं। संघस्थ प्रवरवक्ता पूज्य १०८ (स्व०) श्री सन्मतिसागर जी महाराज के मार्मिक उद्बोधनों से आपको असीम बल मिला और आपने स्व-अवलम्बन के अपने संकल्प के अगले चरण की पूर्ति के रूप में चरित्र का मार्ग अंगीकार कर सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

विक्रम संवत् २०२१, श्रावण शुक्ला सप्तमी, दि० १४ अगस्त, १९६४ के दिन परम पूज्य तपस्वी, अध्यात्मवेत्ता, चारित्रशिरोमणि, दिगम्बराचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के पुनीत कर-कमलों से ब्रह्मचारिणी सुमित्राजी की आर्यिका दीक्षा अतिशयक्षेत्र पपौराजी (म० प्र०) में सम्पन्न हुई। अब से सुमित्राजी 'विशुद्धमती' बनीं। बुन्देलखण्ड में यह दीक्षा काफी वर्षों के अन्तराल से हुई थी अतः महती धर्मप्रभावना का कारण बनी।

आचार्यश्री के सघ में ध्यान और अध्ययन की विशिष्ट परम्पराओं के अनुरूप नवदीक्षित आर्यिकाश्री के नियमित शास्त्राध्ययन का श्रीगणेश हुआ। संघस्थ परम पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागर जी महाराज ने द्रव्यानुयोग और करणानुयोग के ग्रन्थों में आर्यिकाश्री का प्रवेश कराया। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी पूज्य अजितसागरजी महाराज ने न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरण के ग्रन्थों का अध्ययन कराया। जैन गणित के अभ्यास में और षट्खण्डागम सिद्धान्त के स्वाध्याय में ब्र० पं० रतनचन्दजी मुख्तार आपके सहायक बने। सतत परिश्रम, अनवरत अभ्यास और सच्ची लगन के बल पर पूज्य माताजी ने विशिष्ट ज्ञानार्जन कर लिया। यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में आहार में निरन्तर अन्तराय आने के कारण आपका शरीर अत्यन्त अशक्त और शिथिल हो चला था पर शरीर में बलवती आत्मा का निवास था। श्रावकों—वृद्धों की ही नहीं अच्छी आँखों वाले युवकों की लाख सावधानियों के बावजूद भी अन्तराय आहार में बाधा पहुँचाते रहे। आर्यिकाश्री की कड़ी परीक्षा होती रही। असाता के शमन के लिए अनेक लोगों ने अनेक उपाय करने के सुझाव दिये, आचार्यश्री ने कर्मोपशमन के लिए वृहत्शांतिमंत्र का जाप करने का संकेत किया पर आर्यिकाश्री का विश्वास रहा है कि समताभाव से कर्मों का फल भोगकर उन्हें निर्जीर्ण करना ही मनुष्यपर्याय की सार्थकता है, ज्ञान की सार्थकता है। आपकी आत्मा उस विषम परिस्थिति में भी विचलित नहीं हुई, कालान्तर में वह उपद्रव कारण पाकर शमित हो गया। पर इस अवधि में भी उनका अध्ययन सतत जारी रहा। आर्यिकाश्री द्वारा की गई **'त्रिलोकसार'** की टीका के प्रकाशन के अवसर पर परम पूज्य १०८ श्री अजितसागर जी महाराज ने आशीर्वाद देते हुए लिखा—

"सागर महिलाश्रम की अध्ययनशीला प्रधानाध्यापिका सुमित्राबाई ने अतिशयक्षेत्र पपौरा में आर्यिका दीक्षा धारण की थी। तत्पश्चात् कई वर्षों तक अन्तरायों के बाहुल्य के कारण शरीर से

अस्वस्थ रहते हुए भी वे धर्मग्रन्थों के पठन में प्रवृत्त रहीं। आपने चारों ही अनुयोगों के निम्नलिखित ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है। **करणानुयोग**—सिद्धान्तशास्त्र धवल (१६ खण्ड), महाधवल, (दो खण्डों का अध्ययन हो चुका है, तीसरा खण्ड चालू है।) **द्रव्यानुयोग**—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, इष्टोपदेश, समाधिशतक, आत्मानुशासन, वृहद्द्रव्यसंग्रह! **न्यायशास्त्रों** में न्यायदीपिका, परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला। **व्याकरण** में कातन्त्र रूप माला, कलापव्याकरण जैनेन्द्र लघुवृत्ति, शब्दार्णवचन्द्रिका। **चरणानुयोग**--रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अनगार धर्मामृत, मूलाराधना, आचारसार, उपासकाध्ययन। **प्रथमानुयोग**—सम्यक्त्व कौमुदी, क्षत्रचूड़ामणि, गद्य चिन्तामणि, जीवन्धरचम्पू, उत्तरपुराण, हरिवंशपुराण, पद्मपुराण आदि।”

(त्रिलोकसार: पृ० ६)

इस प्रकार पूज्य माताजी ने इस अगाध आगम-वारिधि का अवगाहन कर अपने ज्ञान को प्रौढ़ बनाया है और उसका फल अब हमें साहित्यसृजन के रूप में उनसे अनवरत प्राप्त हो रहा है। आज तो जैसे 'जिनवाणी की सेवा' ही उनका व्रत हो गया है। उन्होंने आचार्यों द्वारा प्रणीत करणानुयोग के विशालकाय प्राकृत-संस्कृत ग्रन्थों की सचित्र सरल सुबोध भाषाटीकायें लिखी हैं, साथ ही सामान्यजनोपयोगी अनेक छोटी-बड़ी रचनाओं का भी प्रकाशन किया है। उनके द्वारा प्रणीत साहित्य की सूची इसप्रकार है—

भाषा टीकाएँ—१. सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित **त्रिलोकसार** की हिन्दी टीका।
२. भट्टारक सकलकीर्ति विरचित **सिद्धान्तसार दीपक** की हिन्दी टीका।
३. परम पूज्य यतिवृषभाचार्य विरचित **तिलोयपण्णत्ती** की सचित्र हिन्दी टीका (तीन खण्डों में)

मौलिक रचनाएँ—१. श्रुतनिकुञ्ज के किंचित् प्रसून (व्यवहार रत्नत्रय की उपयोगिता)
२. गुरु गौरव ३. श्रावक सोपान और बारह भावना
४. धर्मप्रवेशिका प्रश्नोत्तरमाला ५. धर्मोद्योत प्रश्नोत्तरमाला
६. आनन्द की पद्धति: अहिंसा ७. निर्माल्यग्रहण पाप है
८. आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ : एक अनुशीलन

संकलन—१. शिवसागर स्मारिका २. आत्मप्रसून ३. वास्तुविज्ञानपरिचय

सम्पादन—१. समाधिदीपक २. श्रमणचर्या ३. दीपावली पूजनविधि
४. श्रावक सुमनसंचय ५. स्तोत्रसंग्रह ६. श्रावकसोपान
७. आर्यिका आर्यिका है, श्राविका नहीं ८. संस्कार ज्योति ९. छहढाला
१०. क्षपणासार (हिन्दी टीका) ११. पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण सामायिक विधि १२. वृहद् सामायिक पाठ एवं व्रती श्रावक प्रतिक्रमण,
१३. जैनाचार्य शान्तिसागर जी महाराज का संक्षिप्त जीवनवृत्त।
१४. आचार्य शान्तिसागर चरित्र
१५. ऐसे थे चारित्र चक्रवर्ती

१६. शान्तिधर्मप्रदीप अपरनाम दान विचार
१७. नारी ! बनो सदाचारी
१८. वत्थुविज्जा (गृहनिर्माण कला)

अब तक आपने पपौरा, श्रीमहावीरजी, कोटा, उदयपुर, प्रतापगढ़, टोडारायसिंह, भीण्डर, अजमेर, निवाई, किशनगढ़ रेनवाल, सवाईमाधोपुर, सीकर, कूण, भीलवाड़ा, अरिणन्दा, फलासिया आदि स्थानों पर वर्षायोग सम्पन्न किये हैं । टोडारायसिंह, उदयपुर, रेनवाल, निवाई में आपके क्रमशः दो, पाँच, दो और तीन बार चातुर्मास हो चुके हैं । सर्वत्र आपने महती धर्मप्रभावना की है और श्रावकों को सन्मार्ग में प्रवृत्त किया है । श्री शान्तिवीर गुरुकुल, जोबनेर को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आपकी प्रेरणा से श्री दि० जैन महावीर चैत्यालय का नवीन निर्माण हुआ है और वेदीप्रतिष्ठा भी हुई है । जनधन एवं आवागमन आदि अन्य साधनविहीन अलयादी ग्राम स्थित जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार, नवीन जिनबिम्ब की रचना, नवीन वेदी का निर्माण एवं वेदी प्रतिष्ठा आपके ही सद्प्रयत्नों का फल है । श्री दि० जैन धर्मशाला, टोडारायसिंह का नवीनीकरण एवं अशोकनगर, उदयपुर में श्री शिवसागर सरस्वती भवन का निर्माण आपके मार्गदर्शन का ही सुपरिणाम है ।

श्री ब्र० सूरजबाई मु० ड्योढ़ी (जयपुर) की क्षुल्लिका दीक्षा, ब्र० मनफूलबाई (टोडारायसिंह) को आठवीं प्रतिमा एवं श्री कजोड़ीमल जी कामदार (जोबनेर) को दूसरी प्रतिमा के व्रत आपके करकमलों से प्रदान किये गये हैं ।

शास्त्रसमुद्र का आलोड़न करने वाली पूज्य माताजी की आगम में अटूट आस्था है । क्षुद्र भौतिक स्वार्थों के लिए सिद्धान्तों को अपने अनुकूल तोड़मोड़ कर प्रस्तुत करने वाले आपकी दृष्टि में अक्षम्य हैं । सज्जातित्व में आपकी पूर्ण निष्ठा है । विधवाविवाह और विजातीय विवाह आपकी दृष्टि में कथमपि शास्त्रसम्मत नहीं हैं । **आचार्य सोमदेव** की इस उक्ति का आप पूर्ण समर्थन करती हैं—

स्वकीयाः परकीयाः वा मर्यादालोपिनो नराः ।
नहि माननीयं तेषां तपो वा श्रुतमेव च ।।

अर्थात् स्वजन से या परजन से, तपस्वी हो या विद्वान् हो किन्तु यदि वह मर्यादाओं का लोप करने वाला है तो उसका कहना भी नहीं मानना चाहिए । (**धर्मोद्योत प्रश्नोत्तर माला** तृतीय संस्करण पृ० ६६ से उद्धृत)

पूज्य माताजी स्पष्ट और निर्भीक धर्मोपदेशिका हैं । जनानुरंजन की क्षुद्रवृत्ति को आप अपने पास फटकने भी नहीं देती । अपनी चर्या में **'वज्रादपि कठोराणि'** हैं तो दूसरों को धर्ममार्ग में लगाने के लिए **'मृदुनि कुसुमादपि'** । ज्ञानपिपासु माताजी सतत ज्ञानाराधना में सलग्न रहती हैं और तदनुसार आत्म-परिष्कार में आपकी प्रवृत्ति चलती है । **'सिद्धान्तसार दीपक'** की प्रस्तावना में परमादरणीय **पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य** ने लिखा है—"माताजी की अभीक्ष्ण ज्ञानाराधना और उसके फलस्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम के विषय में क्या लिखूँ ? अल्पवय में प्राप्त वैधव्य का अपार

दुःख सहन करते हुए भी इन्होंने जो वैदुष्य प्राप्त किया है, वह साधारण महिला के साहस की बात नहीं है। ......ये सागर के महिलाश्रम में पढ़ती थीं। मैं धर्मशास्त्र और संस्कृत का अध्ययन कराने प्रातः काल ५ बजे जाता था। एक दिन गृहप्रबन्धिका ने मुझसे कहा कि रात में निश्चित समय के बाद आश्रम की ओर से मिलने वाली लाइट की सुविधा जब बन्द हो जाती है तब ये खाने के घृत का दीपक जलाकर चुपचाप पढ़ती रहती हैं और भोजन घृतहीन कर लेती हैं। गृहप्रवन्धिका के मुख से इनकी अध्ययनशीलता की प्रशंसा सुन जहाँ प्रसन्नता हुई, वहाँ अपार वेदना भी हुई। प्रस्तावना की ये पंक्तियाँ लिखते समय वह प्रकरण स्मृति में आ गया और नेत्र सजल हो गये। लगा कि जिसकी इतनी अभिरुचि है अध्ययन में, वह अवश्य ही होनहार है।..........त्रिलोकसार की टीका लिखकर प्रस्तावना-लेख के लिए जब मेरे पास मुद्रित फर्मे भेजे गये तब मुझे लगा कि यह इनके तपश्चरण का ही प्रभाव है कि इनके ज्ञान में आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है। वस्तुतः परमार्थ भी यही है कि द्वादशांग का जितना विस्तार हम सुनते हैं वह सब गुरुमुख से नहीं पढ़ा जा सकता। तपश्चर्या के प्रभाव से स्वयं ही ज्ञानावरण का ऐसा विशाल क्षयोपशम हो जाता है कि जिससे अंग-पूर्व का भी विस्तृत ज्ञान अपने आप प्रकट हो जाता है। श्रुतकेवली बनने के लिए निर्ग्रन्थ मुद्रा के साथ विशिष्ट तपश्चरण का होना भी आवश्यक रहता है।"

दृढ़ संयमी, आर्ष मार्ग की कट्टर पोषक, निःस्पृह, परम विदुषी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, निर्भीक उपदेशक, आगम मर्मस्पर्शी, मोक्षमार्ग की पथिक, स्व पर-उपकारी पूज्य माताजी के चरणों में शत-शत नमोस्तु निवेदन करता हूँ और उनके दीर्घ, स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ ताकि उनकी स्याद्वादमयी लेखनी से जिनवाणी का हार्द हमें इसी प्रकार प्राप्त होता रहे और इस विषम काल में हम भ्रान्त जीवों को सच्चा मार्गदर्शन मिलता रहे।

पूज्य माताजी के पुनीत चरणों में शत-शत वन्दन। इति शुभम्।

—डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

प्रस्तावना

तिलोयपण्णत्ती : प्रथम खण्ड

(प्रथम तीन महाधिकार)

१. ग्रन्थ-परिचय :

समग्र जैन वाङ्मय प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप से चार अनुयोगों में व्यवस्थित है। करणानुयोग के अन्तर्गत जीव और कर्म विषयक साहित्य तथा भूगोल-खगोल विषयक साहित्य गर्भित है। वैदिक वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मय में भी लोक-रचना से सम्बन्धित बातों का समावेश तो है परन्तु जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ जैन परम्परा में उपलब्ध हैं, वैसे उन परम्पराओं में नहीं देखे जाते।

तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) करणानुयोग के अन्तर्गत लोकविषयक साहित्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। यह प्राकृत भाषा में लिखी गयी है। यद्यपि इसका प्रधान विषय लोक-रचना का स्वरूप वर्णन है तथापि प्रसंगवश धर्म, संस्कृति व पुराण-इतिहास से सम्बन्धित अनेक बातों का वर्णन इसमें उपलब्ध है।

ग्रन्थकर्त्ता यतिवृषभ ने इस रचना में परम्परागत प्राचीन ज्ञान का संग्रह किया है, न कि किसी नवीन विषय का। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही ग्रन्थकार ने लिखा है—

मंगलपहुदिच्छक्कं, वक्खाणिय विविह-गंथ-जुत्तीहिं ।
जिणवरमुहणिक्कंतं, गणहरदेवेहिं गथित-पदमालं ।।८५।।

सासद-पदमावण्णं, पवाह-रुवत्तणेण दोसेहिं ।
णिस्सेसेहि विमुक्कं, आइरिय-अणुक्कमाआदं ।।८६।।

भव्व-जणाणंदयरं, वोच्छामि अहं तिलोयपण्णत्ति ।
णिब्भर-भत्ति-पसादिद-वर-गुरु-चलणाणुभावेण ।।८७।।

रचनाकार ने कई स्थानों पर यह भी स्वीकार किया है कि इस विषय का विवरण और उपदेश उन्हें परम्परा से गुरु द्वारा प्राप्त नहीं हुआ है अथवा नष्ट हो गया है। इस प्रकार यतिवृषभाचार्य प्राचीन सम्माननीय ग्रन्थकार हैं। धवलाकार ने तिलोयपण्णत्ती के अनेक उद्धरण अपनी टीका में उद्धृत किये हैं। आचार्य यतिवृषभ ने एकाधिकबार यह उल्लेख किया है कि 'ऐसा दृष्टिवाद अंग में

निर्दिष्ट है। **इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि (१/९९), 'वास उदयं भणामो णिस्संदं दिट्ठि-वादादो' (१/१४८)** यह उल्लेख दर्शाता है कि ग्रन्थ का स्रोत दृष्टिवाद नामक अंग है। गौतम गणधर ने तीर्थङ्कर महावीर की दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांग रूप जिनवाणी की रचना की थी। इसमें दृष्टिवाद नामका बारहवाँ अंग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशाल था। इस अंग के ५ भेद हैं १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग ४. पूर्वगत और ५. चूलिका। परिकर्म के भी ५ भेद हैं—१. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४. सूर्यप्रज्ञप्ति और ५. चन्द्रप्रज्ञप्ति। ये सब ग्रन्थ आज लुप्त हैं। इनके आधार पर रचित ग्रन्थ इनके अभाव की आंशिक पूर्ति अवश्य करते हैं। तिलोयपण्णत्ती ऐसा ही ग्रन्थ है, बाद के अनेक ग्रन्थ इसके आधार से बने प्रतीत होते हैं। डॉ. हीरालाल जैन के अनुसार "इसकी प्राचीनता के कारण यह अर्धमागधी श्रुतांग ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने योग्य है और अन्ततः भारतीय पुरातत्त्व, धर्म एवं भाषा के अध्येताओं के लिए इस ग्रन्थ के विविध विषय और इसकी प्राकृत भाषा रोचकता से रहित नहीं है।"

सम्पूर्ण ग्रन्थ को रचयिता आचार्य ने योजनापूर्वक नौ महाधिकारों में सँवारा है—

सामण्णजगसरूवं[१], तम्मि ठियं [२]णारयाण लोयं च।
भावण[३]-णर[४]-तिरियाणं[५], वेंतर[६]-जोइसिय[७]-कप्पवासीणं[८] ।।८८।।

सिद्धाणं[९] लोगो त्ति य, अहियारे पयद-दिट्ठ-णव भेए।
तम्मि णिबद्धे जीवे, पसिद्ध - वर - वण्णणा - सहिए ।।८९।।

वोच्छामि सयलभेदे, भव्वजणाणंद-पसर-संजणणं।
जिणमुहकमलविणिग्गिय - तिलोयपण्णत्ति - णामाए ।।९०।।

उपर्युक्त नौ महाधिकारों में अनेक अवान्तर अधिकार हैं। अधिकांश ग्रन्थ पद्यमय है किन्तु गद्यखण्ड भी आये हैं। प्रारम्भिक मंगलाचरण में पंचपरमेष्ठी का स्तवन हुआ है परन्तु सिद्धों का स्तवन पहले है, अरहन्तों का बाद में। फिर पहले महाधिकार के अन्त से प्रारम्भ कर प्रत्येक महाधिकार के आदि और अन्त में क्रमशः एक-एक तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है और अर से वर्धमान तक तीर्थंकरों को अन्तिम महाधिकार के अन्त में नमस्कार किया गया है।

इस ग्रन्थ का **पहली बार सम्पादन** दो भागों में **प्रो० हीरालाल जैन** व **प्रो० ए. एन. उपाध्ये** द्वारा १९४२ व १९५१ में सम्पन्न हुआ था। **पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री** का मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद भी इसमें है। इसका प्रकाशन **जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर** से **जीवराज जैन ग्रन्थमाला** के प्रथम ग्रन्थ के रूप में हुआ था। उस समय सम्पादकद्वय का उत्तर भारत की दो ही महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ सुलभ हुई थीं, अतः उन्हीं के आधार पर तथा अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्ति के बल पर उन्होंने यह

दुष्कर कार्य सम्पन्न किया था। वे कोटि-कोटि बधाई के पात्र हैं। इन मुद्रित प्रतियों के होने से हमें वर्तमान संस्करण को प्रस्तुत करने में भरपूर सहायता प्राप्त हुई है, हम उनके अत्यन्त ऋणी हैं। इन मुद्रित प्रतियों में सम्पूर्ण ग्रन्थ का स्थूल रूप इस प्रकार है—

क्रम सं.	विषय	अन्तराधिकार	कुल पद्य	गद्य	गाथा के अतिरिक्त छंद	मंगलाचरण
१.	प्रस्तावना व लोक का सामान्य निरूपण	×	२८३	गद्य		पंचपरमेष्ठी/आदि०
२.	नारकलोक	१५ अधि०	३६७	×	४ इन्द्रवज्रा १ स्वागता	अजित/सम्भव०
३.	भवनवासीलोक	२४ अधि०	२४३	×	२ इन्द्रवज्रा ४ उपजाति	अभिनंदन/सुमति
४.	मनुष्यलोक	१६ अधि०	२९६१	गद्य	७ इ. व., २ दोधक २ व. ति. १शा. वि.	पद्मप्रभ/सुपार्श्व
५.	तिर्यग्लोक	१६ अधि०	३२१	गद्य	—	चन्द्रप्रभ/पुष्पदन्त
६.	व्यन्तरलोक	१७ अधि०	१०३	×	—	शीतल/श्रेयांस
७.	ज्योतिर्लोक	१७ अधि०	६१९	गद्य	—	वासुपूज्य/विमल
८.	देवलोक	२१ अधि०	७०३	गद्य	१ शार्दूलविक्रीड़ित	अनन्त/धर्मनाथ
९.	सिद्धलोक	५ अधि०	७७	×	१ मालिनी	शांति,कुन्थु/अर से वर्ध.

अपनी सीमाओं के बावजूद इसके प्रथम सम्पादकों ने जो श्रम किया है वह नूनमेव स्तुत्य है। सम्भव पाठ, विचारणीय स्थल आदि की योजना कर मूल पाठ को उन्होंने अधिकाधिक शुद्ध करने का प्रयास किया है। उनकी निष्ठा और श्रम की जितनी सराहना की जाए कम है।

२. टीका व सम्पादन का उपक्रम :

आर्यारत्न १०५ श्री विशुद्धमती माताजी अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी विदुषी साध्वी हैं। आपने **त्रिलोकसार (नेमिचन्द्राचार्यकृत)** और **सिद्धान्तसारदीपक (भट्टारक सकलकीर्ति)** जैसे महत्त्वपूर्ण विशालकाय ग्रन्थों को विस्तृत हिन्दी टीका प्रस्तुत की है। ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः भगवान महावीर के २५०० वें परिनिर्वाण वर्ष और बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना–महामस्तकाभिषेक महोत्सव वर्ष के

पुण्य-प्रसंगों पर प्रकाशित होकर विद्वद्जनों में समादरणीय हुए हैं। इन ग्रन्थों की तैयारियों में कई बार तिलोयपण्णत्ती का अवलोकन करना होता था क्योंकि विषय की समानता है और साथ ही तिलोयपण्णत्ती प्राचीन ग्रन्थ भी है। 'सिद्धान्तसारदीपक' के प्रकाशन के बाद माताजी की यह भावना बनी कि तिलोयपण्णत्ती की अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ जुटा कर एक प्रामाणिक संस्करण विस्तृत हिन्दी टीका सहित प्रकाशित किया जाए। आप तभी से अपने संकल्प को मूर्त रूप देने में जुट गई और अनेक स्थानों से आपने हस्तलिखित प्रतियाँ भी मँगवा लीं। पर प्रतियों का मिलान करने से ज्ञात हुआ कि उत्तर भारत की लगभग सभी प्रतियाँ एक सी हैं। जो कमियाँ दिल्ली और बम्बई की प्रतियों में है, वे ही लगभग सब में हैं। अतः कुछ विशेष लाभ नहीं दिखाई दिया। अब दक्षिण भारत में प्रतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की गयी। संयोग से मूड़बिद्री मठ के भट्टारक स्वामी ज्ञानयोगी चारुकीर्तिजी का आगमन हुआ। वे उदयपुर माताजी के दर्शनार्थ भी पधारे। माताजी ने तिलोयपण्णत्ती के सम्बन्ध में चर्चा की तो वे बोले कि मूड़बिद्री में श्रीमती रमारानी जैन शोध संस्थान में प्रतियाँ हैं पर वे कन्नड़ लिपि में हैं अतः वहीं एक विद्वान् बैठाकर पाठान्तर भेजने की व्यवस्था करनी होगी। वहाँ जाकर उन्होंने पाठभेद भिजवाये भी परन्तु ज्ञात हुआ कि वहाँ की दोनों प्रतियाँ अपूर्ण हैं। इन पाठान्तरों में कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, कुछ छूटी हुई गाथाएँ भी इनमें मिली हैं अतः बड़ी व्यग्रता थी कि कोई पूर्ण प्रति मिल जाए। खोज के प्रयत्न चलते रहे तभी अशोकनगर उदयपुर में आयोजित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर श्रवणबेलगोला मठ के भट्टारक स्वामी कर्मयोगी चारुकीर्तिजी पधारे। उन्होंने बताया कि वहाँ एक पूर्ण प्रति है। शीघ्र ही लिप्यन्तरण मँगाने की योजना बनी और वहाँ एक विद्वान् रखकर लिप्यन्तरण मँगाया गया। यह प्रति काफी शुद्ध, विश्वसनीय और प्राचीन है। फलतः इसी प्रति को प्रस्तुत संस्करण की आधार प्रति बनाया गया है। यों अन्य सभी प्रतियों के पाठभेद टिप्पण में दिये हैं।

तिलोयपण्णत्ती विशालकाय ग्रन्थ है। पहले यह छोटे टाइप में दो भागों में छपा है। परन्तु विस्तृत हिन्दी टीका एवं चित्रों के कारण इसका कलेवर बहुत बढ़ जाने से इसे तीन खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनी। प्रस्तुत कृति (तीन महाधिकारों का) प्रथम खंड है। दूसरें खंड में केवल चौथा अधिकार है। तीसरे अर्थात् अंतिम खण्ड में शेष पाँच अधिकार हैं।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा इसके प्रकाशन का व्ययभार वहन कर रही है, एतदर्थ हम महासभा के अतीव आभारी हैं।

पूज्य माताजी का संकल्प आज मूर्त हो रहा है, यह हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। पूर्णतया समालोचक-दृष्टि से सम्पादित तो नहीं किन्तु अधिकाधिक प्रामाणिकता पूर्वक

सम्पादित संस्करण प्रकाशित करने का हमारा लक्ष्य आज पूरा हो रहा है, यह आत्मसन्तोष मेरे लिए महार्घ है।

३. हस्तलिखित प्रतिया का परिचय :

तिलोयपण्णत्ती का प्रस्तुत संस्करण निम्नलिखित प्रतियों के आधार से तैयार किया गया है—

(१) द—दिल्ली से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'द' प्रति है। इसके मुखपृष्ठ पर 'श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा, दिल्ली (लाला हरसुखराय सुगनचंदजी) नं. आ ८ (क) श्री नवामंदिरजी' अंकित है। यह १२"×५" आकार की है। कुल २०४ पत्र हैं। प्रत्येक पत्र में १४ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में ५० से ५२ वर्ण हैं। पूरी प्रति काली स्याही से लिखी गयी है। प्रत्येक पृष्ठ का अलंकरण है। एक ओर पृष्ठ के मध्यभाग में लाल रंग का एक वृत्त है, दूसरी ओर तीन वृत्त। एक स्थान पर मध्य में १६ गाथायें छूट गयी हैं जो अन्त में एक स्वतन्त्र पत्र पर लिख दी गयी हैं; साथ में यह टिप्पण है—'इति गाहा १६ त्रैलोक्यप्रज्ञप्तौ पश्चात् प्रक्षिप्ता:।" सम्पूर्ण प्रति बहुत सावधानी से लिखी हुई मालूम होती है तो भी अनेक लिपिदोष तो मिलते ही हैं। देखने में यह प्रति बम्बई की प्रति से प्राचीन मालूम पड़ती है।

आरम्भ में मङ्गल चिह्न के बाद प्रति इस प्रकार प्रारम्भ होती है—ॐ नमः सिद्धेभ्यः। प्रति के अन्त में लिपिकार की प्रशस्ति इस प्रकार है—

प्रशस्तिः स्वस्ति श्री सं० १५१७ वर्षे मार्ग्र सुदि ५ भौमनारे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवाः तत्पट्टालङ्कारभट्टारकश्रीजिनचन्द्रदेवाः। मु० श्रीमदनकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्मनरस्यंघकस्य खंडेलवालान्वये पाटणीगोत्रे सं० वी धू भार्या बहुश्री तत्पुत्र सा० तिहुणा भार्या तिहुणश्री सुपुत्राः देवगुरु- चरणकमलसंसेवनमधुकराः द्वादशव्रतप्रतिपालनतत्पराः सा० महिराजभ्रातृ ष्यौ राजसुपुत्रजालप। महिराजभार्या महणश्रीष्यौ राजभार्याष्यौ श्री सहिते त्पः एतद् ग्रन्थं त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिसिद्धान्तं लिखाप्य ब्र० नरस्यंघकृते कर्मक्षयनिमित्तेः प्रदत्तं ।।छ।।

यावज्जिनेन्द्रधर्मोऽयं लोकेस्मिन् प्रवर्तते।
यावत्सुरनदीवाहास्तावन्नन्दतु पुस्तकः ।।१।।

इदं पुस्तकं चिरं नंद्यात् ।।छ।। शुभमस्तु ।। लिखितं पं० नरसिंहेन ।।छ।। श्रीझुंझुणुपुरे लिखितमेतत्पुस्तकम् ।।छ।।

(पूर्व सम्पादन भी इसी प्रति से हुआ था।)

[२] **क**—कामां (भरतपुर) राजस्थान से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'क' प्रति है। यह कामां के श्री १००८ शान्तिनाथ दिगम्बर जैन खण्डेलवाल पंचायती दीवान मन्दिर से प्राप्त हुई है। यह १२½"×७" आकार की है और इसके कुल पत्रों की संख्या ३१६ है। प्रत्येक पत्र में १३ पंक्तियाँ हैं। प्रति पंक्ति में ३७ से ४० वर्ण हैं। लेखन में काली व लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। पानी एवं नमी का असर पत्रों पर हुआ दिखाई देता है तथापि प्रति पूर्णतः सुरक्षित और अच्छी स्थिति में है।

यह बम्बई प्रति की नकल ज्ञात होती है, क्योंकि वही प्रशस्ति ज्यों की त्यों लिखी गयी है। लिपिकाल का अन्तर है—

"संवत् १८१४ वर्षे मिती माघ शुक्ला नवम्यां गुरुवारे। इदं पुस्तकं लिपीकृतं कामावती नगर मध्ये। श्रुतं भूयात्॥ श्रीः॥

❀❀❀

[३] **ठ** इस प्रति का नाम 'ठ' प्रति है। यह डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल के सौजन्य से श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, मन्दिरजी ठोलियान, जयपुर से प्राप्त हुई है। इसके वेष्टन पर 'नं० ३३२, श्री त्रिलोकप्रज्ञप्ति प्राकृत' अंकित है। प्रति १२½"×५" आकार की है। कुल पत्र संख्या २८३ है परन्तु पत्र संख्या ८८ से १०३ और १५१ से २५० प्रति में उपलब्ध नहीं हैं।

पत्र संख्या १ से ८६ तक की लिपि एक सी है। पत्र ८७ एक ओर ही लिखा गया है। दूसरी ओर बिलकुल खाली है। इसके हाशिये में बायें कोने में १०३ संख्या अंकित है और दायें कोने में नीचे हाशिये में संख्या ८७ अंकित है। यह पृष्ठ अलिखित है।

पत्र संख्या १०४ से १५० और २५१ से २८३ तक के पत्रों की लिपि भी भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार इस प्रति में तीन लिपियाँ हैं। प्रति अच्छी दशा में है। कागज भी मोटा और अच्छा है। पत्र संख्या १०४ से १५० तक के हाशिये में बायीं तरफ ऊपर 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' लिखा गया है। शेष पत्रों में नहीं लिखा है।

इसका लिपि काल ठीक तरह से नहीं पढ़ा जाता। उसे काट कर अस्पष्ट कर दिया है, वह १८३० भी पढ़ा जा सकता है और १८३१ भी। प्रशस्ति भी अपूर्ण है—

संवत् १८३१ चतुर्दशीतिथौ रविवासरे ....
तैलाद्रक्षेद्जलाद्रक्षेत् रक्षेद् शिथिलबन्धनात्।
मूर्खहस्ते न दातव्या, एवं वदति पुस्तगा ॥छ॥ श्री........ श्री ......
श्री .... श्री........ श्री........ श्री........ श्री ....श्री ....।

❀❀❀

[४] ज—इस प्रति का नाम 'ज' प्रति है। यह भी डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल के सौजन्य से श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, मन्दिरजी ठोलियान, जयपुर से प्राप्त हुई है। इसका आकार १३"×५" है। इसमें कुल २०९ पत्र हैं। १८ वें क्रम के दो पत्र हैं और २१ वाँ पत्र नहीं है अतः गाथा संख्या २२६ से २७२ (प्रथम अधिकार) तक नहीं है। पृष्ठ २२ तक की लिपि एकसी है, फिर भिन्नता है। पत्र संख्या १८२ भी नहीं है जबकि १८५ संख्या वाले दो पत्र हैं।

इस प्रति में प्रशस्ति पत्र नहीं है।

* * *

[५] य—इस प्रति का नाम 'य' प्रति है। यह श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, ब्यावर से प्राप्त हुई है। वहाँ इसका वि० नं० १०३६ और जन० नं० ……अंकित है। यह ११½"×६¼" आकार की है। कुल पत्र २४६ हैं। प्रत्येक पत्र में बारह पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में ३८-३९ अक्षर हैं। पत्रों की दशा ठीक है, अक्षर सुपाठ्य हैं एवं सुन्दरतापूर्वक लिखे गये हैं। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' से ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ है। अन्त में प्रशस्ति इस प्रकार लिखी गयी है--

संवत् १७४५ वर्षे शाके १६१० प्रवर्त्तमाने आषाढ वदि ५ पंचमी श्रीशुक्रवासरे। संग्राम-पुरेमथेनविद्याविनोदेनालेखि प्रतिरियं समाप्ता। पं० श्रीबिहारीदासशिष्य घासीरामदयाराम पठनार्थम्।

श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन झालरापाटन इत्यस्यार्थं पन्नालाल सोनीत्यस्य प्रबन्धेन लेखक नेमिचन्द्र माले श्रीपालवासिनालेखि त्रिलोकसार प्रज्ञप्तिरियम्। विक्रमार्के १९९४ तमे वर्षे वैशाखकृष्णपक्षे सप्तम्यां तिथौ रविवासरे।

(फोटोकापी करा कर इसका मात्र चतुर्थाधिकार मंगाया गया है)

यहाँ तिलोयपण्णत्ती की एक अन्य हस्तलिखित प्रति और भी है जिसका वि० नं० ३८९ और जन० नं० ४११ है। इसमें ५१८ पत्र हैं। पत्र का आकार ११"×४" है। प्रत्येक पत्र में ९ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में ३१-३२ अक्षर। पत्र जीर्ण हैं, अक्षर विशेष सुपाठ्य नहीं हैं। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' से ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ हुआ है और अन्त में लिखा है—

संवत् १७४५ वर्षे शाके १६१० प्रवर्तमाने आषाढ वदि ५ पंचमी श्री शुक्रवासरे। संग्रामपुरे मथेन विद्याविनोदेनालेखि प्रतिरियं समाप्ता।

पं० श्री बिहारीलालशिष्य घासीरामदयारामपठनार्थम्। श्रीरस्तु कल्याणमस्तु।
उपर्युक्त प्रति इसी प्रति की प्रतिलिपि है।

[६] ब—बम्बई से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'ब' प्रति है। श्री ऐलक पन्नालाल जैन सरस्वती भवन, सुखानन्द धर्मशाला बम्बई के संग्रह की है। यह प्रति देवनागरीलिपि

में देशी पुष्ट कागज पर काली स्याही से लिखी गयी है। प्रारम्भिक व समाप्तिसूचक शब्दों, दण्डों, संख्याओं, हाशिये की रेखाओं तथा यत्र-तत्र अधिकारशीर्षकों के लिए लाल स्याही का भी उपयोग किया गया है। प्रति सुरक्षित है और हस्तलिपि सर्वत्र एकसी है।

यह प्रति लगभग ६" चौड़ी, १२½" लम्बी तथा लगभग २½" मोटी है। कुल पत्रों की संख्या ३३६ है। प्रथम और अन्तिम पृष्ठ कोरे हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १० पंक्तियाँ हैं और प्रतिपंक्ति में लगभग ४०–४५ अक्षर हैं। हाशिये पर शीर्षक है—त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति। मंगलचिह्न के पश्चात् प्रति के प्रारम्भिक शब्द हैं—**ॐ नमः सिद्धेभ्यः**। ३३३वें पत्र पर अन्तिम पुष्पिका है—**तिलोयपण्णत्ती समत्ता**। इसके बाद संस्कृत के विविध छन्दों में रचित १२४ श्लोकों की एक लम्बी प्रशस्ति है जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

इति सूरि श्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिता प्रशस्ता प्रशस्तिः समाप्ता। संवत् १८०३ का मिती आसोजवदि १ लिखितं मया सागरश्री सवाईजयपुरनगरे। श्रीरस्तुः।।कल्पां।।

इसके बाद किसी दूसरे या हल्के हाथ से लिखा हुआ वाक्य इस प्रकार है—'पोथी त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति की भट्टारकजी ने साधन करवी नै दीनी दूसरी प्रति मीती श्रावण सुदि १३ संवत् १६५६।'

इस प्रति के प्रथम ८ पत्रों के हाशिये पर कुछ शब्दों व पंक्तिखंडों की संस्कृत छाया है। ५ वें पत्र पर टिप्पण में त्रैलोक्यदीपक से एक पद्य उद्धृत है। आदि के कुछ पत्र शेष पत्रों की अपेक्षा अधिक मलिन हैं।

लिपि की काफी त्रुटियाँ हैं प्रति में। गद्य भाग का और गाथाओं का भी पाठ बहुत भ्रष्ट है। कुछ गद्यभाग में गणनांक लिखे हैं मानों वे गाथायें हों।

(पूर्व सम्पादन इसी प्रति से हुआ था।)

[७] उ—उज्जैन से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'उ' प्रति है। इसके मात्र चतुर्थ अधिकार की फोटोकॉपी करायी गयी थी। इसका आकार १३½"×८½" है। प्रत्येक पत्र में १० पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ४४—४५ वर्ण हैं। काली स्याही का प्रयोग किया गया है। प्रति पूर्णतः सुरक्षित और अच्छी दशा में है।

यह बम्बई प्रति की ही नकल है क्योंकि वही प्रशस्ति ज्यों-की-त्यों लिखी गयी है। लिपिकाल का भी अन्तर नहीं दिया गया है।

मूड़बिद्री की प्रतियाँ :

ज्ञानयोगी स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी के सौजन्य से श्रीमती रमारानी जैन शोधसंस्थान, श्री दिगम्बर जैन मठ, मूड़बिद्री से हमें तिलोयपण्णत्ती की हस्तलिखित

कानड़ी प्रतियों से पं० देवकुमार जी जैन शास्त्री ने पाठान्तर भिजवाये थे। उन प्रतियों का परिचय भी उन्होंने लिख भेजा है, जो इस प्रकार है—

कन्नड़प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची पृ० सं० १७०-१७१

विषय : लोकविज्ञान

ग्रन्थ सं० ४६८ :

(१) तिलोयपण्णत्ती : [त्रिलोक प्रज्ञप्ति]—आचार्य यतिवृषभ। पत्र सं० १५१। प्रतिपत्र पंक्ति–८। अक्षर प्रतिपंक्ति ६६। लिपि-कन्नड़। भाषा-प्राकृत। विषय लोकविज्ञान। अपूर्ण प्रति। शुद्ध है; जीर्णदशा है। इसमें संदृष्टियाँ बहुत सुन्दर एवं स्पष्ट हैं। टीका नहीं है।

ॐ नमः सिद्धमर्हंतम्।। श्रीसरस्वत्यै नमः।। श्रीगणेशाय नमः।। श्रीनिर्ग्रन्थविशालकीर्तिमुनये नमः।। इस प्रकार के मंगलाचरण से ग्रन्थारम्भ होता है।

इस प्रति के उपलब्ध सभी ताड़पत्रों के पाठभेद भेजने के बाद पण्डितजी ने लिखा है—"यहाँ तक मुद्रित (सोलापुर) तिलोयपण्णत्ती भाग १ का पाठान्तर कार्य समाप्त होता है। मुद्रित तिलोयपण्णत्ती भाग–२ में ताड़पत्र प्रति पूर्ण नहीं है, केवल नं० १६ से ४३ तक २५ ताड़पत्र मात्र मिलते हैं। शायद बाकी ताड़पत्र लुप्त, खण्डित या अन्य ग्रन्थों के साथ मिल गये हों। यह खोज करने की चीज है।"

ग्रन्थ सं० ६४३ :

(२) तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) : आचार्य यतिवृषभ। पत्र संख्या ८८। पंक्तिप्रतिपत्र ७। अक्षर प्रतिपंक्ति ४०। लिपि कन्नड़। भाषा प्राकृत। तिलोयपण्णत्ती का एक विभाग मात्र इसमें है। शुद्ध एवं सामान्य प्रति है। इसमें भी संदृष्टियाँ हैं।

जैनबिद्री (श्रवणबेलगोला) से प्राप्त प्रति का परिचय :

कर्मयोगी स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी महाराज के सौजन्य से श्रवणबेलगोला के श्रीमठ के ग्रन्थ भण्डार में उपलब्ध तिलोयपण्णत्ती की एक मात्र पूर्ण प्रति का देवनागरीलिप्यन्तरण श्रीमान् पं० एस० बी० देवकुमार शास्त्री के माध्यम से हमें प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत संस्करण की आधार प्रति यही है। प्रति प्रायः शुद्ध है और संदृष्टियों से परिपूर्ण है। इस प्रति का पण्डितजी द्वारा प्रेषित परिचय इस प्रकार है—

श्रवणबेलगोला के श्रीमठ के ग्रन्थ-भण्डार में यह प्रति एक ही है। ग्रन्थ ताड़पत्रों का है; इसमें अक्षरों को सूचीविशेष से उकेरा न जाकर स्याही से लिख दिया गया है। सीधे पंक्तिवार

अक्षर लिखे गये हैं। अक्षर सुन्दर हैं। कुछ अक्षरों को समान रूप से थोड़ा सा अन्तर रखकर लिखा गया है। उस अन्तर को ठीक-ठीक समझने में बड़ी कठिनाई होती है।

ताड़पत्र की इस प्रति में कुल पत्र संख्या १७४ हैं। प्रति पूर्ण है। कहीं-कहीं पत्रों को अगल-बगल में कीड़ों ने खा लिया है या पत्र भी टूट गये हैं। सात पत्रों में क्रमसंख्या नहीं है। उस जगह को कीड़ों ने खा लिया है। पत्र तो मौजूद हैं, उन पत्रों की संख्या है—१०१, १०६, १३६, १३७, १४६, १५५ और १५६। एक पत्र में बीच का १/३ भाग बचा है। पत्रों की लम्बाई १८ इंच और चौड़ाई ३ १/३ इंच है। प्रत्येक पत्र में ६ या १० पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में ७७-७८ अक्षर हैं। एक पत्र में करीब ४६ गाथायें हैं।

कन्नड़ से देवनागरी में लिप्यन्तरण करते हुए लिप्यन्तरकर्त्ता उक्त पण्डितजी को कई कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी हैं। कतिपय कठिनाइयों का उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—

१. 'च' और 'व' को एक सा लिखते है. सूक्ष्म अन्तर रहता है; इसके निश्चय में कष्ट होता है।

२. इत्व और ईत्व का कुछ फरक नही करते; ऐसी जगह ह्रस्व दीर्घ का निश्चय करना कठिन होता है।

३. संयुक्ताक्षर लिखना हो तो जिस अक्षर का द्वित्व करना हो तो उस अक्षर के पीछे शून्य लगा देते हैं; उदाहरणार्थ 'घम्मा' लिखना हो तो 'घंमा' ऐसा लिख देते हैं। जहाँ 'घंमा' ही पढ़ना हो तो कैसे लिखा जाये, इसकी प्रत्येक 'व्यवस्था' ताड़पत्र की लिखावट में नहीं है। जहाँ 'वंसाए' लिखा हो वहाँ 'वस्साए' क्यों न पढ़ा जाये इसकी भी अलग कोई व्यवस्था नहीं है।

४. मूल प्रति में किसी भी गाथा की संख्या नहीं दी गयी है।

प्रति के अन्तिम पत्र का पाठ इस प्रकार है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुण्णहदवसहं।
दुसहपरिसहवसहं, जदिवसहं धम्मसुत्तपाठर वसह ॥

एवमाइरियपरंपरागय तिलोयपण्णत्तीए सिद्धलोय सरू (व) णिरूवण पण्णत्ती णाम णवमो महाहियारो समत्तो। ✿ ✿ ✿ ✿

मग्गप्पभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिदग..........वरं सोहंतु बहुस्सुदाइरिया ॥१॥

चुण्णसरूवं अट्ठं करपदमहमाण किं जं त।
अट्ठसहस्सपमाणं, तिलोयपण्णत्तिगामाये ॥२॥ ✿ ✿ ✿

जैनबद्री की ताड़पत्रीय प्रति के पत्र सं० ४ का फोटो :

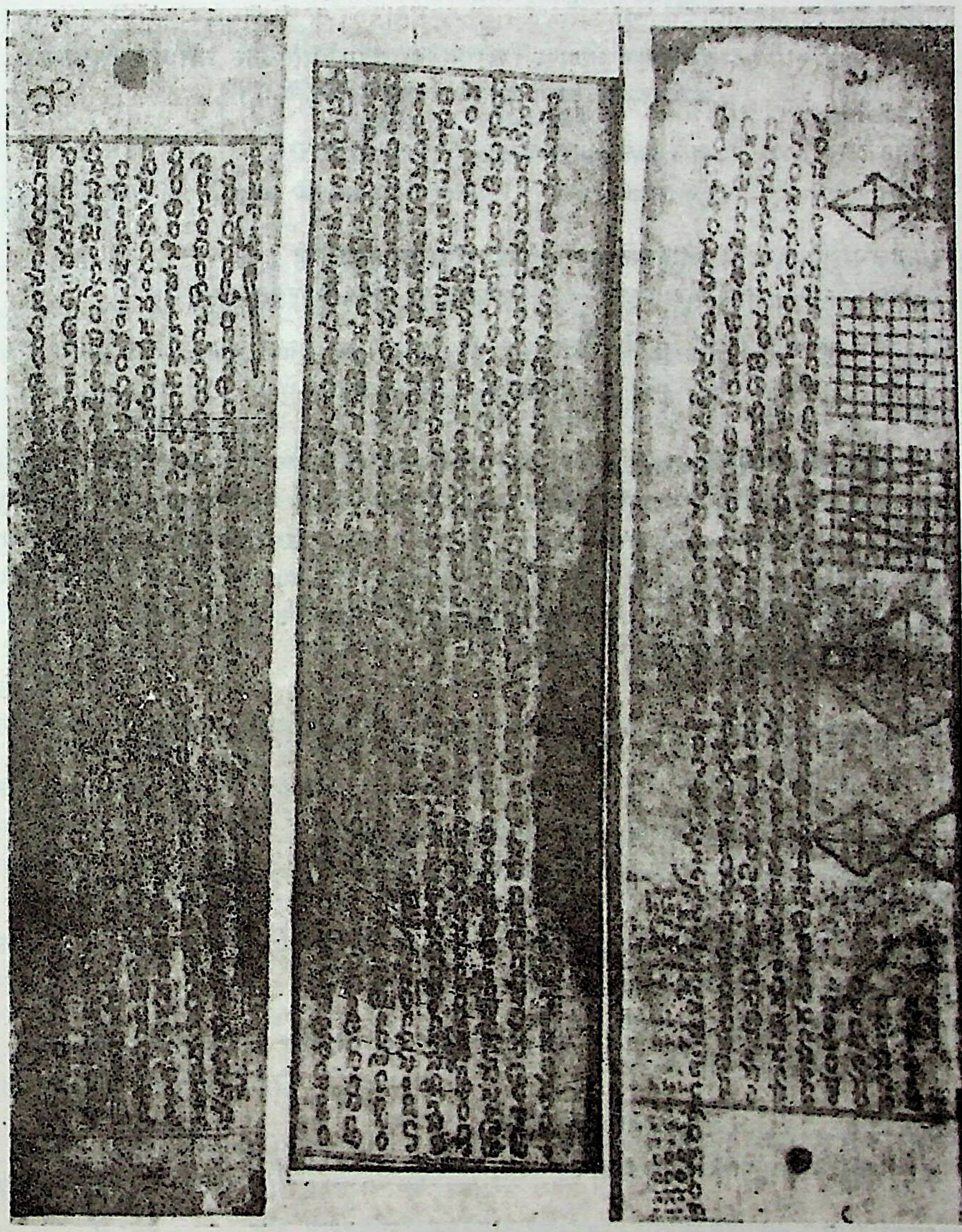

सभी ताड़पत्र १८'' लम्बे श्रौर ३⅓'' चौड़े हैं । ताड़पत्र संख्या ४ की तीन टुकड़ों में ली हुई फोटो ऊपर मुद्रित है ।
ताड़पत्र को मध्य के हिस्से में कीड़ों ने खा लिया है । परन्तु लिपि, संदृष्टि और चित्र सब कुछ स्पष्ट हैं ।

णट्ठपमादं पणट्ठ—अट्ठमदं, दिट्ठ सयलपरमट्ठं ।
णिट्ठुरवयणविरुमुक्कं, णमामि अमरकित्तिमुणिं ।। ३ ।।

वीरमुहकमलणिग्गह, विडलामलसुदसमुद्दवड्ढदलं ।
ससधरकरकिरणाभं; णमामि तं अमरकित्तिमुणि ।।४।।

पंचमहव्वयपुण्णं तिसल्लविरदं तिगुत्तिजुत्तं च ।
सुयसागरपारंगद सुरकित्तिमुणिदमभिवंदे ।।५।।

दुद्धरदुम्मतकद्दम सोसणतरणिं समत्तसत्तविदं ।
सरणं वजामि बहुदुक्खसलिलपूरिद संसार समुद्दबुड्डणभएण ।।६।।

मिच्छत्त तिमिर भाणुं विगसिदवरभव्व कमल मंडलियं ।
सुद्धोपयोगजुत्तं, सुरकित्तिमुणीसरं वंदे ।।७।।

सिरिमदुअखंडिदविवहाखंडलमंडलियमणिमउडमरीचिपिंजरिदभगवदरुहप्परमेसरमुहपदुमविणिग्गदसत्तभंगिणीपरवादिपादप्मूलं कसवचण सकिलपक्खालिद कम्ममलपंकेहिं । णिखिल सत्थ साणोपलकसणसेमुसीमुसितपुरुहूदपुरोहिद गव्वेहिं । दुव्वारवादिपरिसदवलेवपव्वदपाडणपगडिदस्सद्दादवज्जेहिं । उदारदारोदरदरिणिवेसिदासापिसुणपिसाची वस गदासेस पुरुस परिसदुपरिवेसिद पुरुसत्तमाभासभासिदमिच्छावादांधकारणिरुहरणसहस्सकिरहेहिं । रायराजगुरुमंडलाइरिय महावादवादीसर सकल विद्दज्जण-चक्कवट्ठि वादिदविसालकित्तियति...... .... सिरिमदमरकित्तियदीसरपियसिस्सभडारगधम्मभूसणेहिं ।

परिपागपेसलं विमलमुत्ताफलसारिच्छ अक्खरेहिं सगवरुस १२६६ दिम स्वभाणुसंवच्छर भद्दपसुद्द ५ सो दिणे सुरताण पातसहां...............

विजयरज्जे अोडगे अमहापुरे अणंतसंसारविच्छेदणकर अणंततित्थयपादमूले
अणवरद अप्पभावणत्थं लिखिदमिदं तिलोयपण्णत्तीणाम परमागमं महामुणिसेव्वमाणं समत्तो ।। ⁂

...............लं सुबोधकमल सभंगवीचीचयं,
गंभीरं णिखिलट्ठपालिकलितं सच्छाधु हंसाकुलं ।
पण्णाधीसपडिट्ठ पाथगरवगट्ठाणण्णिदजीया—
दुद्दुगुग्गदितापवृद्धिहणणं जैणागमक्खं सरो ।। ८ ।।

जिणं णुरु............सयं धणुप्पमाणो सुद्धफलिहमयं ।
हरिपुरणाहं तं संसारविसमविसरुक्खमूल उप्पडणणिउणचंदप्पहं वंदे ।।९।।

हरिहरहिरण्यगर्भसंत्रासितमदनमदगजवज्रांकुशस्तवनकृतार्थीकृतसकलविनेयजनाय हरि . ... नमः ।।

श्रीमानस्ति समस्तदोषरहित प्रख्यातलोकत्रया—
धीशाभ्रेडित पादपद्मयुगलः सज्ज्ञानतेजोनिधिः ।

दुर्वारस्मरगर्वपर्वतपविर्मिथ्यादृगंधुभ्रमत्—
सत्योद्धारणधीरणैकधिषणो सो सन्मतीशो जिनः ॥१०॥

सकलजगदानंदनकरं अभिनन्दनं णमः ॥

(यहीं ग्रन्थ का अन्त हुआ है ।)

४. सम्पादन विधि :

किसी भी प्राचीन रचना का हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर सम्पादन करना कोई आसान काम नहीं है। मुद्रित प्रति सामने होते हुए भी कई बार पाठान्तरों से निर्णय लेने में बहुत श्रम और समय लगाना पड़ा है इसमें, नतमस्तक हूँ तिलोयपण्णत्ती के प्रथम सम्पादकों की बुद्धि एवं निष्ठा के समक्ष। सोचता हूँ उन्हें कितना अपार अथक परिश्रम करना पड़ा होगा। क्योंकि एक तो इसका विषय ही जटिल है, दूसरे उनके सामने तो हस्तलिखित प्रतियों की सामग्री भी कोई बहुत सन्तोषजनक नहीं थी। उन्हें किसी टीका, छाया अथवा टिप्पण की भी सहायता सुलभ नहीं थी। मुझे तो हिन्दी अनुवाद, सम्भवपाठ, विचारणीय स्थल आदि से पूरा मार्गदर्शन मिला है।

प्रस्तुत संस्करण का मूलाधार श्रवणवेलगोला की ताड़पत्रीय कानड़ी प्रतिलिपि है। लिप्यन्तरण श्री एस० बी० देवकुमार शास्त्री ने भिजवाये हैं। उसी के आधार पर सारा सम्पादन हुआ है। मूड़बिद्री की प्रति भी लगभग इस प्रति जैसी ही है, इसके पाठान्तर श्री देवकुमारजी शास्त्री ने भिजवाये थे।

तिलोयपण्णत्ती एक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ है और इसके अधिकांश पाठक भी धार्मिक रुचि सम्पन्न श्रावक-श्राविका होंगे या फिर स्वाध्यायशील मुनि-आर्यिका आदि। इन्हें ग्रन्थ के विषय में अधिक रुचि होगी, ये भाषा की उलझन में नहीं पड़ना चाहेंगे, यही सोचकर विषय के अनुरूप सार्थक पाठ ही स्वीकार करने की दृष्टि रही है सर्वत्र। प्रतियों के पाठान्तर टिप्पण में अंकित कर दिये हैं। क्योंकि हिन्दी टीका के विशेषार्थ में तो सही पाठ या संशोधित पाठ की ही संगति बैठती है, विकृत पाठ की नहीं। कहीं-कहीं सब प्रतियों में एक सा विकृत पाठ होते हुए भी गाथा में शुद्ध पाठ ही रखा गया है।

गणित और विषय के अनुसार जो संदृष्टियाँ शुद्ध हैं, उन्हें ही मूल में ग्रहण किया गया है, विकृत पाठ टिप्पणी में दे दिये हैं।

पाठालोचन और पाठ-संशोधन के नियमों के अनुसार ऐसा करना यद्यपि अनुचित है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से इसे अतीव उपयोगी जानकर अपनाया गया है।

कानड़ी लिपि से लिप्यन्तरणकर्त्ता को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उनका उल्लेख प्रति के परिचय में किया गया है; हमारे समक्ष तो उनकी ताजा लिखी देवनागरी लिपि ही थी।

प्राकृत भाषा प्रभेदपूर्ण है और इसका व्याकरण भी विकसनशील रहा है अतः बदलते हुए नियमों के आधार पर संशोधन न कर प्राचीन शुद्ध रूप को ही रखने का प्रयास किया है। इस कार्य में श्री हरगोविन्द शास्त्री कृत पाइअसद्दमहण्णवो से पर्याप्त सहायता मिली है। यथासम्भव प्रतियों का शुद्ध पाठ ही संरक्षित हुआ है।

प्रथम बार सम्पादित प्रति में सम्पादकद्वय ने जो सम्भवनीय पाठ सुझाये थे उनमें से कुछ ताड़पत्रीय कानड़ी प्रतियों में ज्यों के त्यों मिल गये हैं। वे तो स्वीकार्य हुए ही हैं। जिन गाथाओं के छूटने का संकेत सम्पादक द्वय ने किया है, वे भी इन कानड़ी प्रतियों में मिली हैं और उनसे अर्थ-प्रवाह को संगति बैठी है। प्रस्तुत संस्करण में अब कल्पित, सम्भवनीय या विचारणीय स्थल अल्प रह गये हैं तथापि यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि व्यवस्थित पाठ ही ग्रन्थ का शुद्ध और अन्तिम रूप है। उपलब्ध पाठों के आधार पर अर्थ की संगति को देखते हुए शुद्ध पाठ रखना ही बुद्धि का प्रयास रहा है। आशा है, भाषाशास्त्री और पाठविवेचक अपने नियम की शिथिलता देख कासेंगे नहीं अपितु व्यावहारिक उपयोगिता देख उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

५. प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएँ :

तिलोयपण्णत्ती के प्रथम तीन अधिकारों का यह पहला खण्ड है। इसमें केवल मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद ही नहीं है अपितु विषय सम्बन्धी विशेष विवरण की जहाँ भी आवश्यकता पड़ी है वह विस्तारपूर्वक विशेषार्थ में दिया गया है। गणितसम्बन्धी प्रमेयों को, जहाँ भी जटिलता दिखाई दी है, पूर्णतः हल करके रखा गया है। संदृष्टियों का भी पूरा खुलासा किया गया है। इस संस्करण में मूल संदृष्टियों की संख्या हिन्दी अर्थ के बाद अंकों में नहीं दी गयी है किन्तु उन संख्याओं को तालिकाओं में दर्शाया गया है। एक अन्य विशेषता यह भी है कि चित्रों और तालिकाओं-सारणियों के माध्यम से विषय को सरलता पूर्वक ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। पहले अधिकार में ५० चित्र हैं, दूसरे में दो और तीसरे में एक, इस प्रकार कुल ५३ चित्र हैं।

पहले अधिकार में पूर्वप्रकाशित संस्करण में २८३ गाथायें थीं। इसमें तीन नयी गाथाएँ या छूटी हुई गाथाएँ (सं० २०९, २१९, २३७) जुड़ जाने से अब २८६ गाथायें हो गयी हैं। इसी प्रकार दूसरे महाधिकार में ३६७ गाथाओं की अपेक्षा ३७१ (१९४, ३३१, ३३२, ३६५ जुड़ी हैं) और तीसरे महाधिकार में २४३ गाथाओं की अपेक्षा २५४ गाथाएँ हो गयी हैं। तीसरे अधिकार में नयी जुड़ी गाथाओं की संख्या इस प्रकार है—१०७, १८६, १८७, २०२, २२२ से २२७ और ६३२-३३। इस प्रकार कुल १९ गाथाओं के जुड़ने से तीनों अधिकारों की कुल गाथाएँ ८९३ से बढ़ कर ९१२ हो गई हैं।

प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक गाथा के विषय को निर्दिष्ट करने के लिए उपशीर्षकों की योजना की गयी है और एतद् अनुसार ही विस्तृत विषयानुक्रमणिका तैयार की गयी है।

(क) प्रथम महाधिकार :

विस्तृत प्रस्तावना पूर्वक लोक का सामान्य निरूपण करने वाला प्रथम महाधिकार पाँच गाथाओं के द्वारा पंच परमेष्ठियों की वन्दना से प्रारम्भ होता है किन्तु यहाँ अरहन्तों के पहले सिद्धों को नमस्कार किया गया है, यह विशेषता है। छठी गाथा में ग्रंथ रचना की प्रतिज्ञा है और ७ से ८१ गाथाओं में मंगल, निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्त्ता की अपेक्षा विशद प्ररूपणा की गयी है। यह प्रकरण श्री वीरसेन स्वामिकृत षट्खण्डागम की धवला टीका (पु० १ पृ० ८–७१) से काफी मिलता-जुलता है किन्तु जिस गाथा से इसका निर्देश किया है, वह गाथा तिलोयपण्णत्ती से भिन्न है-

मंगल–णिमित्त–हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं ।
वागरिय छ प्पि पच्छा, वक्खाणउ सत्थमाइरियो ।।धवला पु० १/पृ० ७

गाथा ८२-८३ में ज्ञान को प्रमाण, ज्ञाता के अभिप्राय को नय और जीवादि पदार्थों के संव्यवहार के उपाय को निक्षेप कहा है। गाथा ८५--८७ में ग्रन्थ-प्रतिपादन की प्रतिज्ञा कर ८८-९० में ग्रंथ के नव अधिकारों के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं।

गाथा ९१ से १०१ तक उपमा प्रमाण के भेद-प्रभेदों से प्रारम्भ कर पल्य, स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु आदि के स्वरूप का कथन किया गया है। अनन्तर १०२ से १३३ गाथा तक कहा गया है कि अनन्तानन्त परमाणुओं का उवसन्नासन्न स्कन्ध, आठ उवसन्नासन्नों का सन्नासन्न, आठ सन्नासन्नों का त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुओं का त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओं का रथरेणु, आठ रथरेणुओं का उत्तमभोगभूमिजबालाग्र, इसी प्रकार उत्तरोत्तर आठ-आठ गुणित मध्यभोगभूमिजबालाग्र, जघन्य-भोगभूमिजबालाग्र, कर्मभूमिजबालाग्र, लीख, जूं, जौ और उत्सेधांगुल होता है। पाँच सौ उत्सेधांगुलों का एक प्रमाणांगुल होता है। भरतऐरावत क्षेत्र में भिन्न-भिन्न काल में होने वाले मनुष्यों का अंगुल आत्मांगुल कहा जाता है। इनमें उत्सेधांगुल से नर-नारकादि के शरीर की ऊँचाई और चतुर्निकाय देवों के भवन व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है। द्वीप-समुद्र, शैल, वेदी, नदी, कुण्ड, जगती एवं क्षेत्रों के विस्तारादि का प्रमाण प्रमाणांगुल से ज्ञात होता है। भृंगार, कलश, दर्पण, भेरी, हल, मुसल, सिंहासन एवं मनुष्यों के निवासस्थान व नगरादि तथा उद्यान आदि के विस्तारादि का प्रमाण आत्मांगुल से बतलाया जाता है। योजन का प्रमाण इस प्रकार है—६ अंगुलों का पाद, २ पादों की वितस्ति, २ वितस्तियों का हाथ, २ हाथ का रिक्कु, २ रिक्कुओं का धनुष, २००० धनुष का कोस और ४ कोस का एक योजन होता है।

उपर्युक्त वर्णन करने के बाद ग्रन्थकार अपने प्रकृतविषय—लोक के सामान्य स्वरूप—का कथन करते हैं। अनादिनिधन व छह द्रव्यों से व्याप्त लोक—अधः, मध्य और ऊर्ध्व के भेद से विभक्त है। ग्रन्थकार ने इनका आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल व घनफल आदि विस्तृत रूप में वर्णित किया है। अधोलोक का आकार वेत्रासन के समान, मध्यलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के ऊर्ध्व भाग के समान और ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के समान है। (गा. १३०–१३८)। आगे तीनों लोकों में से प्रत्येक के सामान्य, दो चतुरस्र (ऊर्ध्वायत और तिर्यगायत), यव, मुरज,

यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिकटक ये आठ-आठ भेद करके उनका पृथक्-पृथक् घनफल निकाल कर बतलाया है। सम्पूर्ण विषय जटिल गणित से सम्बद्ध है जिसका पूर्ण खुलासा प्रस्तुत संस्करण में विदुषी टीकाकर्त्री माताजी ने चित्रों के माध्यम से किया है। रुचिशील पाठक के लिए अब यह जटिल नहीं रह गया है। गाथा ९१ की संदृष्टि (≡ १६ ख ख ख) को विशेषार्थ में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है।

महाधिकार के अन्त में तीन वातवलयों का आकार और भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनकी मोटाई का प्रमाण (२७१—२८५) बतलाया गया है। अन्त में तीन गद्य खण्ड हैं। प्रथम गद्यखण्ड लोक के पर्यन्तभागों में स्थित वातवलयों का क्षेत्रप्रमाण बताता है। दूसरे गद्यखण्ड में आठ पृथिवियों के नीचे स्थित वातक्षेत्रों का घनफल निकाला गया है। तीसरे गद्यखण्ड में आठ पृथिवियों का घनफल बतलाया है। वातवलयों की मोटाई दर्शाने के लिए ग्रन्थकार ने 'लोकविभाग' ग्रन्थ से एक पाठान्तर (गा.२८४) भी उद्धृत किया है, अन्त में कहा है कि वातरुद्ध क्षेत्र और आठ पृथिवियों के घनफल को सम्मिलित कर उसे सम्पूर्ण लोक में से निकाल देने पर शुद्ध आकाश का प्रमाण प्राप्त होता है। मंगलाचरणपूर्वक ग्रन्थ का अन्त होता है।

इस अधिकार में ७ करणसूत्रों (गा. ११७, १६५, १७६, १७७, १८१, १९३, १९४,) का उल्लेख हुआ है तथा गा. १९७-९९ और २६४-६६ के भावों को संक्षेप में व्यक्त करने वाली दो सारणियाँ बनायी गयी हैं।

मूड़बिद्री और जैनबिद्री में उपलब्ध ताड़पत्रीय प्रतियों में गाथा १३८ के बाद दो गाथाएँ और मिलती हैं किन्तु इनका प्रसंग बुद्धिगम्य न होने से इनका उल्लेख अध्याय के अन्तर्गत नहीं किया गया है। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

वासुच्छेहायामं, सेढि—पमाणेण ठावये खेत्तं ।
तं मज्झं बहुलादो, एक्कपदेसेण गेण्हिदो पदरं ।। |≡|
गहिदूण घवट्ठावि य, रज्जू सेढिस्स सत्त भागोत्ति ।
तस्स य वासायामो, कायव्वा सत्त खडाणि ।।

(ख) द्वितीय महाधिकार :

नारकलोक नाम के इस महाधिकार में कुल ३७१ पद्य हैं। गद्य-भाग नहीं है। चार इन्द्रवज्रा और एक स्वागता छन्द है, शेष ३६६ गाथाएँ हैं। मंगलाचरण में अजितनाथ भगवान को नमस्कार कर ग्रन्थकार ने आगे की चार गाथाओं में पन्द्रह अन्तराधिकारों का निर्देश किया है।

पूर्वप्रकाशित संस्करण से इस अधिकार में चार गाथाएँ विशेष हैं जो द और ब प्रतियों में नहीं हैं। ग्रन्थकार के निर्देशानुसार १५ वें अन्तराधिकार में नारक जीवों में योनियों की प्ररूपणा वर्णित है, यह गाथा छूट गयी थी। कानड़ी प्रतियों में यह उपलब्ध हुई है (गाथा सं० ३६५)। इसी प्रकार नरक के दुःखों के वर्णन में भा गाथा सं० ३३१ और ३३२ विशेष मिली हैं।

पूर्व प्रकाशित संस्करण के पृ. ८२ पर मुद्रित गाथा १८८ में अर्ध योजन के छह भागों में से एक भाग कम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल कहा गया है, जो गणित की दृष्टि से वैसा नहीं है। कन्नड़ प्रति के पाठभेद से प्रस्तुत संस्करण के पृ० २०८ पर इसे सही रूप में रखा गया है। छठी पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों के अन्तराल का कथन करने वाली गाथा भी पूर्व संस्करण में नहीं थी, वह भी कानड़ी प्रतियों में मिली है। (गाथा सं० १९४)। इस प्रकार कमियों की पूर्ति होकर यह अधिकार अब पूर्ण हुआ ऐसा माना जा सकता है। पूर्वमुद्रित संस्करण में गाथा ३४५ का हिन्दी अनुवाद करते हुए अनुवादक महोदय ने लिखा है कि—"रत्नप्रभा पृथिवी से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा ग्लानिकर **अन्न आहार होता है।**" यह अर्थ ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि नरकों में अन्नाहार है ही नहीं। प्रस्तुत संस्करण में टीकाकर्त्री माताजी ने इसका अर्थ 'अन्य प्रकार का ही आहार' (गाथा ३४८) किया है। यह संगत भी है। पूज्य माताजी ने ७ सारणियों और दो चित्रों के माध्यम से इस अधिकार को और सुबोध बनाया है।

ग्रन्थकर्त्ता आचार्य ने पूरी योजनापूर्वक इस अधिकार का गठन किया है। गाथा ६-७ में त्रसनाली का निर्देश है। गाथा ७-८ में प्रकारान्तर से उपपाद और मारणान्तिक समुद्घात में परिणत त्रस और लोकपूरण समुद्घातगत केवलियों की अपेक्षा समस्तलोक को ही त्रसनाली कहा है। गाथा ९ से १९५ तक नारकियों के निवासक्षेत्र—सातों पृथिवियों में स्थित इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के नाम, विन्यास, संख्या विस्तार, बाहल्य एवं स्वस्थान–परस्थान रूप अन्तराल का प्रमाण निरूपित है। गाथा १९६-२०२ में नारकियों की संख्या, २०३-२१६ में उनकी आयु, २१७-२७१ में उनका उत्सेध तथा गाथा २७२ में उनके अवधिज्ञान का प्रमाण कहा है। गाथा २७३-२८४ में नारकी जीवों में सम्भव गुणस्थानादि बीस प्ररूपणाओं का निर्देश है। गाथा २८५–२८७ में नरकों में उत्पद्यमान जीवों की व्यवस्था, गाथा २८८ में जन्म-मरण के अन्तराल का प्रमाण, गाथा २८९ में एक समय में जन्म-मरण करने वालों का प्रमाण, गाथा २९०-२९३ में नरक से निकले हुए जीवों की उत्पत्ति का कथन, गाथा २९४-३०२ में नरकायु के बन्धक परिणामों का कथन और गा० ३०३ से ३१३ तक नारकियों की जन्मभूमियों का वर्णन है।

गाथा ३१४ से ३६१ तक नरकों के घोर दुःखों का वर्णन है।

गाथा ३६२-६४ में नरकों में सम्यक्त्वग्रहण के कारणों का निर्देश है और गाथा ३६५ में नारकियों की योनियों का कथन है। अन्तिम मंगलाचरण से पूर्व के पाँच छन्दों में यह बताया गया है कि जो जीव मद्य-मांस का सेवन करते हैं, शिकार करते हैं, असत्य वचन बोलते हैं, चोरी करते हैं, परधनहरण करते हैं, रात-दिन विषयसेवन करते हैं, निर्लज्जतापूर्वक परदारासक्त होते हैं, दूसरों को ठगते हैं, वे तीव्र दुःख को उत्पन्न करने वाले नरकों में जाकर महान् कष्ट सहते हैं।

अन्तिम गाथा में भगवान सम्भवनाथ को नमस्कार किया गया है।

(ग) तृतीय महाधिकार :

भवनवासी लोकस्वरूप-निरूपण प्रज्ञप्ति नामक तीसरे महाधिकार में पूर्व प्रकाशित संस्करण में कुल २४३ पद्य हैं। गाथा संख्या २४ से २७ तक गाथाओं का पाठ इस प्रकार है—

अप्पमहद्धियमज्झिमभावणदेवाण होंति भवणाणि।
दुगवादालसहस्सा, लक्खमधोधो खिदीय गताउ ॥२४॥

२००० / ४२००० / १०००००

अप्पमहद्धियमज्झिमभावणदेवाण वासवित्थारो।
समचउरस्सा भवणा वज्जामयद्दारसज्जिया सव्वे ॥२५॥

बहलत्तो तिसयाणि संखासंखेज्ज जोयणा वासे।
संखेज्जरुंदभवणेसु भवणदेवा वसंति संखेज्जा ॥२६॥

संखातीदा सेयं छत्तीससुरा य होदि संखेज्जा (?)
भवणसरूवा एदे वित्थारा होइ जाणिज्जो ॥२७॥

। भवणवण्णणं सम्मत्तं।

कन्नड़ की ताड़पत्रीय प्रतियों में इस पाठ की संरचना इस प्रकार है जो पूर्णतः सही है और इसमें भ्रान्ति (?) की सम्भावना भी नहीं है। हाँ, इस पाठ से एक गाथा अवश्य कम हो गयी है।

अप्प-महद्धिय-मज्झिम-भावण-देवाण होंति भवणाणि।
दुग-बादाल-सहस्सा, लक्खमधोधो खिदीए गंतूणं ॥२४॥

२००० / ४२००० / १०००००

॥ अप्पमहद्धिय-मज्झिम-भावण-देवाण-णिवास-खेत्तं समत्तं ॥६॥

समचउरस्सा भवणा, वज्जमया-दार-वज्जिया सव्वे।
बहलत्ते ति-सयाणि, संखासंखेज्ज-जोयणा वासे ॥२५॥

संखेज्ज-रुंद-भवणेसु, भवणदेवा वसंति संखेज्जा।
संखातीदा वासे, अच्छंती सुरा असंखेज्जा ॥२६॥

भवणसरूवं समत्ता ॥१०॥

इस प्रकार कुल २४२ गाथाएँ रह गयी हैं। ताड़पत्रीय प्रतियों में १२ गाथाएँ नवीन मिली हैं अतः प्रस्तुत संस्करण में इस अधिकार में २४२+१२=२५४ गाथाएँ हुई हैं।

इस तीसरे महाधिकार में कुल २५४ पद्य हैं। इनमें दो इन्द्रवज्रा (छ. सं० २३९, २५२) और ४ उपजाति (२१७-१८, २४०, २५३) तथा शेष गाथा छन्द हैं। पूर्व प्रकाशित (सोलापुर) प्रति के तीसरे अधिकार से प्रस्तुत संस्करण के इस तीसरे अधिकार में गाथा सं० १०६, १८५-१८६ २०१, २२१ से २२६ तथा २३१-२३२ इस प्रकार कुल १२ गाथाएँ नवीन हैं, जिनसे प्रसंगानुकूल

विषय की पूर्ति हुई है और प्रवाह अवरुद्ध होने से बचा है। गाथा सं० १८५ और १८६ केवल मूड़बिद्री की प्रति में मिली हैं अन्य प्रतियों में नहीं हैं। टीकाकर्त्री माताजी ने इस अधिकार को एक चित्र और ७ सारणियों/तालिकाओं से अलंकृत किया है। गाथा सं०३६ में कल्पवृक्षों को जीवों की उत्पत्ति एवं विनाश का कारण कहा है, यह मन्तव्य बड़े प्रयत्न से ही समझ में आया है।

इस महाधिकार में २४ अन्तराधिकार हैं। अधिकार के आरम्भ में (गाथा १) अभिनन्दन स्वामी को नमस्कार किया गया है और अन्त में (गाथा २५४) सुमतिनाथ स्वामी को। गाथा २ से ६ में चौबीस अधिकारों का नामनिर्देश किया गया है। गाथा ७–८ में भवनवासियों के निवासक्षेत्र, गा. ९ में उनके भेद, गाथा १० में उनके चिह्न, ११-१२ में भवनों की संख्या, १३ में इन्द्रसंख्या व १४-१६ में उनके नाम, १७-१९ में दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों का विभाग, २०-२३ में भवनों का वर्णन, २४ में अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक व मध्यमऋद्धिधारक देवों के भवनों का विस्तार, २५-२६ में भवनों का विस्तार एवं उनमें निवास करने वाले देवों का प्रमाण, २७-३८ में वेदी, ३९-४१ में कूट, ४२-५४ में जिनभवन, ५५-६१ में प्रासाद, ६२ से १४२ में इंद्रों की विभूति, १४३ में संख्या, १४४-१७५ में आयु, १७६ में शरीरोत्सेध, १७७-१८२ में उनके अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण, १८३ से १९५ में भवनवासियों के गुणस्थानादिकों का वर्णन, १९६ में एक समय में उत्पत्ति व मरण का प्रमाण, १९७-१९९ में आगतिनिर्देश व २०० से २४९ में भवनवासी देवों की आयु के बन्धयोग्य परिणामों का विस्तृत वर्णन हुआ है।

भवनवासी देव-देवियों के शरीर एवं स्वभावादि का निरूपण करते हुए आचार्य श्री यतिवृषभ जी ने लिखा है कि "वे सब देव स्वर्ण के समान, मल के संसर्ग से रहित, निर्मलकान्ति के धारक सुगन्धित निश्वास से संयुक्त, अनुपम रूपरेखा वाले, समचतुरस्र शरीर संस्थान वाले, लक्षणों और व्यंजनों से युक्त, पूर्ण चन्द्रसदृश सुन्दर महाकान्ति वाले और नित्य ही (युवा) कुमार रहते हैं, वैसी ही उनकी देवियाँ होती हैं। (१२५-१२६)

"वे देव-देवियाँ रोग एवं जरा से विहीन, अनुपम बलवीर्य से परिपूर्ण, किंचित् लालिमायुक्त हाथ-पैरों सहित, कदलीघात से रहित, उत्कृष्ट रत्नों के मुकुट को धारण करने वाले उत्तमोत्तम विविध प्रकार के आभूषणों से शोभायमान, मांस-हड्डी-मेद-लोहू-मज्जा-वसा और शुक्र आदि धातुओं से विहीन, हाथों के नख एवं बालों से रहित, अनुपम लावण्य तथा दीप्ति से परिपूर्ण और अनेक प्रकार के हाव-भावों में आसक्त रहते हैं।" (१२७-१२९)

आयुबन्धक परिणामों के सम्बन्ध में लिखा है कि—"ज्ञान और चारित्र में दृढ़ शंका सहित, संक्लेश परिणामों वाले तथा मिथ्यात्वभाव से युक्त कोई जीव भवनवासी देवों सम्बन्धी आयु को बाँधते हैं। दोषपूर्ण चारित्रवाले, उन्मार्गगामी, निदानभावों से युक्त, पापासक्त, कामिनी के विरह रूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय एवं संज्ञी-असंज्ञी जीव मिथ्यात्वभाव से संयुक्त होकर भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन देवों में कदापि उत्पन्न नहीं होता। असत्यभाषी, हास्यप्रिय एवं कामासक्त जीव कन्दर्प देवों में उत्पन्न होते हैं। भूतिकर्म, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि से संयुक्त तथा लोगों की वंचना करने में प्रवृत्त जीव वाहनदेवों में उत्पन्न होते हैं। तीर्थंकर, संघ,

प्रतिमा एवं आगमग्रन्थादिक के विषय में प्रतिकूल, दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले जीव किल्विषिक देवों में उत्पन्न होते हैं। उन्मार्गोपदेशक, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी और मोहमुग्ध जीव सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त, क्रूराचारी तथा बैरभाव से संयुक्त जीव असुरों में उत्पन्न होते हैं। (२००—२०९)

जन्म के अन्तर्मुहूर्त बाद ही छह पर्याप्तियों से पूर्ण होकर अपने अल्प विभंगज्ञान से वहाँ उत्पन्न होने के कारण का विचार करते हैं और पूर्व काल के मिथ्यात्व, क्रोधमानमायालोभ रूप कषायों में प्रवृत्ति तथा क्षणिक सुखों की आसक्ति के कारण देशचारित्र और सकलचारित्र के परित्याग रूप प्राप्त हुई अपनी तुच्छ देवपर्याय के लिए पश्चात्ताप करते हैं। (२१०–२२१) तत्काल मिथ्यात्व भाव का त्याग कर सम्यक्त्वी होकर महाविशुद्धिपूर्वक जिनपूजा का उद्योग करते हैं। (२२२-२२४) स्नान करके (२२५), आभूषणादि (२२६) से सज्जित होकर व्यवसायपुर में प्रविष्ट होते हैं और पूजा व अभिषेक के योग्य द्रव्य लेकर देवदेवियों के साथ जिनभवन को जाते हैं। (२२७-२८)। वहाँ पहुँच कर देवियों के साथ विनीत भाव से प्रदक्षिणापूर्वक जिनप्रतिमाओं का दर्शन कर जय-जय शब्द करते हैं, स्तोत्र पढ़ते हैं और मन्त्रोच्चारणपूर्वक जिनाभिषेक करते हैं। (२२९-२३२)

अभिषेक के बाद उत्तम पटह, शङ्ख, मृदंग, घण्टा एवं काहलादि बजाते हुए (गा० २३३) वे दिव्य देव भारी, कलश, दर्पण, तीनछत्र और चामरादि से, उत्तम जलधाराओं से, सुगन्धित गोशीर मलयचन्दन और केशर के पंकों से, अखण्डित तन्दुलों से, पुष्पमालाओं से, दिव्य नैवेद्यों से उज्ज्वल रत्नमयी दीपकों से, धूप से और पके हुए कटहल, केला, दाड़िम एवं दाख आदि फलों से (अष्ट द्रव्य से) जिनपूजा करते हैं। (२३४-२३७) पूजा के अन्त में अप्सराओं से संयुक्त होकर नाटक करते हैं, और फिर निजभवनों में जाकर अनेक सुखों का उपभोग करते हैं (२३८-२४९)।

अविरत सम्यग्दृष्टि देव तो समस्त कर्मों के क्षय करने में अद्वितीय कारण समझ कर नित्य ही अनन्तगुनी विशुद्धिपूर्वक जिनपूजा करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि देव भी पुराने देवों के उपदेश से जिनप्रतिमाओं को कुलाधिदेवता मानकर नित्य ही नियम से भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते हैं। (२३९-२४०)

गाथा २५०-२५१ में आचार्यश्री ने भवनवासियों में सम्यक्त्वग्रहण के कारणों का निर्देश किया है और गा० २५२-५३ में भवनवासियों में उत्पत्ति के कारण बतलाते हुए लिखा है – "जो कोई अज्ञान तप से युक्त होकर शरीर में नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न करते हैं तथा जो पापी सम्यग्ज्ञान से युक्त तप को ग्रहण करके भी दुष्ट विषयों में आसक्त होकर जला करते हैं, वे सब विशुद्ध लेश्याओं से पूर्व में देवायु बाँधकर पश्चात् क्रोधादि कषायों द्वारा उस आयु का घात करते हुए सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति से मन को हटा कर भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं।" (गा० २५२-२५३)

गाथा २५४ में सुमतिनाथ भगवान को नमस्कार कर अधिकार की समाप्ति की गयी है।

६. करण-सूत्र :

प्रथम अधिकार गा. पृ.	द्वितीय अधिकार गा. पृ.	तृतीय अधिकार गा. पृ.
तक्खय वड्ढिपमाणं १७७/४८	चयदलहृदसंकलिदं ८५/१६७	गच्छसमे गुणयारे ७९/२८७
तक्खय वड्ढिपमाणं १९४/६०	चयहृदमिच्छूणपदं ६४/१५८	
भुजपडिभुजमिलिदद्धं १८१/५२	चयहृदमिट्ठाधियपद ७०/१६१	
भूमीअ मुहं सोहिय १७६/४८	दुचयहृदं संकलिदं ८६/१६८	
भूमीए मुहं सोहिय १९३/६०	पददलहृदवेकपदा ८४/१६६	
मुह-भू-समासमद्धिय १६५/४३	पददलहिदसंकलिदं ८३/१६६	
समवट्टवासवग्गे ११७/२५	पदवग्गं चयपहृदं ७६/१६३	
	पदवग्गं पदरहिदं ८१/१६५	

७. प्रस्तुत संस्करण में प्रयुक्त विविध महत्त्वपूर्ण संकेत :

– = श्रणी
= = प्रतर
≡ = त्रिलोक
१६ = सम्पूर्ण जीवराशि
१६ ख = सम्पूर्ण पुद्गल
(की परमाणु) राशि
१६ ख ख = सम्पूर्ण काल
(की समय) राशि
१६ ख ख ख = सम्पूर्ण आकाश
(की प्रदेश) राशि
ऽ० = ३ शून्य ० ० ०
७ = संख्यात
रि = असंख्यात
जौ = योजन
वर्गमूल (गाथा २/२८९)
१९६-२०२
७ रज्जु
$_{१}{}^{१}_{२}$ = कुछ कम (गा० २/१९६)

प = पल्योपम
सा = सागरोपम
सू = सूच्यंगुल
प्र = प्रतरांगुल
घ = घनांगुल
ज = जगच्छ्रेणी
लोय प = लोकप्रतर
भू = भूमि
को = कोस
दं = दण्ड
से = शेष
ह = हस्त
अं = अंगुल
ध = धनुष

इ = इन्द्रक
सेढी = श्रेणीबद्ध
प्र० = प्रकीर्णक
मु = मुहूर्त
दि = दिन
मा = माह

८. पाठान्तर :

ॐ वातवलयों की मोटाई	१/२८४/११६ (लोकविभाग)
ॐ शर्कराप्रभादि पृथिवियों का बाहल्य	२/२३/१४५

९. चित्र विवरण :

क्र० सं०	विषय	अधिकार	गाथा स०	पृष्ठ सख्या
१	लोक की आकृति	१	१३७-१३८	३३
२	अधोलोक की आकृति	१	१३९	३४
३	लोक का उत्सेध और विस्तार	१	१४१-१४३	३५
४	लोकरूप क्षेत्र की मोटाई	१	१४५-१४७	३७
५	लाक की उत्तरदक्षिण मोटाई, पूर्वपश्चिम चौड़ाई और ऊँचाई	१	१४९-१५०	३८
६	ऊर्ध्वलोक के आकार को अधोलोक के सदृश वेत्रासनाकार करना	१	१६९	४५
७	सात पृथ्वियों के व्यास एव घनफल	१	१७९	५०
८	पूर्व पश्चिम से अधोलोक की आकृति	१	१८०	५१
९	अधोलोक का ऊँचाई की आकृति	१	१८०	५२
१०	अधोलोक में स्तम्भ-बाह्य छोटी भुजायें	१	१८४	५५
११	ऊर्ध्वलोक के दस क्षेत्रों (के व्यास) की आकृति	१	१९६-१९७	६२
१२	ऊर्ध्वलोक के स्तम्भों की आकृति	१	२००	६४
१३	ऊर्ध्वलोक की आठ क्षुद्र भुजाओं की आकृति	१	२०३-२०७	६७
१४	सामान्य लोक का घनफल	१	२१७	७३

क्र०.सं०	विषय	अधिकार	गाथा सं०	पृष्ठ.संख्या
१५	लोक का आयत चौरस क्षेत्र	१	२१७	७३
१६	लोक का तिर्यगायत क्षेत्र	१	२१७	७४
१७	लोक में यवमुरजाकृति	१	२१८-२२०	७५
१८	लोक में यवमध्यक्षेत्र की आकृति	१	२२१	७७
१९	लोक में मन्दरमेरु की आकृति	१	२२२	७८
२०	लोक की दूष्याकार रचना	१	२३४	८४
२१	लोक में गिरिकटक की आकृति	१	२३६	८६
२२	सामान्य अधोलोक एवं ऊर्द्धायत अधोलोक	१	२३८	८८
२३	तिर्यगायत अधोलोक	१	२३८	८९
२४	अधोलोक की यवमुरजाकृति	१	२३९	९०
२५	यवमध्य अधोलोक	१	२४०	९१
२६	मन्दरमेरु अधोलोक की आकृति	१	२४३-२४४	९४
२७	दूष्य अधोलोक	१	२५०-२५१	९७
२८	गिरिकटक अधोलोक	१	२५०-२५१	९९
२९	ऊर्ध्वलोक सामान्य	१	२५४	१०१
३०	ऊर्ध्वायत चतुरस्रक्षेत्र	१	२५४	१०२
३१	तिर्यगायत चतुरस्रक्षेत्र	१	२५५-२५६	१०३
३२	यवमुरज ऊर्ध्वलोक	१	२५५-२५६	१०४
३३	यवमध्य ऊर्ध्वलोक	१	२५७	१०५
३४	मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक की आकृति	१	२५७	१०६
३५	दूष्य ऊर्ध्वलोक	१	२६६	११०
३६	गिरिकटक ऊर्ध्वलोक	१	२६६	१११
३७	लोक के सम्पूर्ण वातवलय	१	२७६	११५
३८	लोक के नीचे तीनों पवनों से अवरुद्ध क्षेत्र	१	—	१२०
३९	अधोलोक के पार्श्वभागों का घनफल	१	—	१२१–१२३

क्रम सं०	विषय	अधिकार	गाथा सं०	पृष्ठ संख्या
४०	लोक के शिखर पर वायुरुद्ध क्षेत्र का घनफल	१	—	१२६
४१	लोकस्थित आठों पृथिवियों के वायुमण्डल	१	—	१३२
४२	लोक का सम्पूर्ण घनफल	१	—	१३७
४३	लोक के शुद्धाकाश का प्रमाण	१	—	१३८
४४	सीमन्त इंद्रक व विक्रांत इंद्रक	२	३८	१५१
४५	चैत्यवृक्षों का विस्तार	३	३१	२७४

१०. विविध तालिकायें :

	विषय	पृ०	अधिकार/गाथा
१	सौधर्म स्वर्ग से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त क्षेत्रों का घनफल	६३	१/१९८-१९९
२	मन्दर ऊर्ध्वलोक का घनफल	१०९	१/२६४-२६६
३	नरक-पृथिवियों की प्रभा, बाहल्य एवं बिल संख्या	१४६	२/९,२१-२३,२७
४	सर्व पृथिवियों के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण	१७२	२/९४
५	सर्व पृथिवियों के इन्द्रकों का विस्तार	१९४-१९५	२/१०८-१५६
६	इंद्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के बाहल्य का प्रमाण	१९६-१९७	२/१५७-१५८
७	इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों का स्वस्थान-परस्थान अन्तराल	२१३	२/१६४-१९५
८	सातों नरकों के प्रत्येक पटल की जघन्य-उत्कृष्ट आयु का विवरण	२२१-२२२	२/२०३-२१६
९	सातों नरकों के प्रत्येक पटल स्थित नारकियों के शरीर के उत्सेध का विवरण	२३८-२३९	२/२१७-२७१
१०	भवनवासी देवों के कुल, चिह्न, भवन सं. आदि का विवरण	२७१	३/९-२१
११	भवनवासी इन्द्रों के परिवार-देवों की संख्या	२८५	३/६२-७५
१२	भवनवासी इन्द्रों के अनीक देवों का प्रमाण	२९०	२/८१-८९
१३	भवनवासी इन्द्रों की देवियों का प्रमाण	२९४	३/८९-९८
१४	भवनवासी इन्द्रों के परिवार देवों की देवियों का प्रमाण	२९७	३/९९-१०७

	विषय	पृ०	अधिकार/गाथा
१५	भवनवासी देवों के आहार एवं श्वासोच्छ्वास का अन्तराल तथा चैत्यवृक्षादि का विवरण	३०५	३/११०-१३६
१६	भवनवासी इन्द्रों की (सपरिवार) आयु के प्रमाण का विवरण	३१२-१३	३/१४३-१५९

११. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण

'तिलोयपण्णत्ती' प्रथम खण्ड का यह द्विताय संस्करण पाठकों को सौंपते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। इसे प्रेस में देने से पूर्व मैंने जैनपत्रों में यह विज्ञप्ति प्रकाशित की थी कि "प्रथम खण्ड के नवीन संस्करण के प्रकाशन की योजना बनी है। स्वाध्यायियों एवं विद्वानों से निवेदन है कि यदि उन्हें पूर्व प्रकाशित संस्करण (१९८४ में प्रकाशित) का अवलोकन। स्वाध्याय करते हुए उसमें कोई अशुद्धियाँ दृष्टिगत हुई हों तो वे यथाशीघ्र सूचित करने का कष्ट करें जिससे प्रकाश्यमान नवीन संस्करण में उनका परिमार्जन-संशोधन किया जा सके।" परन्तु मुझे सूचित करते हुए खेद है कि स्वाध्यायियों या विद्वानों से इस सन्दर्भ में मुझे न तो कोई पत्र हो मिला और न अन्य किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया।

इस नवीन संस्करण में प्रेस सम्बन्धी भूलों का परिमार्जन करने के साथ-साथ, गाथार्थ या संदृष्टियों को खोलने में जहाँ पूर्व में किंचित् भी अस्पष्टता रह गयी थी, उसे स्पष्ट कर दिया गया है और दो चित्र बदले गये हैं। शेष सब वही है यानी यह संस्करण लगभग प्रथम संस्करण का ही पुनर्मुद्रित रूप है।

आभार

ग्रन्थ की टीकाकर्त्री पूज्य **विदुषी आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी** के चरण कमलों में सविनय सादर वन्दामि निवेदन करता हुआ यही कामना करता हूँ कि आपका रत्नत्रय सदा कुशल रहे और स्वास्थ्य भो अनुकूल बने तांकि आप इसी प्रकार जटिल आर्ष ग्रन्थों को अधिकाधिक सुबोध रीत्या प्रस्तुत कर सकें। इस संस्करण के पांरष्कार में संघस्थ **आर्यिका पूज्यश्री प्रशान्तमती माताजी** ने भी पुष्कल सहयोग प्रदान किया है, उनके चरणों में वन्दामि निवेदन करता हुआ यही कामना करता हूँ कि उनकी श्रुताराधना सतत गतिशील रहे। आपके माध्यम से मुझे भी श्रुतसेवा का अपूर्व लाभ मिला है—एतदर्थ मैं आर्यिका द्वय का चिर कृतज्ञ हूँ।

परम पूज्य १०८ उपाध्याय श्री ज्ञानगसागरजी महाराज की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा, अलवर (राजस्थान) के उदार आर्थिक सहयोग से हो रहा है। एतदर्थ मैं पूज्य उपाध्यायश्री के चरणों में नतमस्तक हूँ और क्षेत्र के श्रुतप्रेमी संरक्षक श्रीयुत सुमतप्रसाद जैन एवं क्षेत्र की कार्यकारिणी समिति का आभारी हूँ। इस संस्करण के प्रकाशन में आदरणीय श्रीयुत् नीरजजी जैन की भी महती भूमिका रही है, एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित

करता हूँ।

सुन्दर, स्वच्छ एवं सुरुचिपुर्ण आफॅसैट मुद्रण के लिए मैं शकुन प्रिण्टर्स के संचालक श्री सुभाष जैन एवं कर्मचारियों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रस्तुतीकरण में रही अपनी भूलों के लिए सभी गुणग्राही विद्वानों से सविनय क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रुत पंचमी, वि.सं. २०५४ डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
दिनांक १० जून १९९७ सम्पादक

तिलोयपण्णत्ती और उसका गणित

लेखक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, पूर्व प्राचार्य शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
छिंदवाड़ा (म० प्र०)

आचार्य यतिवृषभ द्वारा रचित तिलोयपण्णत्ती करणानुयोग - विषयक महान् ग्रन्थ है जो प्राकृत भाषा में है। यह त्रिलोकवर्ती विश्व-रचना का सार रूप से गणितनिबद्ध दर्शन कराने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसका प्रथम बार सम्पादन दो भागों में प्रोफेसर हीरालाल जैन, प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये तथा पंडित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा १९४३ एवं १९५१ में सम्पन्न हुआ था। पूज्य आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी कृत हिन्दी टीका सहित अब इसका द्वितीय बार सम्पादन हो रहा है जो अपने आप में एक महान् कार्य है, जिसमें विगत सम्पादित ग्रंथों का परिशोधन एवं विश्लेषण तथा अन्य उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों द्वारा मिलान किया जाकर एक नवीन, परम्परागत रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि कर्मसिद्धान्त एवं अध्यात्म-सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थों में प्रवेश करने हेतु इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। कर्म-परमाणुओं द्वारा आत्मा के परिणामों का दिग्दर्शन जिस गणित द्वारा प्रबोधित किया जाता है, उस गणित की रूप-रेखा का विशेष दूरी तक इस ग्रंथ में परिचय कराया गया है। इस प्रकार यह ग्रंथ अनेक ग्रन्थों को भलीभाँति समझने हेतु सुदृढ़ आधार बनता है।

यतिवृषभाचार्य की दो कृतियाँ निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध मानी गयी हैं, जो क्रमशः कसाय-पाहुडसुत्त पर रचित चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ती हैं। आचार्य आर्यमंक्षु एवं आचार्य नागहस्ति

जो "महाकम्मपयडि पाहुड" के ज्ञाता थे उनसे यतिवृषभाचार्य ने कसायपाहुड के सूत्रों का व्याख्यान ग्रहण किया था, जो 'पेज्जदोसपाहुड' के नाम से भी प्रसिद्ध था। आचार्य वीरसेन ने इन उपदेशों को प्रवाहक्रम से आये घोषित किया है तथा प्रवाह्यमान भी कहकर यथार्थ तथ्य रूप उल्लेखित किया है। आगे उन्होंने आचार्य आर्गमंक्षु के उपदेश को 'अपवाइज्जमाण' और आचार्य नागहस्ति के उपदेश को 'पवाइज्जंत' कहा है।

तिलोयपण्णत्ती के रचयिता यतिवृषभाचार्य कितने प्रकांड विद्वान् थे, यह चूर्णिसूत्रों तथा तिलोयपण्णत्ती की रचना-शैली से स्पष्ट हो जाता है। रचनाएँ वृत्तिसूत्र तथा चूर्णिसूत्र में हुआ करती थीं। वृत्तिसूत्र के शब्दों की रचना संक्षिप्त तथा सूत्रगत अशेष अर्थसंग्रह सहित होती थीं। चूर्णिसूत्र की रचना भी संक्षिप्त शब्दावलीयुक्त, महान् अर्थगर्भित, हेतु, निपात एवं उपसर्ग से युक्त, गम्भीर, अनेक पदसमन्वित, अव्यवच्छिन्न, धारा-प्रवाही हुआ करती थी। इस प्रकार तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से निस्सृत बीजपदों को उद्घाटित करने में चूर्णिपद समर्थ कहलाता था। चूर्णिपद के बीजसूत्र विवृत्त्यात्मक सूत्र-रूप होते थे तथा तथ्यों को उद्घोषित करने वाले होते थे। इन सूत्रों द्वारा यतिवृषभाचार्य ने आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार इन पाँच उपक्रमों द्वारा अर्थ को प्रकट किया है। इस प्रकार उनकी शैली विभाषा सूत्र सहित, अवयवार्थ वाली एवं पदच्छेद पूर्वक व्याख्यान वाली है।

ऐसे कर्म-ग्रंथ के सार्वजनीन हित में प्रयुक्त होने हेतु उसका आधारभूत ग्रंथ भी तिलोयपण्णत्ती रूप में रचा। इस ग्रन्थ में नौ अधिकार हैं : सामान्य लोक स्वरूप, नारकलोक, भवनवासी लोक, मनुष्यलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक। इस प्रकार गणितीय, सुव्यवस्थित, संख्यात्मक विवरण संकेत एवं संदृष्टियों सहित इस सरल, लोकोपयोगी तथा लोकोत्तरोपयोगी ग्रंथ की रचना अधिकांश रूप से पद्यात्मक तथा कहीं-कहीं गद्य खण्ड, स्फुट शब्द या वाक्य रूप भी है। इसमें छन्दों का भी उपयोग हुआ है जो इन्द्रवज्रा, स्वागता, उपजाति. दोधक, शार्दूल-विक्रीड़ित, वसन्ततिलका, गाथा, मालिनी नाम से ज्ञात हैं।

इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने कहीं आचार्य परम्परा से प्राप्त और कहीं गुरूपदेश से प्राप्त ज्ञान का उल्लेख किया है। जिन ग्रंथों का उन्होंने उल्लेख किया है : आग्रायणी, परिकर्म, लोकविभाग, लोकविनिश्चय : वे अभी उपलब्ध नहीं हैं। इन ग्रन्थों में भी तिलोयपण्णत्ती के समान करणानुयोग की सामग्री रही होगी। करणानुयोग-सम्बन्धी सामग्री जिसमें गणित - सूत्रों का बाहुल्य होता है अर्धमागधी आगम - विषयक सूर्यप्रज्ञप्ति (बम्बई १९१९), चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (बम्बई १९२०) में भी मिलती है। साथ ही अन्य ग्रन्थों : लोकविभाग, तत्वार्थराजवार्तिक, धवला जयधवला टीका, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह, त्रिलोकसार, त्रिलोकदीपिका (सिद्धांतसार दीपक) में भी करणानुयोग विषयकगणितीय सामग्री उपलब्ध है। सिद्धान्तसार दीपक ग्रंथ तथा त्रिलोकसार ग्रन्थ का अभिनवावधि में सम्पादन श्री आर्यिका विशुद्धमतीमाताजी ने अपार परिश्रम के पश्चात् विशुद्धरूप में किया है। डॉ० किरफेल द्वारा रचित डाइ कास्मोग्राफी डेर इंडेर (बान, लाइयजिग, १९२०) भी इस संबंध में द्रष्टव्य है।

यतिवृषभाचार्य के ग्रन्थ का रचनाकाल-निर्णय विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से अलग-अलग किया है। डॉ० हीरालाल जैन तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने उनका काल ईस्वी सन् ४७३ से लेकर ६०९ के मध्य निर्णीत किया है। यही कालनिर्णय डेविड पिंगरी ने माना है। फिर भी इन विद्वानों ने स्वीकार किया है कि अभी भी इस कालनिर्णय को निश्चित नहीं कहा जा सकता है और आगे सुदृढ़ प्रमाण मिलने पर इसे निश्चित किया जाये। आचार्य शिवार्य, वट्टकेर, कुन्दकुन्द आदि ग्रंथरचयिताओं के वर्ग में यतिवृषभ आचार्य आते हैं जिनका ग्रंथ आगमानुसारी ग्रंथसमूह में आता है जो पाटलीपुत्र में संगृहीत आगम के कुछ आचार्यों द्वारा अप्रामाणिक एवं त्याज्य माने जाने के पश्चात् आचार्य परम्परा के ज्ञानाधार से स्मृतिपूर्वक लेख रूप में संग्रहीत किये गये। उनकी पूर्ववर्ती रचनाएँ क्रमशः अग्गायणिय, दिट्ठिवाद, परिकम्म, मूलायार, लोयविणिच्छय, लोयविभाग, लोगाइणि रही हैं।

१. गणित-परिचय :

सन् १९५२ के लगभग डॉ० हीरालाल जैन द्वारा मुझे तिलोयपण्णत्ती के दोनों भागों के गणित संबंधी प्रबन्ध को तैयार करने के लिए कहा गया था। इन पर 'तिलायपण्णत्ती का गणित' प्रबन्ध तैयार कर 'जम्बूदीवपण्णत्तीसंगहो' में १९५८ में प्रकाशित किया गया। उसमें कुछ अशुद्धियाँ रह गई थीं जिन्हें सुधार कर यह प्र.यः १०५ पृष्ठों का लेख वितरित किया गया था। वह लेख सुविस्तृत था तथा तुलनात्मक एवं शोधात्मक था। यहाँ केवल रूपरेखायुक्त गणित का परिचय पर्याप्त होगा।

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ में जो सूत्रबद्ध प्ररूपण है उसमें परिणाम तथा गणितीय (करण) सूत्र दिये गये हैं तथा उनका विभिन्न स्थलों में प्रयोग भी दिया गया है। ये सूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आगम-परम्परा-प्रवाह में आया हुआ यह गणितीय विषय अनेक वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। क्रियात्मक एवं रैखिकीय, अकगणितीय एवं बीजगणितीय प्रतीक भी इस ग्रन्थ में स्फुट रूप से उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ, हो सकता है, नेमिचंद्राचार्य के ग्रन्थों की टीकाएँ बनने के पश्चात् जोड़ा गया हो।

सिंहावलोकन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि जो गणित इस ग्रन्थ में वर्णित है वह सामान्य लोकप्रचलित गणित न होकर लोकोत्तर विषय प्रतिपादन हेतु विशिष्ट सिद्धान्तों को आधार लेकर प्रतिपादित किया गया है। यथा : संख्याओं के निरूपण में संख्यात, असंख्यात एवं अनन्त प्रकार वाली संख्याएँ—राशियों का प्रतिनिधित्व करने हेतु निष्पन्न की गयी हैं। उनके दायरे निश्चित किये गये हैं, उन्हें विभिन्न प्रकारों में उत्पन्न करने हेतु विधियाँ दी गयी हैं, और उन्हें संख्यात से यथार्थ असंख्यात रूप मे लाने हेतु असंख्यातात्मक राशियों-संख्याओं को युक्त किया गया है। इसी प्रकार असंख्यात से यथार्थ अनन्तरूप में लाने के लिए संख्याओं को अनन्तात्मक राशियों से युक्त किया गया है। यह संख्याप्रमाण है। इसीप्रकार उपमा प्रमाण द्वारा राशियों के परिमाण का बोध किया गया है। जिसप्रकार असंख्यात एवं अनन्त रूप राशियाँ उत्पन्न की गईं, जिनका दर्शन क्रमशः अवधिज्ञानी और केवलज्ञानी को होता है, उसी प्रकार उपमा प्रमाण में आने वाली प्रतिनिधि राशियाँ, अंगुल,

प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर, लोक, पल्य और सागर में प्रदेश राशियों और समय-राशियों को निरूपित करती हैं, जो द्रव्य प्रमाणानुगम में अनेक प्रकार की राशियों की सदस्य संख्या को बतलाती हैं। इस प्रकार प्रकृति में त्रिलोक में पायी जाने वाली अस्तिरूप राशियों का बोध इन रचनात्मक संख्याप्रमाण एवं उपमाप्रमाण द्वारा दिया जाता है। इसी प्रकार अल्पबहुत्व एवं धाराओं द्वारा राशि की सही-सही स्थिति का बोध दिया जाता है।

उपमा प्रमाण के आधारभूत प्रदेश और समय हैं। प्रदेश की परिभाषा परमाणु के आधार पर है। अभेद्य पुद्गल परमाणु जितना आकाश व्याप्त करता है उतने आकाशप्रमाण को प्रदेश कहते हैं। इस प्रकार अंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल में प्रदेश संख्या निश्चित की गई है। इसी प्रकार जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोक में प्रदेश संख्या निश्चित है। पल्य और सागर में जो समय राशि निश्चित की गई है, वह समय भी परिभाषित किया गया है। परमाणु जितने काल में मंद गति से एक प्रदेश का अतिक्रमण करता है अथवा जितने काल में तीव्र गति से जगच्छ्रेणी तय करता है, वह समय कहलाता है। जिस प्रकार परमाणु अविभाजित है वैसे ही प्रदेश एवं समय की इकाई अविभाजित है।

आकाश में प्रदेशबद्ध श्रेणियाँ मानकर जीव एवं पुद्गलों की ऋजु एवं विग्रह गति बतलाई गई है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में अकलंकाचार्य ने निरूपण किया है कि चार समय से पहले ही मोड़े वाली गति होती है, क्योंकि लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं है जिसमें तीन मोड़े से अधिक मोड़े लेना पड़े। जैसे षष्टिक चांवल साठ दिन में नियम से पक जाते हैं, उसी प्रकार विग्रहगति भी तीन समय में समाप्त हो जाती है। (तत्त्वा. वा. २, २८, १)।

अंकगणना में शून्य का उपयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ तिलोयपण्णत्ती (गाथा ३१२, चतुर्थ महाधिकार) में अचलात्म नामक काल को एक संकेतना द्वारा दर्शाया गया है। यह मान है $(८४)^{३१} \times (१०)^{६०}$ प्रमाण वर्ष। अर्थात् ८४ में ८४ का ३१ बार गुणन और १० का १० में ६० बार गुणन। यहीं वर्गितसंवर्गित प्रक्रिया का भी उपयोग किया गया है। जैसे यदि २ को तीन बार वर्गितसंवर्गित किया जाये तो $(२५६)^{२५६}$ अर्थात् २५६ में २५६ का २५६ बार गुणन करने पर यह राशि उत्पन्न होगी।

जहाँ वर्गणसंवर्गण से राशि पर प्रक्रिया करने से इष्ट बड़ी राशि उत्पन्न कर ली जाती है वहीं अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाका निकालने की प्रक्रिया से इष्ट छोटी राशि उत्पन्न कर ली जाती है। एक ओर संश्लेषण दृष्टिगत होता है, दूसरी ओर विश्लेषण। इस प्रकार की प्रक्रियाओं का उपयोग इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अर्द्धच्छेद प्रक्रिया से गुणन को योग में तथा भाग को घटाने में बदल दिया जाता है। वर्गण की प्रक्रिया भी गुणन में बदल जाती है। इस प्रकार धाराओं में आने वाली विभिन्न राशियों के बीच अर्द्धच्छेद एवं वर्गशलाका विधियों द्वारा एवं वर्गण विधियों द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

अंकगणित में ही समान्तर और गुणोत्तर श्रेणियों के योग निकालने के तिलोयपण्णत्ती में अनेक प्रकरण आये हैं। इस ग्रन्थ में कुछ और नवीन प्रकार की श्रेणियों का संकलन किया गया है।

दूसरे महाधिकार में गाथा २७ से लेकर गाथा १०४ तक नारक बिलों के सम्बन्ध में श्रेणिसंकलन है। उसी प्रकार पाँचवं महाधिकार में द्वीपसमुद्रों के क्षेत्रफलों का अल्पबहुत्व संकलन रूप में वर्णित किया गया है। श्रेणियों को इतने विस्तृत रूप में वर्णन करने का श्रेय, जैनाचार्यों को दिया जाना चाहिए। पुनः इस प्रकार की प्ररूपणा सीधी अस्तित्व पूर्ण राशियों से सम्बन्ध रखती थी जिनका बोध इन संश्लेषण एवं विश्लेषण विधियों से होता था।

यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उपमा प्रमाण में एक सूच्यंगुल में स्थित प्रदेशों की संख्या उतनी ही मानी गयी जितनी पल्य की समय राशि को अद्धापल्य की समय राशि के अर्द्धच्छेद बार स्वयं से स्वयं को गुणित किया जाये। प्रतीकों में

$$(\text{अंगुल}) = (\text{पल्य})^{[\text{अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद}]}$$

साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि एक प्रदेश में अनन्त परमाणुओं को समाविष्ट करने की अवगाहन शक्ति आकाश में है और यहीं एक दूसरे में प्रविष्ट होने की क्षमता परमाणुओं में भी है।

समान्तर श्रेणियों और गुणोत्तर श्रेणियों का उपयोग तिलोयपण्णत्ती में तो आया ही है, साथ ही कर्म-ग्रन्थों में तो आत्मा के परिणाम और कर्मपुद्गलों के समूह के यथोचित प्रतिपादन में इन श्रेणियों का विशाल रूप में उपयोग हुआ है। श्रेणियों का आविष्कार कब, क्यों और क्या अभिप्राय लेकर हुआ, इसका उत्तर जैनग्रन्थों द्वारा भलीभाँति दिया जा सकता है। विश्व की दूसरी सभ्यताओं में इनके अध्ययन का उदय किस प्रकार हुआ तथा एशिया में भी इनका अध्ययन का मूल स्रोतादि क्या था, यह शोध का विषय बन गया है। अर्द्धच्छेद और वर्गशलाकाओं का धाराओं में उपयोग भी विश्लेषण विधियों में से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधि है जिसका उपयोग आज लागएरिद्म के रूप में विश्लेषण तथा प्रयोगात्मक विधियों में अत्यधिक बढ़ गया है। आधार दो को जैनाचार्यों ने अर्द्धच्छेद अथवा "लागएरिद्म टू दा बेस टू' मानकर कर्मसिद्धान्त दि में गणनाओं को सरलतम बना दिया था वैसे ही आज कम्प्यूटरों में भी दो को आधार चुना गया है, ताकि पूर्णांकों में परिणाम राशि की सार्थकता को प्रतिबोधित कर सकें।

तिलोयपण्णत्ती में बीजरूप प्रतीकों का कहीं-कहीं उपयोग हुआ है। रिण के लिए उसके संक्षेप रूप को कहीं-कहीं लिया गया दृष्टिगत होता है, जैसे रिण के लिए 'रि'। मूल के लिए 'मू'। रिण के लिए ' । जगच्छ्रेणी के लिए आडी लकीर '—'। जगत्प्रतर के लिए दो आड़ी क्षैतिज लकीरें "="; घनलोक के लिए तीन आड़ी लकीरें "≡"। रज्जु के लिए 'र', पल्य के लिए 'प', सूच्यंगुल के लिए '२', आवलि के लिए भी '२' लिया गया। नेमिचन्द्राचार्य के ग्रन्थों की टीकाओं में विशेष रूप से संदृष्टियों को विकसित किया गया जो उनके बाद ही माधवचन्द्र त्रविद्याचार्य एवं चामुण्डराय के प्रयासों से फलीभूत हुआ होगा, ऐसा अनुमान है।

जहाँ तक मापिकी एवं ज्यामिति विधियों का प्रश्न है, इन्हें करणानुयोग ग्रन्थों में जम्बूद्वीपादि के वृत्त रूप क्षेत्रों के क्षेत्रफल, धनुष, जीवा, बाण, पार्श्वभुजा, तथा उनके अल्पबहुत्व निकालने

के लिये प्रयुक्त किया गया। तिलोयपण्णत्ती में उपर्युक्त के सिवाय लोक को वेष्टित करने वाले विभिन्न स्थलों पर स्थित वातवलयों के आयतन भी निकाले गये हैं जो स्फान सदृश आकृतियों, क्षेत्रों एवं आयतनों से युक्त हैं। इनमें आकृतियों का टापालाजिकल डिफार्मेशन कर घनादिरूप में लाकर घनफल आदि निकाला गया है, अतएव विधि के इतिहास की दृष्टि से यह प्रयास महत्त्वपूर्ण है।

व्यास द्वारा वृत्त की परिधि निकालने की विधियाँ भी विश्व में कई सभ्यता वाले देशों में पाई जाती हैं। तिलोयपण्णत्ती जैसे करणानुयोग के ग्रन्थों में $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}}$ का मान स्थूल रूप से ३ तथा सूक्ष्म रूप से $\sqrt{१०}$ दिया गया है। वीरसेनाचार्य ने धवला ग्रन्थ में एक और मान दिया है जिसे उन्होंने सूक्ष्म से भी सूक्ष्म कहा है और वह वास्तव में ठीक भी है। वह चीन में भी प्रयुक्त होता था : $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} = \frac{३५५}{११३} = ३.१४१५९३$: किन्तु वीरसेनाचार्य ने जो संस्कृत श्लोक उद्धृत किया है उसमें १६ अधिक जोड़कर लिखा जाने से वह अशुद्ध हो गया है—

$$\frac{१६\ (\text{व्यास}) + १६}{११३} + ३\ (\text{व्यास}) = \text{परिधि}$$

जो कुछ हो यह तथ्य चीन और भारत के गणितीय सम्बन्ध की परम्परा को जोड़ता प्रतीत होता है। प्रदेश और परमाणु की धारणाएँ यूनान से संबंध जोड़ती हैं तथा गणित के आधार पर अहिंसा का प्रचार यूनान के पिथेगोरस की स्मृति ताजी करती हैं।❀ ज्यामिति में अनुपात सिद्धान्त का तिलोयपण्णत्ती में विशेष प्रयोग हुआ है। लोकाकाश का घनफल निकालने की प्रक्रिया को विस्तृत किया गया है और भिन्न-भिन्न रूप की आकृतियाँ लोक के घनफल के समान लेकर छोटी आकृतियों से उन्हें पूरित कर घनफल की उनमें समानता दिखलाई गई है। इस प्रकार लोक को प्रदेशों से पूरित कर, छोटी आकृतियों से पूरित कर जो विधियाँ जैनाचार्यों ने प्रयुक्त की हैं, वे गणितीय इतिहास में अपना विशेष स्थान रखेंगी।

जहाँ तक ज्योतिर्लोक विज्ञान की विधियाँ हैं, वे तिलोयपण्णत्ती अथवा अन्य करणानुयोग ग्रन्थों में एक सी हैं। समस्त आकाश को गगनखण्डों में विभाजित कर मुहूर्त्तों में ज्योतिर्बिम्बों की स्थिति, गति, सापेक्ष गति, वीथियाँ आदि निर्धारित की गयीं। इनमें योजन का भी उपयोग हुआ है। योजन शब्द कोई रहस्यमय योजना से सम्बन्धित प्रतीत होता है। ऐसा ही चीन में "लो" शब्द से अभिप्राय निकलता है। अंगुल के माप के आधार पर योजन लिया गया है और अंगुल के तीन प्रकार होने के कारण योजन के भी तीन प्रकार हो गये होंगे। सूर्य, चन्द्र एवं ग्रहों के भ्रमण में दैनिक एवं वार्षिक गति को मिला लिया गया। इससे उनकी वास्तविक वीथियाँ वृत्ताकार न होकर समापन एवं असमापन कुतल रूप में प्रकट हुईं। जहाँ तक ग्रहों और सूर्य - चन्द्रमा की पृथ्वीतल से दूरी का

❀देखिये, "तिलोयपण्णत्ती का गणित" जम्बूदीवपण्णत्तीसंगहो, शोलापुर, १९५८ (प्रस्तावना) १-१०५ तथा देखिये "गणितसार संग्रह", शोलापुर, १९६३ (प्रस्तावना)

संबंध है, उनमें प्रयुक्त योजन का अभिप्राय वह नहीं है जैसा कि हम साधारणतः सोचते हैं और जमीन के ऊपर की ऊँचाई चन्द्र, सूर्य की ले लेते हैं। वे उक्त ग्रहों की पारम्परिक कोणीय दूरियों के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। इस विषय पर शोध लगातार चल रही है। यह भी जानना आवश्यक है कि इस प्रकार योजन माप में चित्रातल से जो दूरी ग्रह आदि की निकाली गयी, वह विधि क्या थी और उसका आधार क्या था। क्या यह दूरी छायामाप से ही निकाली जाती थी अथवा इसका और कोई आधार था? सज्जनसिंह लिश्क एवं एस. डी. शर्मा ने इस विधि पर शोध-निबन्ध दिये हैं जिनसे उनकी मान्यता यह स्पष्ट होती है कि ये ऊँचाइयाँ सूर्यपथ से उनकी कोणीय दूरियाँ बतलाती होंगी। किन्तु यह मान्यता केवल चन्द्रमा के लिए अनुमानतः सही उतरती है।

योजन के विभिन्न प्रकार होने के साथ हो एक समस्या और रह जाती है। वह है रज्जु के माप को निर्धारित करने की। इसके लिए रज्जु के अर्द्धच्छेद लिए जाते हैं और इस संख्या का संबंध चन्द्रपरिवारादि ज्योतिर्बिम्ब राशि से जोड़ा गया है। इसमें प्रमाणांगुल भी शामिल होते हैं जिनकी प्रदेशसंख्या का मान पल्य समयराशि से स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार रज्जु का मान निश्चित किया जा सकता है। चन्द्रमादि बिम्बों को गोलार्द्ध रूप माना गया है जो वैज्ञानिक मान्यता से मिलता है क्योंकि आधुनिक यन्त्रों से प्रतीत होता है कि चन्द्रमादि सर्वदा पृथ्वी की ओर केवल वही अर्द्धमुख रखते हुए विचरण करते हैं। उष्णतर किरणों और शीतल किरणों का क्या अभिप्राय हो सकता है, अभी तक स्पष्ट प्रतीत नहीं हुआ है। ग्रहों के गमन सम्बन्धी ज्ञान का कालवश विनष्ट होना बतलाया गया है। पर यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र बिम्बों के गमन एकीकृत विधि से वीथियों के रूप में तथा मुहूर्त में योजन एवं गगनखण्डों के माध्यम से दर्शाये गये होंगे जो यूनान की प्राचीन विधियों तथा भारत की तत्कालीन वृत्त वीथियों के आधार पर पुनः स्थापित किये जा सकते हैं, ऐसा अनुमान है।

पंडित नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य जैन ज्योतिष के सम्बन्ध में कुछ निष्कर्षों पर शोधानुसार पहुँचे थे, जो निम्नलिखित हैं :[१]

(क) पञ्चवर्षात्मक युग का सर्वप्रथम उल्लेख जैन ज्योतिष ग्रन्थों में उपलब्ध होना।[२]

(ख) अवम-तिथि क्षय संबंधी प्रक्रिया का विकास जैनाचार्यों द्वारा स्वतन्त्र रूप से किया जाना।

(ग) जैन मान्यता की नक्षत्रात्मक ध्रुवराशि का वेदांग ज्योतिष में वर्णित दिवसात्मक ध्रुवराशि से सूक्ष्म होना तथा उसका उत्तरकालीन राशि के विकास में सम्भवतः सहायक होना।

---

[१] देखिये "वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ" सागर में प्रकाशित लेख; "भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन-ज्योतिष" १९६२, पृष्ठ ४७८–४८४, उनका एक और लेख "ग्रीक–पूर्व जैन ज्योतिष विचारधारा" ब्र. चंदाबाई अभिनन्दन ग्रंथ, आरा, १९५४, पृष्ठ ४६१–४६६ में द्रष्टव्य है।

[२] वेदांग ज्योतिष में भी पञ्चवर्षात्मक युग का पंचांग बनता है, पर जो विस्तृत गगनखण्डों, वीथियों एवं योजनों में गमन सम्बन्धी सामग्री जैन करणानुयोग के ग्रन्थों में उपलब्ध है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

(घ) पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने की विकसित जैन प्रक्रिया, जैनेतर ग्रन्थों में छठी शती के बाद दृष्टिगत होना।

(ङ) जैन ज्योतिष में संवत्सर सम्बन्धी प्रक्रिया में मौलिकता होना।[1]

(च) दिनमान प्रमाण सम्बन्धी प्रक्रिया में, पितामह सिद्धांत का जैन प्रक्रिया से प्रभावित प्रतीत होना।

(छ) छाया माप द्वारा समय निरूपण का विकसित रूप इष्ट काल, मयाति आदि होना।

इनके अतिरिक्त आतप और तम क्षेत्र का दर्शाये रूप में प्रकट करना किस प्रक्षेप के आधार पर किया गया है और सूर्य, चन्द्र के रूप और प्रतिरूप का उपयोग किस आधार पर हुआ है इस सम्बन्धी शोध चल रही है। चक्षुस्पर्शध्वान पर भी अभी कुछ नहीं कहा जा सकता है जब तक कि उसकी प्रायोगिक विज्ञान से तुलना न कर ली जाये।

पूज्य आर्यिका विशुद्धमतीजी ने असीम परिश्रम कर चित्र सहित अनेक गणितीय प्रकरणों का निरूपण ग्रन्थ की टीका करते हुए कर दिया है। अतएव संक्षेप में विभिन्न गाथाओं में आये हुए प्रकरणों के सूत्रों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण गणितीय विवरण देना उपयुक्त होगा।

२. तिलोयपण्णत्ती के कतिपय गणितीय प्रकरण :

(प्रथम महाधिकार)

गाथा १/९१ अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्यभाग में स्थित, जीवादि पाँच द्रव्यों से व्याप्त और जगश्रेणी के घन प्रमाण यह लोकाकाश है।

≡ १६ ख ख ख

उपर्युक्त निरूपण में ≡ जगश्रेणी के घन का प्रतीक है जो लोकाकाश है। १६ जीवराशि की प्रचलित संदृष्टि है। इसी प्रकार १६ से अनन्तगुनी १६ ख पुद्गल परमाणु राशि की संदृष्टि है और इससे अनन्तगुणी १६ ख ख भूत वर्तमान भविष्य त्रिकालगत समय राशि है। इस समय राशि से अनन्त गुणी १६ ख ख ख अनन्त आकाशगत प्रदेश राशि की संदृष्टि मानी गयी है जो अनन्त

---

[1] अयन के कारण विषुवांश में अन्तर आता है जिससे ऋतुएँ अपना समय धीरे-धीरे बदलती जाती हैं। अयन के कारण होने वाले परिवतन को जैनाचार्यों ने संभवत देखा होगा और अपना नया पचांग विकसित किया होगा। वेदांग ज्योतिष में माघशुक्ल प्रथम को सूर्य नक्षत्र घनिष्ठा और चन्द्र नक्षत्र को भी घनिष्ठा लिया गया है जबकि सूर्य उत्तरापथ पर रहता था। किंतु जैन पंचांग (तिलोयपण्णत्ती आदि) में जब सूर्य उत्तरापथ पर होता था तब माघ कृष्णा सप्तमी को सूर्य अभिजित् नक्षत्र में और चन्द्रमा हस्त नक्षत्र में रहता था। अयन का ३६०° का परिवर्तन प्राय: २६००० वर्षों में होता दृष्टिगत हुआ है।

अलोकाकाश की भी प्रतीक मानी जा सकती है क्योंकि इसकी तुलना में ≡ लोकाकाश प्रदेश राशि नगण्य है। इस प्रकार उक्त संदृष्टि चरितार्थ होती है।

गाथा १/९३-१३०

आठ उपमा प्रमाणों की संदृष्टियाँ

प० १। सा० २। सू० ३। प्र० ४। घ० ५। ज० ६। लोक प्र० ७। लो० ८॥

दी गयी हैं जो पल्य सागरादि के प्रथम अक्षर रूप हैं।

व्यवहार पल्य से संख्या का प्रमाण, उद्धारपल्य से द्वीप-समुद्रादि का प्रमाण और अद्धापल्य से कर्मों की स्थिति का प्रमाण लगाया जाता है। यहाँ गाथा १०२ आदि से निम्न माप निरूपण दिया गया है जो अंगुल और अंततः योजन को उत्पन्न करता है :—

अनन्तानन्त परमाणु द्रव्य राशि = १ उवसन्नासन्न स्कन्ध
८ उवसन्नासन्न स्कन्ध = १ सन्नासन्न स्कन्ध
८ सन्नासन्न स्कन्ध = १ त्रुटिरेणु स्कन्ध
८ त्रुटिरेणु स्कन्ध = १ त्रसरेणु स्कन्ध
८ त्रसरेणु स्कन्ध = १ रथरेणु स्कन्ध
८ रथरेणु स्कन्ध = १ उत्तम भोगभूमि बालाग्र
८ उत्तम भोगभूमि बालाग्र = १ मध्यम भोगभूमि बालाग्र
८ मध्यम भोगभूमि बालाग्र = १ जघन्य भोगभूमि बालाग्र
८ जघन्य भोगभूमि बालाग्र = १ कर्मभूमि बालाग्र
८ कर्मभूमि बालाग्र = १ लीक
८ लीकें = १ जूँ
८ जूं = १ जौ
८ जौ = १ अंगुल

उपर्युक्त परिभाषा मे प्राप्त अंगुल, सूच्यंगुल कहलाता है जिसकी संदृष्टि २ का अंक मानी गयी है। इस अंगुल को उत्सेध अंगुल भी कहते हैं जिससे देव मनुष्यादि के शरीर की ऊँचाई, देवों के निवासस्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है। पाँच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्ती का एक अंगुल होता है जिसे प्रमाणांगुल कहते हैं जिससे द्वीप समुद्रादि का प्रमाण होता है। स्व स्व काल के भरत ऐरावत क्षेत्र में मनुष्यों के अंगुल को आत्मांगुल कहते हैं, जिससे झारीकलशादि की संख्या का प्रमाण होता है। यहाँ आर्यिकाश्री विशुद्धमतीजी ने प्रश्न उठाया कि तिलोयपण्णत्ती में जो द्वीप-समुद्रादि के प्रमाण योजनों और अंगुल आदि में दिये गये हैं उससे नीचे की इकाइयों में परिवर्तन कैसे किया जाय क्योंकि वे प्रमाणांगुल के आधार पर योजनादि

लिये गये हैं और उक्त योजन से जो अंगुल उत्पन्न हो उसमें क्या ५०० का गुणनकर नीचे की इकाइयाँ प्राप्त की जाएँ ? वास्तव में, जहाँ जिस अंगुल की आवश्यकता हो, उसे ही लेकर निम्नलिखित प्रमाणों का उपयोग किया जाना चाहिए :

६ अंगुल = १ पाद; २ पाद = १ वितस्ति; २ वितस्ति = १ हाथ; २ हाथ = १ रिक्कू;

२ रिक्कू = १ दण्ड; १ दण्ड या ४ हाथ = १ धनुष = १ मूसल = १ नाली;

२००० धनुष या २००० नाली = १ कोस; ४ कोस = १ योजन।

अतएव जिसप्रकार का अंगुल चुना जायेगा, स्वयमेव उस प्रकार का योजन उत्पन्न होगा। प्रमाण अंगुल किये जाने पर प्रमाण योजन और उत्सेध अंगुल किये जाने पर उत्सेध योजन प्राप्त होगा।

योजन को प्रमाण लेकर व्यवहार पल्योपम का वर्षों में मान प्राप्त हो जाना है। इस हेतु गड्ढे में रोमों की संख्या – $\frac{१९}{२४}$ $(४)^3$ $(२०००)^3$ $(४)^3$ $(२४)^3$ $(५००)^3$ $(८)^{२१}$ प्राप्त होती है। यह व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या है जिसमें १०० का गुणन करने पर व्यवहार पल्योपम काल राशि वर्षों में प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात्--

उद्धार पल्य राशि = व्यवहार पल्य राशि × असंख्यात करोड़ वर्ष समय राशि

यह समय राशि ही उद्धारपल्योपम काल कहलाती है। इस उद्धारपल्य राशि से द्वीप समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है।

अद्धापल्य राशि = उद्धारपल्य राशि × असंख्यात वर्ष समय राशि

यह समय राशि ही अद्धा-पल्योपम काल राशि कहलाती है। इस अद्धापल्य राशि से नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की आयु तथा कर्मों की स्थिति का प्रमाण ज्ञातव्य है।

१० कोड़ाकोड़ी व्यवहार पल्य	=	१ व्यवहार सागरोपम
१० कोड़ाकोड़ी उद्धार पल्य	=	१ उद्धार सागरोपम
१० कोड़ाकोड़ी अद्धा पल्य	=	१ अद्धा सागरोपम

गाथा १/१३१, १३२

सूच्यंगुल में जो प्रदेश राशि होती है उसकी संख्या निकालने के लिए पहले अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद निकालते हैं और उन्हें शलाका रूप स्थापित कर एक-एक शलाका के प्रति पल्य को रखकर आपस में गुणित करते हैं। जो राशि इस प्रकार उत्पन्न होती है, वह सूच्यंगुल राशि है :

$$\text{सूच्यंगुल} = [\text{पल्य}]^{(\text{पल्य के अर्द्धच्छेद})}$$

इसी प्रकार

$$\text{जगच्छ्रेणी} = [\text{घनांगुल}]^{\frac{(\text{पल्य के अर्द्धच्छेद})}{\text{असंख्यात}}}$$

यहाँ सूच्यंगुल राशि की संदृष्टि "२" और जगच्छ्रेणी की संदृष्टि "—" है।

इसी प्रकार

प्रतरांगुल = (सूच्यंगुल राशि)^{२}, संदृष्टि ४
घनांगुल = (सूच्यंगुल राशि)^{३}, संदृष्टि ६
जगप्रतर = (जगश्रेणि राशि)^{२}, संदृष्टि '='
घनलोक = (जगश्रेणि राशि)^{३}, संदृष्टि '≡'
राजू = (जगश्रेणि ÷ ७), संदृष्टि '७'

ये सभी प्रदेश राशियाँ हैं और इनका सम्बन्ध पल्योपमादि समयराशियों से स्थापित किया गया है।

गाथा १/१६५

इस गाथा में अधोलोक का घनफल निकालने के लिए सूत्र दिया गया है, जो वेत्रासन सदृश है।

$$\text{घनफल वेत्रासन} = \left[\frac{\text{मुख} + \text{भूमि}}{\text{२}} \times \text{वेध}\right]$$

यहाँ वेध का अर्थ ऊँचाई है।

गाथा १/१६६

अधोलोक का घनफल = $\frac{४}{७}$ × पूर्ण लोक का घनफल

अर्द्ध अधोलोक का घनफल = $\frac{३}{७}$ × पूर्ण लोक का घनफल

गाथा १/१७६—१७७ : इस गाथा में समानुपाती भाग निकालने का सूत्र दिया गया हैं।

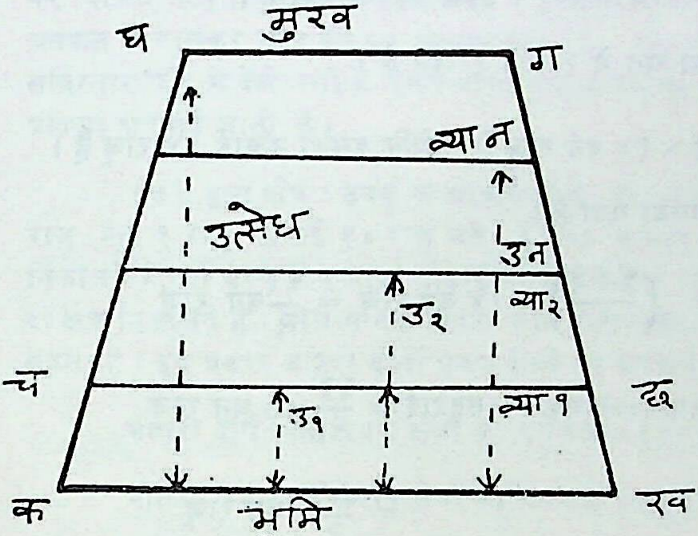

$$\text{वृद्धि} = \frac{\text{भूमि}-\text{मुख}}{\text{उत्सेध}}$$

यहाँ उ उत्सेध का प्रतीक और व्या व्यास का प्रतीक है।

$$\text{भूमि} - \left[\frac{\text{भूमि}-\text{मुख}}{\text{उत्सेध}}\right]\text{उ}_{१} = \text{व्या}_{१}$$

$$\text{भूमि} - \left[\frac{\text{भूमि}-\text{मुख}}{\text{उत्सेध}}\right]\text{उ}_{२} = \text{व्या}_{२}$$

$$\text{भूमि} - \left[\frac{\text{भूमि}-\text{मुख}}{\text{उत्सेध}}\right]\text{उ}_{\text{न}} = \text{व्या}_{\text{न}}$$

इसी प्रकार हानि का सूत्र प्राप्त करते हैं।

गाथा १/१८१

इस गाथा में दो सूत्र दिये गये हैं।

$$\frac{\text{भुजा} + \text{प्रतिभुजा}}{२} = \text{व्यास}; \ \text{व्यास} \times \text{ऊँचाई} \times \text{मोटाई} = \text{समकोण त्रिकोण क्षेत्र का घनफल}$$

$$\frac{\text{व्यास}}{२} \times \text{लम्ब बाहु} \times \text{मोटाई} = \text{लम्ब बाहुयुक्त क्षेत्र का घनफल}$$

गाथा १/२१६ आदि :

सम्पूर्ण लोक को आठ प्रकार की आकृतियों में निर्दशित किया गया है। इसमें प्रयुक्त सूत्र निम्न प्रकार हैं। सभी आकृतियों के घनफल जगश्रेणी के घन प्रमाण हैं।

(१) सामान्यलोक = जगश्रेणी के घन प्रमाण यह आकृति पूर्व में ही दी जा चुकी है जो सामान्यतः मान्य रूप है।

(२) ऊर्ध्व आयत चतुरस्र : जगश्रेणी के घन प्रमाण यह आकृति घनाकार होनी चाहिए जिसकी लंबाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई समान रूप से जगश्रेणी या ७ राजू हो। इस प्रकार इसका घनफल

= लंबाई × चौड़ाई × ऊँचाई = ७ × ७ × ७ घन राजू = ३४३ घन राजू

(३) तिर्यक् आयत चतुरस्र : जगश्रेणी के घन प्रमाण इस आकृति में सभी विमाएँ समान नहीं हैं, अतएव घनायत रूप इसका घनफल

= १४ × $\frac{७}{२}$ × ७ घनराजू = ३४३ घनराजू

(४) यवमुरज क्षेत्र : यह क्षत्र मूरज और यवों के द्वारा दर्शाया गया है।

मुरज आकृति बीच में $\frac{\text{७}}{\text{२}}$ राज तथा अंत में १ राजू १ राजू है।

अतएव उसका क्षेत्रफल $\left(\frac{\frac{\text{७}}{\text{२}}+\text{१}}{\text{२}}\right)\times\text{१४}$ वर्ग राजू है, क्योंकि इसकी ऊँचाई १४ राजू है। यहाँ "मुखभूमिजोगदले" वाला ही सूत्र लगाया गया है।

अतः मुरज आकृति का क्षेत्रफल $=\left(\frac{\frac{\text{७}}{\text{२}}+\text{१}}{\text{२}}\right)\times\text{१४}$ वर्ग राजू $=\frac{\text{६३}}{\text{२}}$ वर्ग राजू

मुरज आकृति का घनफल $=$ क्षत्रफल $\times$ गहराई $=\frac{\text{६३}}{\text{२}}\times\text{७}$ घन राजू

$=\frac{\text{४४१}}{\text{२}}$ घन राजू

शेष क्षत्र में यव आकृतियाँ २५ समाती हैं।

एक यव का क्षेत्रफल $=\left(\frac{\text{१}}{\text{२}}\text{ राजू}\div\text{२}\right)\times\frac{\text{१४}}{\text{५}}$ वर्ग राजू $=\frac{\text{७}}{\text{१०}}$ वर्ग राजू

एक यव का घनफल $=\frac{\text{७}}{\text{१०}}\times\text{७}$ घन राजू $\frac{\text{४९}}{\text{१०}}$ घन राजू अथवा $\underset{\text{७०}}{\equiv}$

२५ यवों का घन $=\frac{\text{४९}}{\text{१०}}\times\text{२५}$ घन राजू अथवा २५ $\underset{\text{७०}}{\equiv}$

(५) यव मध्य क्षेत्र—बाहल्य ७ राजू वाली यह आकृति आधे मुरज के समान होती है। इसमें मुख १ राजू, भूमि पुनः ७ राजू है, जैसा कि यवमुरज क्षेत्र होता है, किन्तु इसमें मुरज न डालकर केवल अर्द्धयवों से पूरित करते हैं। इस प्रकार इसमें ३५ अर्द्ध यव इस यवमध्य क्षेत्र में समाते हैं।

एक अर्द्ध यव का क्षेत्रफल $=\frac{\text{१}}{\text{२}}\times\frac{\text{१४}}{\text{५}}$ वर्गराजू $=\frac{\text{७}}{\text{५}}$ वर्गराजू

एक अर्द्ध यव का घनफल $=\frac{\text{७}}{\text{५}}\times\text{७}$ घनराजू $=\frac{\text{४९}}{\text{५}}$ घनराजू

इस प्रकार ३५ अर्द्ध यवों का घनफल $=\frac{\text{४९}}{\text{५}}\times\text{३५}$ घनराजू $=$ ३४३ घनराजू

इस प्रकार यव मध्य क्षेत्र का घनफल ३४३ घनराजू होता है। संदृष्टि में $\underset{\text{३५}}{\equiv}$ एक अर्द्धयव का घनफल है। $\equiv|\equiv$ संदृष्टि का अर्थ है कि १४ राजू उत्सेध को पाँच बराबर भागों में बाँटा जाये।

(६) मन्दराकार क्षेत्र : उपर्युक्त आकृतियों के ही समान आकृति लोक की लेते हैं जहाँ भूमि ६ राजू, मुख १ राजू, ऊँचाई १४ राजू और मोटाई ७ राजू लेते हैं। समानुपात के सिद्धान्त

पर विभिन्न उत्सेधों पर व्यास निकालकर 'मुहभूमिजोगदले' सूत्र से विभिन्न निर्मित वेत्रासनों के घनफल निकालकर जोड़ देने पर सम्पूर्ण लोक का घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त करते हैं। इसे सविस्तार ग्रंथ में देखें, क्योंकि बचने वाली शेष ग्राकृतियों को जोड़कर पुन: घनफल निकालने की प्रक्रिया ग्रपनाई जाती है।

(७) **दूष्य क्षेत्र :** उपर्युक्त ग्राकृतियों के ही समान लोक का ग्राकृति लेते हैं, जहाँ भूमि ६ राजू, मुख १ राजू, ऊँचाई १४ राजू लेते हैं तथा बाहल्य ७ राजू है। इसमें से मध्य में २½ यव निकालते हैं, जो मध्य में १ राजू चौड़ाई वाले होते हैं। बाहर ½ राजू भूमि तथा ½ राजू मुख वाले दो क्षेत्र निकालते हैं। बीच में यव निकल जाने के पश्चात् शेष क्षेत्रों का घनफल भी निकाला जा सकता है। इस प्रकार बाहरी दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल = ९८ घनराजू।

भीतरी दीर्घ दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल = १३७½ घनराजू

भीतरी लघु दोनों प्रवण क्षेत्रों का घनफल = ५८½ घनराजू

२½ यव क्षेत्रों का घनफल = ४९ घनराजू

इस प्रकार लोक का कुल घनफल २४३ घनराजू प्राप्त होता है।

(८) **गिरिकटक क्षेत्र :** यह क्षेत्र यवमध्य क्षेत्र जैसा ही माना जा सकता है, जिसमें २० गिरियाँ हैं, शेष उलटी गिरियाँ हैं। इस प्रकार कुल गिरिकटक क्षेत्र मिश्र घनफल से बना है। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों में विशेष ग्रंतर दिखाई नहीं दिया है।

२० गिरियों का घनफल = $\frac{४९}{५}$ × २० = १९६ घन राजू

शेष १५ गिरियों का घनफल = $\frac{४९}{५}$ × १५ = १४७ घन राजू

इस प्रकार मिश्र घनफल ३४३ घन राजू प्राप्त होता है।

गाथा १/२७० ग्रादि

वातवलयों द्वारा वेष्टित लोक का विवरण इन गाथाग्रों में है, जहाँ विभिन्न ग्राकृतियों वाले वातवलयों के घनफल निकाले गये हैं। ये या तो संक्षेभ के समच्छिन्नक हैं, ग्रायतज हैं, समान्तरानीक है, जिनमें पारम्परिक सूत्रों का उपयोग किया जाता है। संदृष्टियाँ ग्रपने ग्राप में स्पष्ट हैं। वातावरुद्ध क्षेत्र ग्रौर ग्राठ भूमियों के घनफल को मिलाकर उसे सम्पूर्ण लोक में से घटाने पर ग्रवशिष्ट शुद्ध ग्राकाश के प्रतीक रूप में ही उस संदृष्टि को माना जा सकता है। वर्ग राजुग्रों में योजन का गुणन बतलाकर घनफल निकाला गया है—उन्हें संदृष्टि रूप में जगप्रतर से योजनों द्वारा गुणित बतलाया गया है।

द्वितीय महाधिकार :

गाथा २/५८

इस गाथा में श्रेणिव्यवहार गणित का उपयोग है, जिसे समान्तर श्रेणि भी कहते हैं। मान लो प्रथम पाथड़े में बिलों की कुल संख्या a हो और तब प्रत्येक द्वितीयादि पाथड़े में क्रमश: उत्तरोत्तर हानि d हो तो n वें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित सूत्र है :

इष्ट nवें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या $=\{a-(n-१)\,d\}$

यहाँ $a=३८९$, $d=८$ और $n=४$ है, ∴ चौथे पाथड़े में श्रेणिबद्ध बिलों की संख्य। $\{२८९-(४-१)८\}=३६५$ होती है।

गाथा २/५९

ग्रन्थकार ने n वें पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए सूत्र दिया है : इष्ट पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या=

$$\left(\frac{a-५}{d}+१-n\right)d+५$$

गाथा २/६० : यदि प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की संख्या a और n वें पाथड़े में a n मान ली जाये तो n का मान निकालने के लिए सूत्र निम्नलिखित है—

$$n=\left[\frac{a-५}{d}-\frac{an-५}{d}\right]$$

गाथा २/६१ : श्रेणिव्यवहार गणित में, किसी श्रेणी में प्रथम स्थान में जो प्रमाण रहता है उसे आदि, मुख (वदन) अथवा प्रभव कहते हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होने वाली वृद्धि या हानि के प्रमाण को चय या उत्तर कहते हैं। ऐसी वृद्धि हानि वाले स्थानों को गच्छ या पद कहते हैं। उपर्युक्त को क्रमश: first term, Common difference, number of terms कहते हैं।

गाथा २/६४ : संकलित धन को निकालने के लिए सूत्र दिया गया है।

मान लो कुल धन S हो, प्रथम पद a हो, चय d हो, गच्छ n हो तो सूत्र इच्छित श्रेणी में संकलित धन को प्राप्त कराता है :

$$S=\left[\,(n-\text{इच्छा})d+(\text{इच्छा}-१)d+(a.२)\,\right]\frac{n}{२}$$

इच्छा का मान १.२ आदि हो सकता है।

गाथा २/६५ : इसी प्रकार संकलित धन निकालने का दूसरा सूत्र इस प्रकार है :

$$S=\left[\left\{\left(\frac{n-१}{२}\right)^{२}+\left(\frac{n-१}{२}\right)\right\}d+५\right]n$$

यह समीकरण उपर्युक्त सभी श्रेणियों के लिए साधारण है।

उपर्युक्त में संख्या ५ महातमःप्रभा के बिलों से सम्बन्धित होनी चाहिए। ५ को अन्तिम पद माना जा सकता है।

अन्तिम पद $= a - (४९ - १)\ d$

यदि a का मान ३८९ और d का मान ८ हो तो

अन्तिम पद $= ३८९ - (४९ - १)\ ८ = ५$ होता है।

गाथा २/६९ : सम्पूर्ण पृथ्वियों, इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों के प्रमाण को निकालने के लिए आदि ५, चय ८ और गच्छ का प्रमाण ४९ है।

गाथा २/७० : यहाँ सात पृथ्वियाँ हैं. जिनमें श्रेणियों की संख्या ७ है। अंतिम श्रेणी में एक ही पद ५ है। इन सभी का संकलित धन प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित सूत्र ग्रंथकार ने दिया है—

$$S_{१} = \tfrac{N}{२}[\ (N+७)\ D - \ (७+१)\ D + २\ A]$$
$$= \tfrac{N}{२}[\ २\ A + (N-१)\ D\ ]$$

यहाँ इष्ट ७ है। A, D, N क्रमशः आदि, चय और गच्छ हैं।

गाथा २/७१ : उपर्युक्त के लिए दूसरा सूत्र निम्न प्रकार दिया गया है—

$$S_{१} = [\ (\tfrac{N-१}{२} \times D) + A]\ N$$
$$= \tfrac{N}{२}[२A + (N-१)\ D]$$

गाथा २/७४ : यहां भी साधारण सूत्र दिया है—

$$S_{२} = \frac{[n^{२}.d] + (२\,n\,.\,d) - nd}{२}$$
$$= \tfrac{n}{२}[\ (n-१)d + २d]$$

गाथा २/८१

इंद्रकों रहित बिलों (श्रेणिबद्ध बिलों) की समस्त पृथ्वियों में कुल संख्या निकालने के लिए सूत्र दिया गया है। यहाँ आदि ५ नहीं होकर ४ है क्योंकि महातमःप्रभा में केवल एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध बिल हैं। यही आदि, अथवा **A** है; गच्छ **N** या ४९ है, प्रचय **D** या ८ है।

सूत्र —

$$S_3=\frac{(N^{२}-N)\,D+(N.A.)}{२}+\left(\frac{A}{२}.N\right)$$

$$=\frac{N}{२}\left[२A+(N-१)D\right]$$

गाथा २/८२-८३ :

यहाँ आदि A को निकालने हेतु सूत्र दिया है—

$$A=\frac{\left[S_3\div\frac{n}{२}\right]+(D.७)-[७-१+N]D}{२}$$

इसे साधित करने पर पूर्व जैसा सूत्र प्राप्त हो जाता है।

यहाँ इष्ट पृथ्वी ७वीं है, जिसका आदि निकालना इष्ट था।

७ के स्थान पर और कोई भी इच्छाराशि हो सकती है।

गाथा २/८४ :

चय अर्थात् D को निकालने के लिए ग्रन्थकार ने सूत्र दिया है—

$$D=S_3\div\left([N-१]\tfrac{N}{२}\right)-\left(A\div\frac{N-१}{२}\right)$$

गाथा २/८५ : ग्रन्थकार ने रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वो के संकलित धन (श्रेणिबद्ध बिलों की कुल संख्या) को लेकर पद १३ को निकालने हेतु निम्नलिखित सूत्र का उपयोग किया है, जहाँ n= १३, $S_{२}=४४२०$, d=८ और a=२९२ आदि है।

$$n=\left\{\sqrt{\left(S_{२}.\frac{d}{२}\right)+\left(\frac{a-\frac{d}{२}}{२}\right)^{२}}-\frac{\left(a-\frac{d}{२}\right)}{२}\right\}\div\frac{d}{२}$$

इसे भी साधित करने पर पूर्ववत् समीकरण प्राप्त होता है।

गाथा २/८६ :

उपर्युक्त के लिए दूसरा सूत्र भी निम्नलिखित रूप में दिया गया है

$$n=\left\{\sqrt{(२.d.S_{२})+\left(a-\tfrac{d}{२}\right)^{२}}-\left(a-\tfrac{d}{२}\right)\right\}\div d$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकरण प्राप्त होता है।

गाथा २/१०५ : यहाँ प्रचय अथवा d को निकालने का सूत्र दिया है जब अन्तिम पद मानलो 1 हो :

$$d = \frac{a—1}{(n—१)}$$

प्रथम बिल से यदि nवें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्र यह है :

$$a_n = a - (n—१)\ d,$$

यदि अंतिम बिल से nवें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्र यह है :

$$b_n = b + (n—१)\ d,$$

जहाँ a_n और b_n उन nवें बिलों के विस्तारों के प्रतीक हैं। यहाँ विस्तार का अर्थ व्यास किया जा सकता है।

गाथा २/१५७ : इन बिलों की गहराई (बाहल्य) समान्तर श्रेणी में है। कुल पृथ्वियाँ ७ हैं। यदि nवीं पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र यह है—

nवीं पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य $= \dfrac{(n + १)\,३}{(७—१)}$

nवीं पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलों का बाहल्य $= \dfrac{(n+१) \times ४}{(७—१)}$

इसी प्रकार, nवीं पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य $= \dfrac{(n+१) \times ७}{(७—१)}$

गाथा २/१५८ : दूसरी विधि से बिलों का बाहल्य निकालने हेतु ग्रंथकार ने आदि के प्रमाण क्रमशः ६, ८ और १४ लिये हैं। यहाँ भी पृथ्वियों की संख्या ७ है। यदि nवीं पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र निम्नलिखित है :

n वीं पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य $= \dfrac{(६ + n.\frac{६}{२})}{(७—१)}$

यहां ६ को आदि लिखें तो दक्षिण पक्ष $= \left(\dfrac{a + n.\frac{a}{२}}{७—१}\right)$ होता है।

प्रकीर्णक बिलों के लिए भी यही नियम है।

गाथा २/१६६ : यहाँ घर्मा या रत्नप्रभा के नारकियों की संख्या निकालने के लिए जगश्रेणी और घनांगुल का उपयोग हुआ है। घनांगुल को ६ और सूच्यंगुल को २ लेकर घर्मा पृथ्वी के नारकियों की संख्या :

$$= \text{जगश्रेणी} \times (\text{कुछ कम}) \sqrt{\sqrt{६}} = \text{जगश्रेणी} \times \left[\text{कुछ कम} \sqrt[४]{(२)^{३}} \right]$$

तृतीय महाधिकार :

गाथा ३/७९ : इस गाथा में गुणसंकलित धन अथवा गुणोत्तर श्रेणी के योग का सूत्र दिया गया है ।

गच्छ=७, मुख=४०००, गुणकार (Common ratio) का प्रमाण २ है ।

मानलो S_n को n पदों का योग माना जाये जबकि प्रथम पद और गुणकार r हो तब

$$S_n = \{ (r.\ r.\ r.\ \ldots\ n \text{ पदों तक}) - १ \} \div (r - १) \times a$$

$$\text{अथवा } S_n = \frac{(r^n - १)a}{r - १}$$

विषयानुक्रम

विषय गाथा/पृ० सं०

प्रथम महाधिकार

[गा० १-२८६]

(१–१३८ पृ०)

मङ्गल (गा० १ । ३१)

मङ्गलाचरण : सिद्ध स्तवन १ । १

अरहन्त स्तवन २ । १

आचार्य स्तवन ३ । १

उपाध्याय स्तवन ४ । २

साधु स्तवन ५ । २

ग्रन्थ-रचना-प्रतिज्ञा ६ । २

ग्रन्थारम्भ में करणीय छह कार्य ७ । २

मंगल के पर्यायवाचक शब्द ८ । ३

मगल शब्द की निरुक्ति ९ । ३

मंगल के भेद १० । ३

द्रव्यमल और भावमल ११-१३ । ३

मंगल शब्द की सार्थकता १४ । ४

मंगलाचरण की सार्थकता १५-१७ । ४

मंगलाचरण के नामादिक छह भेद १८ । ५

नाम मंगल १९ । ५

स्थापना व द्रव्य मंगल २० । ५

क्षेत्र मंगल २१-२३ । ५-६

काल मंगल २४-२६ । ६

भाव मंगल २७ । ७

मंगलाचरण के आदिमध्य और अन्त भेद २८ । ७

आदि मध्य और अन्त मंगल की सार्थकता २९ । ७

जिननाम ग्रहण का फल ३० । ७

ग्रंथ में मगल का प्रयोजन ३१ । ७

ग्रन्थावतार निमित्त (गा० ३३-३४) ८

ग्रन्थावतार हेतु (गा० ३५-५२) ८-१२

हेतु एवं उसके भेद ३५ । ८

प्रत्यक्ष हेतु ३६-३८ । ९

परोक्ष हेतु एवं अभ्युदय सुख ३९-४१ । ९

राजा का लक्षण ४२ । १०

अठारह श्रेणियों के नाम ४३-४४ । १०

अधिराज एवं महाराज का लक्षण ४५ । १०

अर्धमण्डलीक एवं मण्डलीक का लक्षण ४६ । ११

महामण्डलीक एवं अर्धचक्री का लक्षण ४७ । ११

चक्रवर्ती और तीर्थंकर का लक्षण ४८ । ११

मोक्षसुख ४९ । ११

श्रुतज्ञान की भावना का फल ५० । १२

परमागम पढ़ने का फल ५१ । १२

विषय — गाथा/पृ० सं०

आर्षवचनों के अभ्यास का फल ५२ । १२

प्रमाण (गा० ५३) १२

श्रुत का प्रमाण ५३ । १२

नाम (गा० ५४) १३

ग्रन्थनाम कथन ५४ । १३

कर्त्ता (गा० ५५-८४) १३ । १८

कर्ता के भेद ५५ । १३
द्रव्यापेक्षा अर्थागम के कर्ता ५६-६४ । १३
क्षेत्रापेक्षा अर्थकर्ता ६५ । १५
पंचशैल ६६-६७ । १५
काल की अपेक्षा अर्थकर्त्ता एवं धर्मतीर्थ की उत्पत्ति ६८-७० । १५
भाव की अपेक्षा अर्थकर्ता ७१-७५ । १६
गौतम गणधर द्वारा श्रुत रचना ७६-७६ । १७
कर्त्ता के तीन भेद ८० । १७
सूत्र की प्रमाणता ८१ । १८
नय, प्रमाण और निक्षेप के बिना अर्थं निरीक्षण करने का फल ८२ । १८
प्रमाण एवं नयादि का लक्षण ८३ । १८
रत्नत्रय का कारण ८४ । १८
ग्रन्थ-प्रतिपादन की प्रतिज्ञा ८५-८७ । १६
ग्रंथ के नव अधिकारों के नाम ८८-६० । १६

परिभाषा (गा० ६१-१३२) २०-३०

लोकाकाश का लक्षण ६१-६२ । २०
उपमा प्रमाण के भेद ६३ । २१
पल्य के भेद एवं उनके विषयों का निर्देश ६४-२१
स्कन्ध, देश, प्रदेश एवं परमाणु का स्वरूप ६५-२१
परमाणु का स्वरूप ६६-६८ । २१
परमाणु का पुद्गलत्व ६६ । २२
परमाणु पुद्गल ही है १०० । २२
नय-अपेक्षा परमाणु का स्वरूप १०१ । २२
उवसन्नासन्न स्कन्ध का लक्षण १०२ । २३
सन्नासन्न से अंगुल पर्यन्त के लक्षण १०३-१०६ । २३
अंगुल के भेद एवं उत्सेधांगुल का लक्षण १०७ । २३
प्रमाणांगुल का लक्षण १०८ । २४
आत्मांगुल का लक्षण १०६ । २४
उत्सेधांगुल द्वारा माप करने योग्य वस्तुएँ ११० । २४
प्रमाणांगुल से मापने योग्य पदार्थं १११ । २४
आत्मांगुल से मापने योग्य पदार्थं ११२-१३ । २५
पाद से कोस पर्यन्त की परिभाषायें ११४-१५ । २५
योजन का माप ११६ । २५
गोलक्षेत्र की परिधि का प्रमाण, क्षेत्रफल एवं घनफल ११७-११८ । २५
व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या निकालने का विधान तथा उनका प्रमाण ११६-२४ । २६
व्यवहार पल्य का लक्षण १२५ । २८
उद्धार पल्य का प्रमाण १२६-१२७ । २८
अद्धार या अद्धापल्य के लक्षण १२८-२६ । २६
व्यवहार, उद्धार एवं अद्धा सागरोपमों के लक्षण १३० । २६
सूच्यंगुल और जगच्छ्रेणी के लक्षण १३१ । ३०
सूच्यंगुल आदि का तथा राजू का लक्षण १३२ । ३०

सामान्य लोक स्वरूप (गा० १३३-२८६) ३१-१३८

लोकस्वरूप १३१-१३४ । ३१
लोकाकाश एवं अलोकाकाश १३५ । ३२
लोक के भेद १३६ । ३२
तीन लोक की आकृति १३७-३८ । ३२
अधोलोक का माप एवं आकार १३६ । ३३

विषय	गाथा/पृ० सं०
सम्पूर्ण लोक को वर्गाकृति में लाने का विधान एवं आकृति	१४० । ३४
लोक की डेढ़ मृदंग सदृश आकृति बनाने का विधान	१४१-४४ । ३५
सम्पूर्ण लोक को प्रतराकार रूप करने का विधान	१४५-४७ । ३६
त्रिलोक की ऊँचाई, चौड़ाई और मोटाई के वर्णन की प्रतिज्ञा	१४८ । ३७
दक्षिण उत्तर सहित लोक का प्रमाण एवं आकृति	१४९ । ३७
अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई में सदृशता	१५० । ३८
तीनों लोकों की पृथक्-पृथक् ऊँचाई	१५१ । ३९
अधोलोक में स्थित पृथिवियों के नाम और उनका अवस्थान	१५२ । ३९
रत्नप्रभादि पृथिवियों के गोत्र नाम	१५३ । ४०
मध्यलोक के अधोभाग से लोक के अन्त पर्यन्त राजू विभाग	१५४-१५७ । ४०
मध्यलोक के ऊपरी भाग से अनुत्तर विमान पर्यन्त राजू विभाग	१५८-६२ । ४१
कल्प एवं कल्पातीत भूमियों का अन्त	१६३ । ४२
अधोलोक के मुख और भूमि का विस्तार एवं ऊँचाई	१६४ । ४३
अधोलोक का क्षेत्रफल निकालने की विधि	१६५ । ४३
पूर्ण अधोलोक एवं उसके अर्धभाग के घनफल का प्रमाण	१६६ । ४३
अधोलोक में त्रसनाली का घनफल	१६७ । ४४
त्रसनाली से रहित और उसके सहित अधोलोक का घनफल	१६८ । ४४
ऊर्ध्वलोक के आकार को अधोलोक स्वरूप करने की प्रक्रिया एवं आकृति	१६९ । ४५
ऊर्ध्वलोक के व्यास एवं ऊँचाई का प्रमाण	१७० । ४६
सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक और उसके अर्धभाग का घनफल	१७१ । ४६
ऊर्ध्वलोक में त्रसनाली का घनफल	१७२ । ४६
त्रसनाली रहित एवम् सहित ऊर्ध्वलोक का घनफल	१७३ । ४६
सम्पूर्ण लोक का घनफल एवं लोक के विस्तार-कथन की प्रतिज्ञा	१७४ । ४७
अधोलोक के मुख एवं भूमि का विस्तार तथा ऊँचाई	१७५ । ४८
प्रत्येक पृथिवी के चय निकालने का विधान	१७६ । ४८
प्रत्येक पृथिवी के व्यास का प्रमाण निकालने का विधान	१७७ । ४८
अधोलोकगत सात क्षेत्रों का घनफल निकालने हेतु गुणकार एवं आकृति	१७८-७९ । ४९
पूर्व-पश्चिम से अधोलोक की ऊँचाई प्राप्त करने का विधान एवं उसकी आकृति	१८० : ५१
त्रिकोण एवं लम्बे बाहुयुक्त क्षेत्र के घनफल निकालने की विधि एवं उसका प्रमाण	१८१ । ५२
अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल	१८२ । ५३
सम्पूर्ण अधोलोक का घनफल	१८३ । ५३
लघु भुजाओं के विस्तार का प्रमाण निकालने का विधान एवं आकृति	१८४ । ५४
अधोलोक का क्रमशः घनफल	१८५-१९१ । ५६
ऊर्ध्वलोक के मुख तथा भूमि का विस्तार एवं ऊँचाई	१९२ । ५९
ऊर्ध्वलोक में दस स्थानों के व्यासार्थ चय एवं गुणकारों का प्रमाण	१९३ । ६०

विषय	गाथा पृ० सं०
व्यास का प्रमाण निकालने का विधान	१६४ । ६०
ऊर्ध्वलोक के व्यास की वृद्धि-हानि का प्रमाण	१६५ । ६१
ऊर्ध्वलोक के दस क्षेत्रों का विस्तार एवं उसकी आकृति	१६६-१६७ । ६१
ऊर्ध्वलोक के दसों क्षेत्रों के घनफल का प्रमाण	१६८-१६६ । ६२
स्तम्भों की ऊँचाई एवं उसकी आकृति	२०० । ६४
स्तम्भ-अंतरित क्षेत्रों का घनफल	२०१-२०२ । ६५
ऊर्ध्वलोक में आठ क्षुद्र भुजाओं का विस्तार एवं आकृति	२०३-२०७ । ६६-६७
ऊर्ध्वलोक के ग्यारह त्रिभुज एवं चतुर्भुज क्षेत्रों का घनफल	२०८-२१३ । ६८-७०
आठ आयताकार क्षेत्रों का और मध्यक्षेत्र का घनफल	२१४ । ७१
सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का सम्मिलित घनफल	२१५ । ७१
सम्पूर्ण लोक के आठ भेद एवं उनके नाम	२१६ । ७२
सामान्य एवं दो चतुरस्र लोकों का घनफल एव उनकी आकृतियाँ	२१७ । ७२
यव का प्रमाण, यवमुरज का घनफल एवं आकृति	२१८-२० । ७४
यव मध्यक्षेत्र का घनफल एवं उसकी आकृति	२२१ । ७६
लोक में मन्दर मेरु की ऊँचाई एवं उसकी आकृति	२२२ । ७८
अंतरवर्ती चार त्रिकोणों से चूलिका की सिद्धि एव उसका प्रमाण	२२३-२४ । ७६
हानि वृद्धि (चय) एव विस्तार का प्रमाण	२२५-२६ । ८०

विषय	गाथा/पृ० सं०
मेरुसदृश लोक के सप्त स्थानों का विस्तार	२२७-२६ । ८०
घनफल प्राप्त करने हेतु गुणकार एवं भागहार	२३०-३२ । ८२
सप्त स्थानों के भागहार एव मंदरमेरु लोक का घनफल	२३३ । ८३
दूष्य लोक का घनफल और उसकी आकृति	२३४-३५ । ८४
गिरिकटक लोक का घनफल और उसकी आकृति	२३६ । ८६
अधोलोक का घनफल कहने की प्रतिज्ञा	२३७-३८ । ८७
यवमुरज अधोलोक की आकृति एवं घनफल	२३९ । ८६
यवमध्य अधोलोक का घनफल एवं आकृति	२४० । ६१
मंदरमेरु अधोलोक का घनफल और उसकी आकृति	२४१-४६ । ६२
दूष्य अधोलोक का घनफल	२५०-५१ । ६७
गिरिकटक अधोलोक का घनफल	२५२ । ६६
अधोलोक के वर्णन की समाप्ति एवं ऊर्ध्वलोक के वर्णन की सूचना	२५३ । १००
सामान्य तथा ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक के घनफल एवं आकृतियाँ	२५४ । १००
तिर्यगायत चतुरस्र तथा यवमुरज ऊर्ध्वलोक एवं आकृतियाँ	२५५-५६ । १०२
यवमध्य ऊर्ध्वलोक या घनफल एवं आकृति	२५७ । १०४
मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक का घनफल	२५८-६६ । १०६
दूष्य क्षेत्र का घनफल एव गिरिकटक क्षेत्र कहने की प्रतिज्ञा	२६७-६८ । ११०
गिरिकटक ऊर्ध्वलोक का घनफल	२६९ । ११२
वातवलय के आकार कहने की प्रतिज्ञा	२७० । ११२

विषय गाथा/पृ० सं०

लोक को परिवेष्टित करने वाली वायु का स्वरूप २७१-७२ । ११३
वातवलयों के बाहल्य (मोटाई) का प्रमाण २७३-७६ । ११३
एक राजू पर होने वाली हानि-वृद्धि का प्रमाण २७७-७८ । ११६
पाश्वभागों में वातवलयों का बाहल्य २७९ । ११६
वातमण्डल की मोटाई प्राप्त करने का विधान २८० । ११७
मेरुतल से ऊपर वातवलयों का मोटाई का प्रमाण २८१-८२ । ११८
पार्श्वभागों में तथा लोकशिखर पर पवनों की मोटाई २८३-८४ । ११८
वायुरुद्धक्षेत्र आदि के घनफलों के निरूपण की प्रतिज्ञा २८५ । ११९
वातावरुद्ध क्षेत्र निकालने का विधान एवं घनफल ११९
लोक के शिखर पर वायुरुद्ध क्षेत्र का घनफल १२५
पवनों से रुद्ध समस्त क्षेत्र के घनफलों का योग १२६
पृथिवियों के नीचे पवन से रुद्ध क्षेत्रों का घनफल १२७
आठों पृथिवियों के सम्पूर्ण घनफलों का योग १३१
पृथिवियों के पृथक्-पृथक् घनफल का निर्देश १३३
लोक के शुद्धाकाश का प्रमाण १३७
अधिकारान्त मंगलाचरण २८६ । १३८

द्वितीय महाधिकार

[गा० १—३७१]
[पृ० १३९-२६४]

मङ्गलाचरण पूर्वक नारकलोक-कथन की प्रतिज्ञा १ । १३९

विषय गाथा/पृ० सं०

पन्द्रह अधिकारों का निर्देश २-५ । १३९
त्रसनाली का स्वरूप एवं ऊँचाई ६-७ । १४०
सर्वलोक को त्रसनालीपने की विवक्षा ८ । १४१

१. नारकियों के निवासक्षेत्र (गा० ९-१९५)

रत्नप्रभा पृथिवी के तीन भाग एवं उनका बाहल्य ९ । १४१
खर भाग के एवं चित्रापृथिवी के भेद १० । १४१
चित्रा नाम की सार्थकता ११-१४ । १४२
चित्रा पृथिवी की मोटाई १५ । १४२
अन्य पृथिवियों के नाम एवं उनका बाहल्य १६-१८ । १४३
पंक भाग एवं अब्बहुल भाग का स्वरूप १९ । १४३
रत्नप्रभा नाम की सार्थकता २० । १४४
शेष छह पृथिवियों के नाम एवं उनकी सार्थकता २१ । १४४
शर्करा आदि पृथिवियों का बाहल्य २२ । १४४
प्रकारान्तर से पृथिवियों का बाहल्य २३ । १४५
पृथिवियों से घनोदधि वायु की संलग्नता एवं आकार २४-२५ । १४५
नरक बिलों का प्रमाण २६ । १४५
पृथिवीक्रम से बिलों की संख्या २७ । १४६
बिलों का स्थान २८ । १४७
नरक बिलों में उष्णता का विभाग २९ । १४७
नरक बिलों में शीतता का विभाग ३० । १४७
उष्ण एवं शीत बिलों की संख्या एवं वर्णन ३१-३५ । १४८
बिलों के भेद ३६ । १४९
इन्द्रक बिलों व श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या ३७-३९ । १५१
इन्द्रक बिलों के नाम ४०-४५ । १५१
श्रेणीबद्ध बिलों का निरूपण ४६ । १५२
घर्मादि पृथिवियों के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों के नाम ४७-५४ । १५३-५४

विषय गाथा/पृ० सं०

इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या ५५ । १५५
क्रमशः श्रेणीबद्ध बिलों की हानि ५६-५७ । १५५
श्रेणीबद्ध बिलों के प्रमाण निकालने की विधि ५८-५९ । १५६
इन्द्रक बिलों के प्रमाण निकालने की विधि ६० । १५७
आदि, उत्तर और गच्छ का प्रमाण ६१ । १५७
आदि का प्रमाण ६२ । १५७
गच्छ एवं चय का प्रमाण ६३ । १५८
संकलित धन निकालने का विधान ६४-६५ । १५८-५९
समस्त पृथिवियों के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या ६६-६८ । १६०-६१
सम्मिलित प्रमाण निकालने के लिए आदि, चय एवं गच्छ का प्रमाण ६९-७० । १६१
समस्त पृथिवियों का संकलित धन निकालने का विधान ७१-७२ । १६२
समस्त पृथिवियों का श्रेणीधन निकालने के लिए आदि, गच्छ एवं चय का निर्देश ७३ । १६२
श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए आदि गच्छ एवं चय का निर्देश ७४-७५ । १६२-१६३
श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने का विधान ७६ । १६३
श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या ७७-७९ । १६३-१६४
सब पृथिवियों के समस्त श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए आदि, चय और गच्छ का निर्देश, विधान, संख्या ८०-८२ । १६५
आदि (मुख) निकालने की विधि ८३ । १६६
चय निकालने की विधि ८४ । १६६

विषय गाथा/पृ० सं०

दो प्रकार से गच्छ निकालने की विधि ८५-८६ । १६७-६८
प्रत्येक पृथिवी के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण निकालने की विधि ८७-९४ । १६९-१८१
इन्द्रादिक बिलों का विस्तार ९५ । १७२
सख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण ९६-९९ । १७२-७४
सर्व बिलों का तिरछे रूप में जघन्य एवं उत्कृष्ट अंतराल १००-१०१ । १७४-१७५
प्रकीर्णक बिलों में संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तृत बिलों का विभाग १०२-१०३ । १७५-७६
संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले नारक बिलों में नारकियों की संख्या १०४ । १७७
इंद्रक बिलों की हानि-वृद्धि का प्रमाण १०५-१०६ । १७७
इच्छित इंद्रक के विस्तार को प्राप्त करने का विधान १०७ । १७८
पहली पृथिवी के तेरह इंद्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार १०८-१२० । १७८-८२
दूसरी पृथिवी के ग्यारह इंद्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार १२१-१३१ । १८२-८५
तीसरी पृथिवी के नव इंद्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार १३२-१४० । १८५-१८८
चौथी पृथिवी के सात इंद्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार १४१-१४७ । १८८-९०
पाँचवीं पृथिवी के पाँच इंद्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार १४८-१५२ । १९०-९१
छठी पृथिवी के तीन इंद्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार १५३-१५५ । १९२
सातवीं पृथिवी के अवधिस्थान इंद्रक का विस्तार १५६ । १९३

विषय गाथा/पृ० सं०

इंद्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के बाहल्य का प्रमाण १५७-१५८ । १९५-९६

रत्नप्रभादि छह पृथिवियों में इंद्रकादि बिलों का स्वस्थान ऊर्ध्वग अंतराल १५९-१६२ । १९७-१९८

सातवीं पृथिवी में इंद्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों के अधस्तन और उपरिम पृथिवियों का बाहल्य १६३ । १९९

पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम इंद्रक का परस्थान अन्तराल १६४ । १९९

दूसरी पृथिवी से छठी पृथिवी तक परस्थान अन्तराल १६५ । २००

छठी एवं सातवीं पृथिवी के इंद्रकों का परस्थान अन्तराल १६६ । २००

पृथिवियों के इंद्रक बिलों का स्वस्थान-परस्थान अंतराल १६७-१७९ । २०१-२०५

प्रथमादि नरकों में श्रेणीबद्धों का स्वस्थान अंतराल १८०-१८६ । २०५-२०८

प्रथमादि नरकों में श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अंतराल १८७-८८ । २०८-२०९

प्रकीर्णक बिलों का स्वस्थान-परस्थान अंतराल १८९-१९५ । २१०-२१३

२. नारकियों की संख्या (गा. १९६-२०२)

विभिन्न नरकों में नारकियों की सख्या का प्रमाण १९६-२०२ । २१४-२१५

३. नारकियों की आयु का प्रमाण (गा. २०३-२१६)

पहली पृथिवी में पटल क्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण २०३-२०८ । २१६-१७

आयु की हानिवृद्धि का प्रमाण प्राप्त करने का विधान २०९ । २१७

दूसरी पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण २१० । २१८

विषय गाथा/पृ० सं०

तीसरी पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण २११ । २१८

चौथी पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण २१२ । २१९

पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण २१३ । २१९

छठी पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण २१४ । २१९

सातवीं पृथिदी में नारकियों की आयु का प्रमाण एवं सर्व नरकों के नारकियों की जघन्यायु का प्रमाण २१५ । २२०

श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों में स्थित नारकियों की आयु २१६ । २२०

४. नारकियों के शरीर का उत्सेध (गा. २१७-२७१)

पहली पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध २१७-२३१ । २२३-२२६

दूसरी पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध २३२-२४२ । २२७-२२९

तीसरी पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण व उत्सेध २४३-२५२ । २२९-२३२

चौथी पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण व उत्सेध २५३-२६० । २३२-२३४

पाँचवीं पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण व उत्सेध २६१-२६५ । २३४-२३५

छठी पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण व उत्सेध २६६-२६९ । २३५-३६

सातवीं पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण व उत्सेध २७० । २३६

श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के नारकियों का उत्सेध २७१ । २३७

५. नारकियों के अवधिज्ञान का प्रमाण (गा. २७२) २४०

विषय गाथा/पृ० सं०

६. नारकियों में बीस प्ररूपणाओं का निर्देश (गा. २७३-२८४)

नारकी जीवों में गुणस्थान २७४ । २४०
उपरितन गुणस्थानों का निषेध २७५-७६ । २४१
जीवसमास और पर्याप्तियाँ २७७ । २४१
प्राण और संज्ञाएँ २७८ । २४१
चौदह मार्गणाएँ २७९-२८३ । २४१-४२
उपयोग २८४ । २४३

७. उत्पद्यमान जीवों की व्यवस्था (गा. २८५-२८७)

नरकों में उत्पन्न होने वाले जीवों का निरूपण २८५-२८६ । २४३
नरकों में निरन्तर उत्पत्ति का प्रमाण २८७ । २४३

८. जन्म-मरण के अन्तराल का प्रमाण (गा. २८८) २४४

९. एक समय में जन्म-मरण करने वालों का प्रमाण (गा. २८९) २४५

१०. नरक से निकले हुए जीवों की उत्पत्ति का कथन (गा. २९०-२९३) २४५-२४६

११. नरकायु के बन्धक परिणामों का कथन (गा. २९४-३०२)

नरकायु के बन्धक परिणाम २९४ । २४६
अशुभ लेश्याओं का परिणाम २९५ । २४७
अशुभलेश्यायुक्त जीवों के लक्षण २९६-३०२ । २४७-२४८

१२. नारकियों की जन्मभूमियों का वर्णन (गा. ३०३-३१३)

नरकों में जन्मभूमियों के आकारादि ३०३-३०८ । २४८-२४९
नरकों में दुर्गन्ध ३०९ । २५०
जन्मभूमियों का विस्तार ३१० । २५०
जन्मभूमियों की ऊँचाई एवं आकार ३११ । २५०

विषय गाथा/पृ० सं०

जन्मभूमियों के द्वारकोण एवं दरवाजे ३१२-१३ । २५१

१३. नरकों के दुःखों का वर्णन (गा. ३१४-३६१)

सातों पृथिवियों के दुःखों का कथन ३१४-३४८ । २५१-२५८
प्रत्येक पृथिवी के आहार की गन्धशक्ति का प्रमाण ३४९ । २५९
असुरकुमार देवों में उत्पन्न होने के कारण ३५० । २५९
असुरकुमार देवों की जातियाँ एवं उनके कार्य ३५१-३५३ । २५९-६०
नरकों में दुःख भोगने की अवधि ३५४-३५७ । २६०
नरकों में उत्पन्न होने के अन्य भी कारण ३५८-३६१ । २६१

१४. नरकों में सम्यक्त्व ग्रहण के कारण (गा. ३६२-६४) २६२

१५. नारकियों की योनियों का कथन (गा. ३६५) २६३

नरकगति की उत्पत्ति के कारण ३६६-३७० । २६३-२६४
अधिकारान्त मङ्गलाचरण ३७१ । २६४

तृतीय महाधिकार [गा. १—२५४]
[पृ. २६५-३३४]

मङ्गलाचरण १ । २६५
भावनलोक निरूपण में चौबीस अधिकारों का निर्देश २-६ । २६५
१. भवनवासी देवों का निवासक्षेत्र ७-८ । २६६
२. भवनवासी देवों के भेद ९ । २६६
३. भवनवासियों के चिह्न १० । २६७

विषय	गाथा/पृ० सं०
४. भवनवासी देवों की भवन-संख्या	११-१२ । २६७
५. भवनवासी देवों में इन्द्रसंख्या	१३ । २६८
६. भवनवासी इन्द्रों के नाम	१४-१६ । २६८
७ दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों का विभाग	१७-१९ । २६९
८. भवनों का वर्णन (गा० २०-२३)	
भवन संख्या	२०-२१ । २७०
निवासस्थानों के भेद एवं स्वरूप	२२-२३ । २७२
९. अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यम ऋद्धि-धारक देवों के भवनों के स्थान	२४ । २७२
१०. भवनों का विस्तारादि एवं उनमें निवास करने वाले देवों का प्रमाण	२५-२६ । २७३
११. वेदियों का वर्णन (गा. २७-३८)	
भवनवेदियों का स्थान, स्वरूप तथा उत्सेध आदि	२७-२९ । २७३
वेदियों के बाह्य स्थित वनों का निर्देश	३० । २७४
चैत्यवृक्षों का वर्णन	३१-३६ । २७४
चैत्यवृक्षों के मूल में स्थित जिन-प्रतिमाएँ	३७-३८ । २७६
१२. वेदियों के मध्य में कूटों का निरूपण	३९-४१ । २७६
१३. जिनभवनों का निरूपण (गा० ४२-५४)	
कूटों पर स्थित जिनभवनों का निरूपण	४२-४४ । २७७
महाध्वजाओं एवं लघुध्वजाओं की संख्या	४५ । २७८
जिनालय में वन्दनगृहों आदि का वर्णन	४६ । २७८
श्रुत आदि देवियों व यक्षों की मूर्तियों का निरूपण	४७ । २७८
अष्ट मंगलद्रव्य	४८ । २७९
जिनालयों की शोभा का वर्णन	४९-५० । २७९
नागयक्ष युगलों से युक्त जिन-प्रतिमाएँ	५१ । २७९
जिनभवनों की संख्या	५२ । २७९
भवनवासी देव जिनेन्द्र को ही पूजते हैं	५३-५४ । २८०
१४. प्रासादों का वर्णन (गा० ५५-६१)	
कूटों के चारों ओर स्थित भवनवासी देवों के प्रासादों का निरूपण	५५-६१ । २८०-८१
१५. इन्द्रों की विभूति (गा० ६२-१४२)	
प्रत्येक इन्द्र के परिवार देव-देवियों का निरूपण	६२-७५ । २८२-८५
अनीक देवों का वर्णन	७६-८८ । २८६-२९०
भवनवासिनी देवियों का निरूपण	८९-१०८ । २९१
अप्रधान परिवार देवों का प्रमाण	१०९ । २९८
भवनवासी देवों का आहार और उसका काल प्रमाण	११०-११४ । २९८
भवनवासियों में उच्छ्वास के समय का निरूपण	११५-११७ । २९९
प्रतीन्द्रादिकों के उच्छ्वास का निरूपण	११८ । ३००
असुरकुमारादिकों के वर्णों का निरूपण	११९-२१ । ३००
असुरकुमार आदि देवों का गमन	१२२-१२४ । ३०१

विषय गाथा/पृ० सं०

भवनवासी देव-देवियों के शरीर एवं स्वभावादि का निरूपण १२५-१२९ । ३०१
असुरकुमार आदिकों में प्रवीचार १३०-३१ । ३०२
इन्द्र-प्रतीन्द्रादिकों की छत्रादि विभूतियाँ १३२-३३ । ३०३
इन्द्र-प्रतीन्द्रादिकों के चिह्न १३४ । ३०३
असुरादि कुलों के चिह्न स्वरूप वृक्षों का निर्देश १३५-३६ । ३०३
जिनप्रतिमाएँ व मानस्तम्भ १३७-४० । ३०६
चमरेन्द्रादिकों में परस्पर ईर्षाभाव १४१-४२ । ३०६
१६. भवनवासियों की संख्या १४३ । ३०७
१७. भवनवासियों की आयु (गा० १४४-१७५)
भवनवासियों की आयु १४४-१६१ । ३०७-३१३
आयु की अपेक्षा सामर्थ्य १६२-६५ । ३१४
आयु की अपेक्षा विक्रिया १६६-६७ । ३१४-१५
आयु की अपेक्षा गमनागमन-शक्ति १६८-६९ । ३१५
भवनवासिनी देवियों की आयु १७०-७४ । ३१५
भवनवासियों की जघन्य आयु १७५ । ३१६
१८. भवनवासी देवों के शरीर का उत्सेध १७६ । ३१७
१९. अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण (गा० १७७-१८३)
ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से अवधिक्षेत्र का प्रमाण १७७ । ३१७
अधः एवं तिर्यग्क्षेत्र में अवधिज्ञान का प्रमाण १७८ । ३१७
क्षेत्र एवं कालापेक्षा जघन्य अवधिज्ञान १७९ । ३१८

विषय गाथा/पृ० सं०

असुरकुमार देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण १८० । ३१८
शेष देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण १८१ । ३१८
अवधिक्षेत्र प्रमाण विक्रिया १८२ । ३१८
२०. भवनवासी देवों में गुणस्थानादिक का वर्णन (गा० १८४-१९६)
अपर्याप्त व पर्याप्त दशा में गुणस्थान १८३-८४ । ३१९
उपरितन गुणस्थानों की विशुद्धि विनाश के फल से भवनवासियों में उत्पत्ति १८५-८६ । ३१९
जीवसमास पर्याप्ति १८७ । ३२०
प्राण १८८ । ३२०
संज्ञा, गति, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, उपयोग १८९-९५ । ३२०-२१
२१. एक समय में उत्पत्ति एवं मरण का प्रमाण (गा. १९६) ३२१
२२. भवनवासियों की आगति निर्देश (गा. १९८-२००) ३२१
२३. भवनवासी देवों की आयु के बन्ध योग्य परिणाम (गा. २००-२४९)
बन्धयोग्य परिणाम २००-२०३ । ३२२
देव दुर्गतियों में उत्पत्ति के कारण २०५ । ३२३
कन्दर्प देवों में उत्पत्ति के कारण २०५ । ३२३
वाहन देवों में उत्पत्ति के कारण २०६ । ३२३
किल्विषक देवों में उत्पत्ति के कारण २०७ । ३२४
सम्मोह देवों में उत्पत्ति के कारण २०८ । ३२४
असुरों में उत्पन्न होने के कारण २०९ । ३२४
उत्पत्ति एवं पर्याप्ति वर्णन २१० । ३२४

विषय गाथा/पृ० सं०
सप्तादि धातुओं व रोगादि का निषेध २११-११ । ३२५
भवनवासियों में उत्पत्ति समारोह २१३-१५ । ३२५
विभंगज्ञान उत्पत्ति २१६ । ३२६
नवजात देवकृत पश्चात्ताप २१७-२२१ । ३२६
सम्यक्त्वग्रहण २२२ । ३२७
अन्य देवों को सन्तोष २२३ । ३२७
जिनपूजा का उद्योग २२४-२६ । ३२७
जिनाभिषेक एवं पूजन आदि २२७-३७ । ३२८
विषय गाथा/पृ० सं०
पूजन के बाद नाटक २२८ । ३३०
सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि देव के पूजनपरिणाम और अन्तर २३९-४० । ३३०
जिनपूजा के पश्चात् २४१ । ३३१
भवनवासी देवों के सुखानुभव २४२-२४९ : ३३१-३३३

२४. सम्यक्त्व ग्रहण के कारण (गा. २५०-२५१)

भवनवासियों में उत्पत्ति के कारण २५२-५३ । ३३४
महाधिकारान्त मंगलाचरण २५४ । ३३४

।। श्रीवीतरागाय नमः ।।

शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः !   ॐ नमः सिद्धेभ्यः !   ॐ नमः सिद्धेभ्यः !

ओकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ।।
अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम् ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरुवे नमः ।।

•

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः । सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं '**श्रीतिलोयपण्णत्तीनामधेयं,** अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्य**श्रीयतिवृषभाचार्येण** विरचितं इदं शास्त्रं । श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।

•

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।

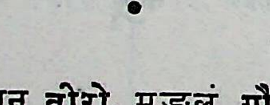

शुद्धि-पत्र

तिलोय पण्णत्ती प्रथम खंड (तृतीय संस्करण) १९९७ ई०

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
आद्यमिताक्षर १	१६	रूवत्तणण	रूवत्तणेण
आद्यमिताक्षर ५	१७	अशोकनगरस्थ समाधिस्थल पर	अशोक नगर में
जीवनवृत ११	१३	पर कुछ ऐसी भी हैं	पर कुछ ऐसी भी विभूतियाँ हैं
जीवनवृत १२	६	आपकी	आपको
प्रस्तावना २०	७	कमियाँ	त्रुटियाँ
४३	३२	डॉ. किरफल	डॉ किरफेल
४५	३२	गुणात्तर	गुणोत्तर
४५	२२	कर्मसिद्धान्त दि	कर्मसिद्धान्तादि
मंगलाचरण ७२	९	श्री गुरुवे	श्री गुरवे
प्रथम अधिकार १	१२	धण	घण
९	२	पर पच्चक्खा।	परं, पच्चक्खा।
२१	१३	तृतीय से	तृतीय पल्य से
२२	२३	धातु चउक्कस	धातु-चउक्कस्स
२४	१७	उस्सेह अं-गुलेणं	उस्सेह-अंगुलेणं
२७	१४	१९/२४ प्रमाण	१९/२४ घन योजन प्रमाण
४३	१	घन वतवलय	घनवातवलय
५०	४	प्रमाण ३४३	प्रमाण ३४३ घन राजू
५७	८	=१/७ है	=७/७ है।
६३	८	सौधर्म से	सौधर्म स्वर्ग से
६६	१९	रज्जू आ	रज्जूओ
७५	४	७० से भजित	७० से भाजित
९३	२४	अर्थात् २/४ राजू	अर्थात् ३/४ राजू
९५	२४	अडवी संउ बहत्तरी	अडवीसं उणहत्तरि
१०४	१०	४.९ और..........जाता है।	४९ घनराज् घन फल मनों का ..... ९८ घन राज् घन फल मुरज का प्राप्त हो जाता है।
११२	२२	हादि	होदि
११४	१०	अलोक	ब्रह्मलोक

१३०	९	घनफल	योजनघनफल
१५४	१५	स्वच्छेदि	चिच्छेदि
१८९	१७	११०, ८३३३ $\frac{१}{३}$ । ३	११, ०८, ३३३ $\frac{१}{३}$ ।३
२२४	२	$=\frac{१०३}{४} \times \frac{१}{१२}$	$=\frac{११३}{४} \times \frac{५}{१२}$
२३१	१७	तीन से भाजित आठ	तीन से भाजित आठ(२ $\frac{२}{३}$)
२४८	६	ावसण्णो	विसण्णो
२५६	१२	भीण्ण करा	भिण्णकरा
२७४	५	चेत्त-तरू	चेत्त-तरु
३२७	अन्तिम	प्रवोधन वशीभूत	प्रवोधन के वशीभूत
३३१	५	दे वाणं	देवाणं
३३७	दूसरा कालम १२	उद्धियदिवड्ढ मुख	उद्धिय दिवड्ढमुरव
३४६	दूसरा कालम २३	पत्तयंरयणादी	पत्तेयं रयणादी

4507
30-7-99

जदिवसह-आइरिय-विरइदा

तिलोयपण्णत्ती

पढमो महाहियारो

[1]मङ्गलाचरण (सिद्ध-स्तवन)

अट्ठ-विह-कम्म-वियला, णिट्ठिय-कज्जा पणट्ठ-संसारा ।
दिट्ठ-सयलत्थ-सारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।१।।

अर्थ—आठ प्रकार के कर्मों से रहित, करने योग्य कार्यों को कर चुकने वाले, संसार को नष्ट कर देने वाले और सम्पूर्ण पदार्थों के सार को देखने-वाले[2] सिद्ध-परमेष्ठी मेरे लिए सिद्धि प्रदान करें ।।१।।

अरहन्त-स्तवन

घण-घाइ-कम्म-महणा, तिहुवण-वर-भव्व-कमल-मत्तंडा[3] ।
अरिहा अणंत-णाणा, अणुवम-सोक्खा जयंतु जए ।।२।।

अर्थ—प्रबल घातिया कर्मों का मन्थन करने वाले, तीन लोक के उत्कृष्ट भव्यजीवरूपी कमलों के लिए मार्तण्ड (सूर्य), अनन्तज्ञानी और अनुपम सुख वाले अरहन्त भगवान् जग में जयवन्त होवें ।।२।।

आचार्य-स्तवन

पंच-महव्वय-तुंगा, तक्कालिय-सपर-समय-सुदधारा ।
णाणागुण-गण-भरिया, आइरिया मम पसीदंतु[4] ।।३।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. ॐ नमः सिद्धेभ्यः । [2] दूसरा अर्थ इस प्रकार है—सम्पूर्ण पदार्थों के सार का उपदेश-प्रतिपादन/कथन-करने वाले । [3] द. मातंडा । [4] द. पसीयंतु ।

अर्थ—पाँच महाव्रतों से उन्नत, तत्कालीन स्वसमय और परसमय स्वरूप श्रुतधारा (में निमग्न रहने) वाले और नाना गुणों के समूह से परिपूरित आचार्यगण मेरे लिए आनन्द प्रदान करें ।।३।।

उपाध्याय-स्तवन

अण्णाण-घोर-तिमिरे,[1] दुरंत-तीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा[2], उवज्झया वर-मदिं देंतु[3] ।।४।।

अर्थ—दुर्गम-तीर वाले अज्ञान के गहन अन्धकार में भटकते हुए भव्य जीवों के लिए ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान करें ।।४।।

साधु-स्तवन

थिर-धरिय-सीलमाला[4], ववगय-राया जसोह-पडहत्था ।
बहु-विणय-भूसियंगा, सुहाइं[5] साहू पयच्छंतु ।।५।।

अर्थ--शीलव्रतों की माला को दृढ़तापूर्वक धारण-करने वाले, राग से रहित, यश-समूह से परिपूर्ण और विविध प्रकार के विनय से विभूषित अङ्गवाले साधु (परमेष्ठी) सुख प्रदान करें ।।५।।

ग्रन्थ-रचना-प्रतिज्ञा

एवं वर-पंचगुरू, तियरण-सुद्धेण णमंसिऊणाहं[6] ।
भव्व-जणाण पदीवं, वोच्छामि तिलोयपण्णत्तिं ।।६।।

अर्थ—इस प्रकार मैं (यतिवृषभाचार्य) तीन-करण (मन, वचन, काय) की शुद्धिपूर्वक श्रेष्ठ पञ्चपरमेष्ठियों को नमस्कार करके भव्य-जनों के लिए प्रदीप-तुल्य "त्रिलोक-प्रज्ञप्ति" ग्रन्थ का कथन करता हूँ ।।६।।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में करने योग्य छह कार्य

मंगल-कारण-हेदू, सत्थस्स पमाण-णाम कत्तारा ।
पढम चिय कहिदव्वा, एसा आइरिय-परिभासा ।।७।।

---

१. द. तिमिरं, ब. तिमिर । २. द. णुज्जोवयरा । ३. द. दितु । ४. ब.ज.ठ. सिलामाला । ५. द. ज. ठ. सुहाइ । ६. द. क. णमसिऊणाहं ।

अर्थ—मङ्गल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का शास्त्र के पहले ही व्याख्यान करना चाहिए, ऐसी आचार्य की परिभाषा (पद्धति) है ।।७।।

मङ्गल के पर्यायवाचक शब्द

पुण्णं पूद-पवित्ता, पसत्थ-सिव-भद्द-खेम-कल्लाणा ।
सुह-सोक्खादी सव्वे, णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ।।८।।

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब शब्द मङ्गल के ही पर्यायवाची (समानार्थक) कहे गये हैं ।।८।।

मङ्गल शब्द की निरुक्ति

गालयदि विणासयदे, घादेदि दहेदि हंति सोधयंदे ।
विद्धंसेदि मलाइं, जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ।।९।।

अर्थ—क्योंकि यह मल को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, मारता है, शुद्ध करता है और विध्वंस करता है, इसीलिए मङ्गल कहा गया है ।।९।।

मङ्गल के भेद

दोण्णि वियप्पा होंति हु, मलस्स इह[1] दव्व-भाव-भेएहिं ।
दव्वमलं दुविहप्पं[2], बाहिरमब्भंतरं चेय ।।१०।।

अर्थ—(यथार्थतः) द्रव्य और भाव के भेद से मल के दो प्रकार हैं, पुनः द्रव्यमल दो तरह का है—बाह्य और आभ्यन्तर ।।१०।।

द्रव्यमल और भावमल का वर्णन

सेद[3] - जल-रेणु-कद्दम-पहुदी बाहिर-मलं समुद्दिट्ठं ।
घण[4] दिढ-जीव-पदेसे, णिबंध-रूवाइ पयडि-ठिदि-आइं ।।११।।
अणुभाग[5] - पदेसाइं, चउहिं पत्तेक्क-भेज्जमाणं तु ।
णाणावरणप्पहुदी-अट्ठ-विहं कम्ममखिल-पावरयं ।।१२।।

---

[1] द. ज. क. ठ. इमं । [2] ज. ठ. दुवियप्पं । [3] द. ज. क. ठ. सीदजल । [4] द. ज. क. ठ. पुण ।
[5] द. ज. क. ठ. अणुभावपदेसाई ।

अब्भंतर-दव्वमलं, जीव-पदेसे णिबद्धमिदि[1] हेदो ।
भाव-मलं णादव्वं, अण्णाणादंसणादि-परिणामो ।।१३।।

अर्थ स्वेद (पसीना), रेणु (धूलि), कर्दम (कीचड़) इत्यादि बाह्य द्रव्यमल कहे गये हैं और दृढ़ रूप से जीव के प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध को प्राप्त तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, बन्ध के इन चार भेदों में से प्रत्येक भेद को प्राप्त होने वाला ऐसा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का सम्पूर्ण कर्मरूपी पाप-रज जो जीव के प्रदेशो से सम्बद्ध है, (इस हेतु से) वह (ज्ञानावरणादि कर्मरज) आभ्यन्तर द्रव्यमल है। जीव के अज्ञान, अदर्शन इत्यादिक परिणामों को भावमल समझना चाहिए ।।११—१३।।

मङ्गल शब्द की सार्थकता

अहवा बहु-भेयगयं, णाणावरणादि-दव्व-भाव-मल-भेदा ।
ताइं गालेइ पुढं, जदो तदो मंगलं भणिदं ।।१४।।

अर्थ—अथवा ज्ञानावरणादिक द्रव्यमल के और ज्ञानावरणादिक भाव मल के भेद से मल के अनेक भेद हैं; उन्हें चूंकि (मङ्गल) स्पष्ट रूप से गलाता है अर्थात् नष्ट करना है, इसलिए यह मंगल कहा गया है ।।१४।।

मंगलाचरण की सार्थकता

अहवा मंगं[2] सोक्खं, लादि हु गेण्हेदि मंगलं तम्हा ।
एदेण[3] कज्ज-सिद्धिं, मंगइ गच्छेदि[4] गंथ-कत्तारो ।।१५।।

अर्थ—यह मंग (मोद) को एवं सुख को लाता है, इसलिए भी मंगल कहा जाता है। इसी के द्वारा ग्रन्थकर्त्ता कार्यसिद्धि को प्राप्त करता है और आनन्द को उपलब्ध करना है ।।१५।।

पुव्विल्लाइरिएहिं, मंगं पुण्णत्थ-वाचयं भणियं ।
तं लादि हु आदत्ते, जदो तदो मंगलं पवरं ।।१६।।

अर्थ—पूर्वाचार्यों के द्वारा मंग पुण्यार्थवाचक कहा गया है, यह यथार्थ में \ उसी (मंगल) को लाता है एवं ग्रहण कराता है, इसीलिए यह मंगल श्रेष्ठ है ।।१६।।

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. णिबंधमिदि । [2] द. क. मंगल । [3] द. ज. क. ठ एदाण । [4] द. गत्थेदिगंथं, ब. मंगलगत्थेदि ।

पावं मलं त्ति भण्णइ, उवयार-सरूवएण जीवाणं ।
तं गालेदि विणासं, णेदि त्ति[1] भणंति मंगलं केई ॥१७॥

अर्थ—जीवों का पाप, उपचार से मल कहा जाता है। मंगल उस (पाप) को गलाता है तथा विनाश को प्राप्त कराता है, इस कारण भी कुछ आचार्य इसे मंगल कहते हैं ॥१७॥

मंगलाचरण के नामादिक छह भेद

णामाणि ठावणाओ, दव्व-खेत्ताणि काल-भावा य ।
इय छब्भेयं भणियं, मंगलमाणंद-संजणणं ॥१८॥

अर्थ आनन्द को उत्पन्न करने वाला मंगल नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार का कहा गया है ॥१८॥

नाममंगल

अरिहाणं सिद्धाणं, आइरिय-उवज्झयाइ[2] - साहूणं ।
णामाइं णाम-मंगलमुद्दिट्ठं वीयराएहिं ॥१९॥

अर्थ—वीतराग भगवान् ने अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनके नामों को नाममङ्गल कहा है ॥१९॥

स्थापना एवं द्रव्य मङ्गल

ठवण-मंगलमेदं, अकट्टिमाकट्टिमाणि जिणबिंबा ।
सूरि-उवज्झय[3] - साहू-देहाणि हु दव्व-मंगलयं ॥२०॥

अर्थ—अकृत्रिम और कृत्रिम जिनबिम्ब स्थापना मङ्गल हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्य-मङ्गल हैं ॥२०॥

क्षेत्रमङ्गल

गुण-परिणदासणं, परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स ।
उप्पत्ती इय-पहुदी, बहुभेयं खेत्त-मंगलयं ॥२१॥

अर्थ—गुणपरिणत (गुणवान मनुष्यों का निवास) क्षेत्र, परिनिष्क्रमण (दीक्षा) क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र, इत्यादि रूप से क्षेत्रमङ्गल अनेक प्रकार का है ॥२१॥

---

[1] द. ज. क. ठ. णेद्देत्ति । [2] ब. उवज्झायाइ । [3] ब. उवज्झायाइ ।

एदस्स उदाहरणं, पावाणयरुज्जयंत-चंपादी ।
आउट्ठ-हत्थ-पहुदी, पणुवीसब्भहिय-पणसय-धणूणि ।।२२।।

देह-अवट्ठिद-केवलणाणावट्ठद्ध-गयण-देसो वा ।
सेढि[1]-घण-मेत्त अप्पप्पदेस-गद-लोय-पूरणा-पुण्णा[2] ।।२३।।

विस्साणं[3] लोयाणं, होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।

अर्थ--इस क्षेत्रमङ्गल के उदाहरण – पावानगर, ऊर्जयन्त (गिरनार) और चम्पापुर आदि हैं तथा साढ़े तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश-प्रदेश तथा जगच्छ्रेणी के घनमात्र (लोक प्रमाण) आत्मा के प्रदेशों से लोकपूरण-समुद्घात द्वारा पूरित सभी (ऊर्ध्व, मध्य एवं अधो) लोकों के प्रदेश भी क्षेत्रमङ्गल हैं ।।२१-२३½।।

काल-मंगल

जस्सिं काले केवलणाणादि-मंगलं परिणमदि ।।२४।।

परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भव-णिव्वुदि-प्पवेसादी ।
पावमल-गालणादो, पण्णत्तं काल-मंगलं एदं ।।२५।।

एवं अणेयभेयं, हवेदि तं काल-मंगलं पवरं ।
जिण-महिमा-संबंधं, णंदीसर-दिवस-पहुदीओ[4] ।।२६।।

अर्थ—जिस काल में जीव केवलज्ञानादिरूप मंगलमय पर्याय प्राप्त करता है उसको तथा परिनिष्क्रमण (दीक्षा) काल, केवलज्ञान के उद्भव का काल और निर्वृति (मोक्ष के प्रवेश का) काल, इन सब को पापरूपी मल के गलाने का कारण होने से काल-मंगल कहा गया है । इसी प्रकार जिन-महिमा से सम्बन्ध रखने वाले वे नन्दीश्वर दिवस (अष्टाह्निका पर्व) आदि भी श्रेष्ठ काल-मंगल अनेक प्रकार के हैं ।।२३½-२६।।

भावमंगल

मंगल-पज्जाएहिं, उवलक्खिय-जीव-दव्व-मेत्तं च ।
भावं मंगलमेदं, पढियं[5] सत्थादि-मज्झ-अंतेसु ।।२७।।

---

[1] द. सेढिवणमित्त अप्पपदेसजद । [2] ब. पूरण पुण्णं । [3] द. ब. क. विण्णासं । [4] द. ज. क. ठ. दीव पहुदी ओ । [5] द. पच्चियपच्छादि, ब. पव्वियसत्थादि ।

अर्थ—मंगलरूप पर्यायों से परिणत शुद्ध जीवद्रव्य भावमंगल है। यही भावमंगल शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त में पढ़ा गया है (करना चाहिए)॥२७॥

मंगलाचरण के आदि, मध्य और अन्त भेद

पुव्विल्लाइरिएहिं, उत्तो सत्थाण मंगलं जो[1] सो।
आइम्मि मज्झ-अवसाणएसु णियमेण कायव्वो॥२८॥

अर्थ—शास्त्रों के आदि, मध्य और अन्त में मंगल अवश्य करना चाहिए, ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है॥२८॥

आदि, मध्य और अन्त मंगल की सार्थकता

पढमे मंगल-करणे[2], सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।
मज्झिम्मे णीविग्घं, विज्जा विज्जाफलं चरिमे॥२९॥

अर्थ—शास्त्र के आदि में मंगल करने पर शिष्यजन शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मंगल करने पर विद्या की प्राप्ति निर्विघ्न होती है और अन्त में मंगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है॥२९॥

जिननाम-ग्रहण का फल

णासदि विग्घं भेददि, यंहो दुट्ठा सुरा[3] ण लंघंति।
इट्ठो अत्थो[4] लब्भइ, जिण-णामग्गहण-मेत्तेण॥३०॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का नाम लेने मात्र से विघ्न नष्ट हो जाते हैं, पाप खण्डित हो जाते हैं, दुष्ट देव (असुर) लांघते नहीं हैं, अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव नहीं करते और इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है॥३०॥

ग्रन्थ में मंगल का प्रयोजन

सत्थादि-मज्झ-अवसाणएसु जिण-थोत्त मंगलुग्घोसो।
णासइ णिस्सेसाइं, विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं॥३१॥

॥ इदि मंगलं गदं ॥

---

[1] द. ब. संठाणमंगलं घोसो। [2] द. ज. क. ठ. वयणे। [3] द. दुट्ठासुत्ताण, ब. दुट्ठासुवाण, क. ज. ठ. दुट्ठासुताण। [4] द. ब. क. ज. ठ. लद्धो।

अर्थ—शास्त्र के आदि; मध्य और अन्त में जिन-स्तोत्ररूप मगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को (नष्ट कर देता है) ।।३१।।

।। इस प्रकार मंगल का कथन समाप्त हुआ ।।

ग्रन्थ-अवतार-निमित्त

विविह-वियप्पं लोयं, बहुभेय-णयप्पमाणदो[1] भव्वा ।
जाणंति त्ति णिमित्तं, कहिदं गंथावतारस्स ।।३२।।

अर्थ—नाना भेदरूप लोक को भव्य जीव अनेक प्रकार के नय और प्रमाणों से जानें, यह त्रिलोकप्रज्ञप्तिरूप ग्रन्थ के अवतार का निमित्त कहा गया है ।।३२।।

केवलणाण-दिवायर-किरणकलावादु एत्थ अवदारो[2] ।
गणहरदेवेहिं[3] गंथुप्पत्ति हु सोहं त्ति संजादो[4] ।।३३।।

अर्थ—केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से श्रुन के अर्थ का अवनार हुआ तथा गणधरदेव के द्वारा ग्रन्थ की उत्पत्ति हुई । यह श्रुन कल्याणकारी है ।।३३।।

छद्दव्व-णव-पयत्थे, सुदणाणं दुमणि-किरण-सत्तीए ।
देक्खंतु भव्व-जीवा, अण्णाण-तमेण संछण्णा ।।३४।।

।। णिमित्तं गदं ।।

अर्थ—अज्ञानरूपी अँधेरे से आच्छादित हुए भव्य जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्य की किरणों की शक्ति से छह द्रव्य और नव-पदार्थों को देखें (यही ग्रन्थावतार का निमित्त है) ।।३४।।

।। इस प्रकार निमित्त का कथन समाप्त हुआ ।।

हेतु एवं उसके भेद

दुविहो हवेदि हेदू, तिलोयपण्णत्ति-गंथ-अज्झयणे[5] ।
जिणवर-वयणुद्दिट्ठो, पच्चक्ख-परोक्ख-भेएहिं ।।३५।।

अर्थ—त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ के अध्ययन में जिनेन्द्रदेव के वचनों से उपदिष्ट हेतु, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है ।।३५।।

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. भेयपमाणदो । [2] द. ज. क. ठ. अवहारो, ब. अवहारे । [3] द. गणधरदेहें । [4] द. सोहंति संजादो, ब. सोहति सो जादो । [5] ब. गंथयज्झयणो ।

प्रत्यक्ष हेतु

सक्खा-पच्चक्ख-परंपच्चक्खा दोण्णि होंति[1] पच्चक्खा ।
अण्णाणस्स विणासं, णाण-दिवायरस्स उप्पत्ती ।।३६।।

देव-मणुस्सादीहिं, संततमब्भच्चण - प्पयाराणि ।
पडिसमयमसंखेज्जय - गुणसेढि - कम्म - णिज्जरणं ।।३७।।

इय सक्खा-पच्चक्खं, पच्चक्ख-परंपरं च णादव्वं ।
सिस्स-पडिसिस्स-पहुदीहिं, सददमब्भच्चण-पयारं ।।३८।।

अर्थ—प्रत्यक्ष हेतु, साक्षात् प्रत्यक्ष और परम्परा प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिकों के द्वारा निरन्तर की जाने वाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना (पूजा) और प्रत्येक समय में असंख्यातगुणश्रेणीरूप से होने वाली कर्मों की निर्जरा साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है। शिष्य-प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली पूजा को परम्परा प्रत्यक्ष हेतु जानना चाहिए ।।३६-३८।।

परोक्ष हेतु के भेद एवं अभ्युदय सुख का वर्णन

दो-भेदं च परोक्खं, अब्भुदय-सोक्खाइं मोक्ख-सोक्खाइं ।
सादादि-विविह-सु-पसत्थ[2] -कम्म-तिव्वाणुभाग-उदएहिं ।।३९।।

इंद-पडिंद-दिगिंदय-तेत्तीसामर[3] - समाण-पहुदि-सुहं ।
राजाहिराज - महराज - अद्धमंडलिय - मंडलियाणं ।।४०।।

महमंडलियाणं अद्धचक्कि-चक्कहर-तित्थयर-सोक्खं ।।४१/१।।

अर्थ—परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का है, एक अभ्युदय सुख और दूसरा मोक्षसुख। सातावेदनीय आदि विविध सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र (लोकपाल), त्रायस्त्रिंश एवं सामानिक आदि देवों का सुख तथा राजा, अधिराजा, महाराजा, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री (नारायण-प्रतिनारायण), चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है ।।३९-४१/१।।

---

१. द. होदि । २. क. ज. ठ. सुपरसत्थ । ३. ब. तेत्तीससायरपमाण ।

राजा का लक्षण

अट्ठारस-मेत्ताणं, सामी - सेणीण[1] भत्ति-जुत्ताणं ।।४१/२।।

वर-रयण-मउडधारी, सेवयमाणाण वंछिदं[2] अत्थं ।
देंता हवेदि राजा, जिदसत्तू समरसंघट्टे ।।४२।।

अर्थ—भक्ति युक्त अठारह-प्रकार की श्रेणियों का स्वामी, उत्कृष्ट रत्नों के मुकुट को धारण करने वाला, सेवकजनों को इच्छित पदार्थ प्रदान करने वाला और समर के संघर्ष में शत्रुओं को जीतने वाला (व्यक्ति) राजा होता है ।।४१/२-४२।।

अठारह-श्रेणियों के नाम

करि-तुरय-रहाहिवई, सेणवइ पदत्ति-सेट्ठि-दंडवई ।
सुद्दक्खत्तिय-वइसा, हवंति तह महयरा पवरा ।।४३।।

गणराय-मंति-तलवर-पुरोहियामत्तया महामत्ता ।
बहुविह-पइण्णया य, अट्ठारस होंति सेणीओ[3] ।।४४।।

अर्थ—हाथी, घोड़े और रथों के अधिपति, सेनापति, पदाति (पादचारी सेना), श्रेष्ठि (सेठ), दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर (ब्राह्मण), गणमन्त्री, राजमन्त्री, तलवर (कोतवाल), पुरोहित, अमात्य और महामात्य एवं बहुत प्रकार के प्रकीर्णक, ऐसी अठारह प्रकार की श्रेणियाँ होती हैं ।।४३-४४।।

अधिराज एवं महाराज का लक्षण

पंचसय-राय-सामी, अहिराजो होदि कित्ति-भरिद-दिसो ।
रायाण जो सहस्सं, पालइ सो होदि महराजो ।।४५।।

अर्थ—कीर्ति से भरित दिशाओं वाला और पाँच सौ राजाओं का स्वामी अधिराजा होता है और जो एक हजार राजाओं का पालन करता है, वह महाराजा है ।।४५।।

---

१. द. ब. सेणेण । २. द. ज. क. ठ. वंति दह अद्धं, ब. वंतिं दह अट्ठं । ३. द. ब. ज. क. सेणेओ ।

अर्धमण्डलीक एवं मण्डलीक का लक्षरण

दु-सहस्स-मउडबद्ध-भुव-वसहो[1] तत्थ अद्धमंडलिओ ।
चउ-राज-सहस्साणं, अहिणाहो होइ मंडलिओ[2] ।।४६।।

अर्थ—दो हजार मुकुटबद्ध भूपों में वृषभ (प्रधान) अर्धमण्डलीक तथा चार हजार राजाओं का स्वामी मण्डलीक होता है ।।४६।।

महामण्डलीक एवं अर्धचक्री का लक्षण

महमंडलिया णामा, अट्ठ-सहस्साण अहिवई ताणं ।
रायाण अद्धचक्की, सामी सोलस-सहस्स-मेत्ताणं ।।४७।।

अर्थ—आठ हजार राजाओं का अधिपति महामंडलीक होता है तथा सोलह हजार राजाओं का स्वामी अर्धचक्री कहलाता है ।।४७।।

चक्रवर्ती और तीर्थंकर का लक्षण

छक्खंड-भरहणाहो, बत्तीस-सहस्स-मउडबद्ध-पहुदीओ ।
होदि हु सयलं चक्की, तित्थयरो सयल-भुवणवई ।।४८।।

।। अब्भुदय-सोक्खं गदं ।।

अर्थ- छह खण्डरूप भरतक्षेत्र का स्वामी और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओं का तेजस्वी अधिपति सकलचक्री एवं समस्त लोकों का अधिपति तीर्थंकर होता है ।।४८।।

।। इस प्रकार अभ्युदय सुख का कथन समाप्त हुआ ।।

मोक्षसुख

सोक्खं तित्थयराणं, सिद्धाणं[3] तह य इंदियादीदं ।
अदिसयमाद-समुत्थं, णिस्सेयसमणुवमं पवरं ।।४९।।

।। मोक्ख-सोक्ख गदं ।।

---

१. द. क. ज. ठ. बद्धासेवसहो ।   २. द. ब. ज. क. ठ. मंडलियं ।   ३. द. पवराणं तह इंदियादीदं । ज. पयराणं तह य इंदियादीदं । ठ. पयराणं तह य इंदियादीहिं । क. कप्पातीदाण तह य इंदियादीहं ।

अर्थ—तीर्थंकरों (अरिहन्तों) और सिद्धों के अतीन्द्रिय, अतिशयरूप, आत्मोत्पन्न, अनुपम तथा श्रेष्ठ सुख को निःश्रेयस-सुख कहते हैं ।।४९।।

।। इस प्रकार मोक्षसुख का कथन समाप्त हुआ ।।

श्रुतज्ञान की भावना का फल

सुदणाण-भावणाए, णाणं मत्तंड-किरण-उज्जोओ ।
चंदुज्जलं चरित्तं, णियवस-चित्तं हवेदि भव्वाणं ।।५०।।

अर्थ—श्रुतज्ञान की भावना से भव्य जीवों का ज्ञान, सूर्य की किरणों के समान उद्योतरूप अर्थात् प्रकाशमान होता है; चरित्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है तथा चित्त अपने वश में होता है ।।५०।।

परमागम पढ़ने का फल

कणय-धराधर-धीरं, मूढ-त्तय-विरहिदं [1]हयट्ठमलं ।
जायदि पवयण-पढणे, सम्मद्दंसणमणुवमाणं ।।५१।।

अर्थ—प्रवचन (परमागम) के पढ़ने से सुमेरुपर्वत के समान निश्चल; लोकमूढ़ता, देवमूढ़ता और गुरुमूढ़ता, इन तीन (मूढ़ताओं) से रहित और शंका-कांक्षा आदि आठ दोषों से विमुक्त अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।।५१।।

आर्ष वचनों के अभ्यास का फल

सुर-खेयर-मणुवाणं, लब्भंति सुहाइं आरिसब्भासा[2] ।
तत्तो णिव्वाण-सुहं, णिण्णासिद दारुणट्ठमला ।।५२।।

।। एवं हेदु-गदं ।।

अर्थ—आर्ष वचनों के अभ्यास से देव, विद्याधर तथा मनुष्यों के सुख प्राप्त होते हैं और अन्त में दारुण अष्ट कर्ममल से रहित मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है ।।५२।।

।। इस प्रकार हेतु का कथन समाप्त हुआ ।।

श्रुत का प्रमाण

विविहत्थेहिं अणंतं, संखेज्ज अक्खराण गणणाए ।
एदं पमाणमुदिदं, सिस्साणं मइ - वियासयरं ।।५३।।

।। पमाणं गदं ।।

---

[1] द. हय मग्गमलं । क. ज. ठ. हयग्गमलं । म. हदट्ठमयं । [2] द. ब. आरिसंभासा ।

अर्थ—श्रुत, विविध प्रकार के अर्थों की अपेक्षा अनन्त है और अक्षरों की गणना की अपेक्षा संख्यात है। इस प्रकार शिष्यों की बुद्धि को विकसित करने वाले इस श्रुत का प्रमाण कहा गया है ।।५३।।

।। इस प्रकार प्रमाण का वर्णन हुआ ।।

ग्रन्थनाम कथन

भव्वाण जेण एसा, ते-लोक्क-पयासणे परम-दीवा ।
तेण गुण-णाममुदिदं, तिलोयपण्णत्ति णामेणं ।।५४।।

।। णामं गदं ।।

अर्थ—यह (शास्त्र) भव्य जीवों के लिए तीनों लोकों का स्वरूप प्रकाशित करने में उत्कृष्ट दीपक के सदृश है, इसलिए इसका 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' यह सार्थक नाम कहा गया है ।।५४।।

।। इस प्रकार नाम का कथन पूर्ण हुआ ।।

कर्ता के भेद

कत्तारो दुवियप्पो, णायव्वो अत्थ-गंथ-भेदेहिं ।
दव्वादि-चउपयारे, पभासिमो अत्थ-कत्तारं[1] ।।५५।।

अर्थ—अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता के भेद से कर्ता दो प्रकार के समझना चाहिए। इनमें से हम द्रव्यादिक चार प्रकार से अर्थकर्ता का निरूपण करते हैं ।।५५।।

द्रव्य की अपेक्षा अर्थागम के कर्ता

सेद-रजाइ-मलेणं, रत्तच्छि-कडक्ख-बाण-मोक्खेहिं ।
इय-पहुदि-देह-दोसेहिं, संततमदूसिद-सरीरो (य) ।।५६।।
आदिम-संहणण-जुदो, समचउरस्संग-चारु-संठाणो ।
दिव्व-वर-गंधधारी, पमाण-ठिद-रोम-णह-रूवो ।।५७।।
णिब्भूसणायुहंबर-भीदी सोम्माणणादि-दिव्व-तणू ।
अट्ठब्भहिय - सहस्स - प्पमाण - वर - लक्खणोपेदो ।।५८।।

---

[1] १. ब. अत्थकत्तारो ।

चउविह-उवसग्गेहिं, णिच्च-विमुक्को कसाय-परिहीणो ।
छुह-पहुदि-परिसहेहिं, परिचत्तो राय-दोसेहिं ।।५९।।

जोयण-पमाण-संठिद-तिरियामर-मणुव-णिवह-पडिबोहो ।
मिदु-महुर-गभीरतरा-विसद[1]-विसय-सयल-भासाहिं ।।६०।।

अट्ठरस महाभासा, खुल्लयभासा यि सत्तसय-संखा ।
अक्खर-अणक्खरप्पय, सण्णी-जीवाण सयल-भासाओ ।।६१।।

एदासिं भासाणं, तालुव-दंतोट्ठ-कंठ-वावारं ।
परिहरिय एक्क-कालं, भव्व-जणाणंद-कर-भासो ।।६२।।

भावण-वेंतर-जोइसिय-कप्पवासेहिं केसव-बलेहिं ।
विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ।।६३।।

एदेहिं अण्णेहिं, विरचिद-चरणारविंद-जुग-पूजो ।
दिट्ठ-सयलट्ठ-सारो, महवीरो अत्थ-कत्तारो ।।६४।।

अर्थ—जिनका शरीर पसीना, रज (धूलि) आदि मल से तथा लाल नेत्र और कटाक्ष बाणों को छोड़ना आदि शारीरिक दूषणों से सदा अदूषित है, जो आदि के अर्थात् वज्रर्षभनाराच संहनन और समचतुरस्र-संस्थानरूप सुन्दर आकृति से शोभायमान हैं, दिव्य और उत्कृष्ट सुगन्ध के धारक हैं, रोम और नख प्रमाण से स्थित (वृद्धि से रहित) हैं; भूषण, आयुध, वस्त्र और भीति से रहित हैं, सुन्दर मुखादिक से शोभायमान दिव्य-देह से विभूषित हैं; शरीर के एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से युक्त हैं; देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों से सदा विमुक्त हैं, कषायों से रहित हैं, क्षुधादिक बाईस परीषहों एवं रागद्वेष से रहित हैं; मृदु, मधुर, अतिगम्भीर और विषय को विशद करने वाली सम्पूर्ण भाषाओं से एक योजन प्रमाण समवसरणसभा में स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करने वाले हैं, जो संज्ञी जीवों की अक्षर और अनक्षररूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ छोटी भाषाओं में परिणत हुई और तालु, दन्त, ओठ तथा कण्ठ के हलन-चलनरूप व्यापार से रहित होकर एक हीं समय में भव्यजनों को आनन्द करने वाली भाषा (दिव्यध्वनि) के स्वामी हैं; भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवों के द्वारा तथा नारायण, बलभद्र, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि प्रमुख मनुष्यों, तिर्यंचों एवं अन्य भी ऋषि-महर्षियों से जिनके चरणारविन्द युगल की पूजा की गयी है और जिन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों के सार का उपदेश किया है, ऐसे महावीर भगवान् (द्रव्य की अपेक्षा) अर्थागम के कर्ता हैं ।।५६-६४।।

---

[1] ब. विसदयसमसयल ।

क्षेत्र की अपेक्षा अर्थ-कर्ता

सुर-खेयर-मरण-हरणे, गुणणामे पंचसेल-णयरम्मि[1] ।
विउलम्मि पव्वदवरे, वीर-जिणो अत्थ-कत्तारो ॥६५॥

अर्थ—देव एवं विद्याधरों के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम वाले पंचशैल (पाँच पहाड़ों से सुशोभित) नगर (राजगृही) में, पर्वतों में श्रेष्ठ विपुलाचल पर श्री वीरजिनेन्द्र (क्षेत्र की अपेक्षा) अर्थ के कर्ता हुए ॥६५॥

पंचशैल

चउरस्सो पुव्वाए, रिसिसेलो[2] दाहिणाए वेभारो ।
णइरिदि-दिसाए विउलो, दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥६६॥

अर्थ—(राजगृह नगर के) पूर्व में चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिण में वैभार और नैऋत्यदिशा में विपुलाचल पर्वत हैं; ये दोनों, वैभार एवं विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृति से युक्त हैं ॥६६॥

चाव-सरिच्छो छिण्णो, वरुणाणिल-सोमदिस-विभागेसु ।
ईसाणाए पंडू, वट्टो[3] सव्वे कुसग्ग-परियरणा ॥६७॥

अर्थ—पश्चिम, वायव्य और सोम (उत्तर) दिशा में फैला हुआ धनुषाकार छिन्न नाम का पर्वत है और ईशान दिशा में पाण्डु नाम का पर्वत है। उपर्युक्त पाँचों ही पर्वत कुशाग्रों से वेष्टित हैं ॥६७॥

काल की अपेक्षा अर्थकर्ता एवं धर्मतीर्थ की उत्पत्ति

एत्थावसप्पिणीए, चउत्थ-कालस्स चरिम-भागम्मि ।
तेत्तीस - वास - अडमास - पण्णरस-दिवस-सेसम्मि ॥६८॥
वासस्स पढम-मासे, सावण-णामम्मि बहुल-पडिवाए ।
अभिजीणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्म-तित्थस्स ॥६९॥

अर्थ—यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग में तेंतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम माह में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई ॥६८-६९॥

---

[1] द. णययम्मि । [2] द. ब. ज. क. ठ. सिरिसेलो । [3] द. ज. क. ठ. वप्पा ट्टो ।

सावण-बहुले-पाडिव-रुद्दमुहुत्ते[1] सुहोदये[2] रविणो ।
अभिजिस्स पढम-जोए, जुगस्स आदी इमस्स[3] पुढं ।।७०।।

अर्थ—श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्रमुहूर्त के रहते हुए सूर्य का शुभ उदय होने पर अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में इस युग का प्रारम्भ हुआ, यह स्पष्ट है ।।७०।।

भाव की अपेक्षा अर्थकर्ता

णाणावरणप्पहुदी, णिच्छय-ववहारपाय अतिसयए ।
संजादेण अणंतं, णाणेणं दंसणेण सोक्खेणं ।।७१।।

विरिएण तहा खाइय-सम्मत्तेणं पि दाण-लाहेहिं ।
भोगोपभोग-णिच्छय-ववहारेहिं च परिपुण्णो[4] ।।७२।।

अर्थ—ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्मों के निश्चय और व्यवहाररूप विनाश के कारणों का प्रकर्षता होने पर उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चार—अनन्त-चतुष्टय तथा क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग और क्षायिकउपभोग इस प्रकार नवलब्धियों के निश्चय एवं व्यवहार स्वरूपों से परिपूर्ण हुए ।।७१-७२।।

दंसणमोहे णट्ठे, घादि-त्तिदए चरित्त-मोहम्मि ।
सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-चरियाइ होंति खइयाइं ।।७३।।

अर्थ दर्शनमोह, तीन घातियाकर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) और चारित्रमोह के नष्ट होने पर क्रम से सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और चारित्र, ये पाँच क्षायिकभाव प्राप्त होते हैं ।।७३।।

जादे अणंत-णाणे, णट्ठे छदुमट्ठिदियम्मि[5] णाणम्मि ।
णवविह-पदत्थसारो, दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थं ।।७४।।

अर्थ—अनन्तज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की उत्पत्ति और छद्मस्थ अवस्था में रहने वाले मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्ययरूप चारों ज्ञानों का अभाव होने पर नौ प्रकार के पदार्थों (सात-तत्त्व और पुण्य-पाप) के सार को विषय करने वाली दिव्यध्वनि सूत्रार्थ को कहती है ।।७४।।

---

१. द. ब. सुद्दमुहुत्ते । २. ब. सुहोदिए, क. सुहोदए । ३. द. आदीइ यिमस्स, क. आदी यिमस्स ।
४. ब. परपुण्णो । ५. द. ब. चदुमट्ठिदिदम्मि ।

अण्णेहिं अणंतेहिं, गुणेहिं जुत्तो विसुद्ध-चारित्तो ।
भव-भय-भंजण-दच्छो, महवीरो अत्थ-कत्तारो ।।७५।।

अर्थ—इसके अतिरिक्त और भी अनन्तगुणों से युक्त, विशुद्ध चारित्र के धारक तथा संसार के भय को नष्ट करने में दक्ष श्रीमहावीर प्रभु (भाव की अपेक्षा) अर्थ-कर्ता हैं ।।७५।।

गौतम-गणधर द्वारा श्रुत-रचना

महवीर-भासियत्थो, तस्सि खेत्तम्मि तत्थ काले य ।
खायोवसम-विवड्ढिद-चउरमल[1] - मईहि पुण्णेण ।।७६।।

लोयालोयाण तहा, जीवाजीवाण विविह-विसयेसुं ।
संदेह-णासणत्थं, उवगद-सिरि-वीर-चलणमूलेण ।।७७।।

विमले गोदम-गोत्ते, जादेणं [2]इंदभूदि-णामेणं ।
चउ-वेद-पारगेणं, सिस्सेण[3] विसुद्ध-सीलेणं ।।७८।।

भाव-सुदं पज्जाएहिं, परिणदमयिणा[4] अ बारसंगाणं ।
चोद्दस-पुव्वाण तहा, एक्क-मुहुत्तेण विरचणा विहिदा ।।७९।।

अर्थ—भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट पदार्थ स्वरूप, उसी क्षेत्र और उसी काल में, ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से वृद्धि को प्राप्त निर्मल चार बुद्धियों (कोष्ठ, बीज, संभिन्न-श्रोतृ और पदानुसारी) से परिपूर्ण, लोक-अलोक और जीवाजीवादि विविध विषयों में उत्पन्न हुए सन्देह को नष्ट करने के लिए श्री वीर भगवान् के चरण-मूल की शरण में आये हुए, निर्मल गौतमगोत्र में उत्पन्न हुए, चारों वेदों में पारंगत, विशुद्ध शील के धारक, भावश्रुतरूप पर्याय से बुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त, ऐसे इन्द्रभूति नामक शिष्य अर्थात् गौतम गणधर द्वारा एक मुहूर्त में बारह अंग और चौदह पूर्वों की रचना रूप से श्रुत गुंथित किया गया ।।७६-७९।।

कर्त्ता के तीन भेद

इय मूल-तंत-कत्ता, सिरि-वीरो इंदभूदि-विप्प-वरो ।
उवतंते कत्तारो, अणुतंते सेस-आइरिया ।।८०।।

---

[1] ब. चउउर°, क. चउउर ।
[2] ब. यंदभूदि°, क. इदिभूदि ।
[3] ब. मिस्सेण, क. मिणेण ।
[4] [परिणदमइणा य] क. मयेण एयार ।

अर्थ—इस प्रकार श्री वीरभगवान् मूलतंत्रकर्ता, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ इन्द्रभूति गणधर उपतन्त्रकर्ता और शेष आचार्य अनुतन्त्रकर्ता हैं ॥८०॥

सूत्र की प्रमाणता

णिण्णट्ठ-राय-दोसा, महेसिणो [1]दव्व-सुत्त-कत्तारो ।
किं कारणं पभणिदा, कहिदुं सुत्तस्स [2]पामण्णं ॥८१॥

अर्थ—रागद्वेष से रहित गणधरदेव द्रव्यश्रुत के कर्ता हैं, यह कथन यहाँ किस कारण से किया गया है ? यह कथन सूत्र की प्रमाणता का कथन करने के लिए किया गया है ॥८१॥

नय, प्रमाण और निक्षेप के बिना अर्थ निरीक्षण करने का फल

जो ण पमाण-णयेहिं, णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥

अर्थ—जो नय और प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है ॥८२॥

प्रमाण एवं नयादि का लक्षण

णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदय-भावत्थो[3] ।
णिक्खेओ वि उवाओ, जुत्तीए अत्थ-पडिगहणं ॥८३॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं। निक्षेप भी उपायस्वरूप हैं। युक्ति से अर्थ का प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥८३॥

रत्नत्रय का कारण

इय णायं अवहारिय, आइरिय-परंपरागदं मणसा ।
पुव्वाइरिया-आराणुसरणं ति-रयण-णिमित्तं ॥८४॥

अर्थ—इस प्रकार आचार्यपरम्परा से प्राप्त हुए न्याय को मन से अवधारण करके पूर्व आचार्यों के आचार का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है ॥८४॥

---

[1] द. ज. क. ठ. दिव्यसुत्त° । [2] क. द. ज. ब. ठ. सामण्णं । [3] ब. णउ वि णादुसहहिदयभावत्थो, क. णउ वि णादुसहहिदयभावत्थो ।

ग्रंथ-प्रतिपादन की प्रतिज्ञा

मंगलपहुदिच्छक्कं, वक्खाणिय विविह-गंथ-जुत्तीहिं ।
जिणवर-मुह-णिक्कंतं, गणहर-देवेहिं [1]गथित-पदमालं ।।८५।।

सासद-पदमावण्णं, पवाह - रुवत्तणेण दोसेहिं ।
णिस्सेसेहि विमुक्कं, आइरिय-अणुक्कमाआदं ।।८६।।

भव्व-जणाणंदयरं, वोच्छामि अहं तिलोयपण्णत्ति ।
णिब्भर - भत्ति - पसादिद - वर-गुरु - चलणाणुभावेण ।।८७।।

अर्थ—विविध ग्रन्थ और युक्तियों से मंगलादि छह (मंगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता का) व्याख्यान करके जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकले हुए, गणधरदेवों द्वारा पदों की (शब्द रचना रूप) माला में गूँथे गये, प्रवाह रूप से शाश्वतपद (अनन्तकालीनता को) प्राप्त सम्पूर्ण दोषों से रहित और आचार्य-परम्परा से आये हुए तथा भव्यजनों को आनन्ददायक 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' शास्त्र को मैं अतिशय भक्ति द्वारा प्रसादित उत्कृष्ट-गुरु के चरणों के प्रभाव से कहता हूँ ।।८५-८७।।

ग्रन्थ के नव अधिकारों के नाम

सामण्ण-जग-सरूवं, तम्मि ठियं णारयाण लोयं च ।
भावण-णर-तिरियाणं, वेंतर-जोइसिय-कप्पवासीणं ।।८८।।

सिद्धाणं लोगो त्ति य, [2]अहियारे पयद-दिट्ठ-णव-भेए ।
तम्मि णिबद्धे जीवे, पसिद्ध-वर-वण्णणा-सहिए ।।८९।।

वोच्छामि [3]सयलभेदे, भव्वजणाणंद-पसर-संजणणं[4]।
जिण-मुह-कमल-विणिग्गय-तिलोयपण्णत्ति-णामाए ।।९०।।

अर्थ—जगत् का सामान्य स्वरूप तथा उसमें स्थित नारकियों का लोक, भवनवासी, मनुष्य, तिर्यंच, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और सिद्धों का लोक, इस प्रकार प्रकृत में उपलब्ध भेदरूप नौ अधिकारों तथा उस-उस लोक में निबद्ध जीवों को, नयविशेषों का आश्रय लेकर उत्कृष्ट वर्णना से

---

१. क. ज. ठ. गंथित । २. ब. अहिआरो, क. अहिआरे । ३. ब. लयं=नयविशेषम्, द. वोच्छामि सयलईए, क. वोच्छामि सयलईए । ४. ब. जणाणंदएसरसं ।

युक्त भव्यजनों को आनन्द के प्रसार का उत्पादक और जिनभगवान् के मुखरूपी कमल से निर्गत यह त्रिलोकप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ कहता हूँ ॥८८-९०॥

लोकाकाश का लक्षण

जगसेढि-घण-पमाणो, लोयायासो स-पंच-दव्व-ठिदी ।
एसं अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥

≡ १६ ख ख ख[1]

अर्थ—यह लोकाकाश (≡) अनन्तानन्त अलोकाकाश (१६ ख ख ख) के बहुमध्यभाग में जीवादि पाँच द्रव्यों से व्याप्त और जगच्छ्रेणी के घन (३४३ घन राजू) प्रमाण है ॥९१॥

विशेष—इस गाथा की संदृष्टि (≡ १६ ख ख ख) का अर्थ इस प्रकार है—

≡, का अर्थ लोक की प्रदेश-राशि एवं धर्माधर्म की प्रदेश राशि ।

१६, सम्पूर्ण जीव राशि ।

१६ ख, सम्पूर्ण पुद्गल (की परमाणु) राशि ।

१६ ख ख, सम्पूर्ण काल (की समय) राशि ।

१६ ख ख ख, सम्पूर्ण आकाश (की प्रदेश) राशि ।

जीवा पोग्गल-धम्माधम्मा काला इमाणि दव्वाणि ।
सव्वं [2]लोयायासं, [3]आधूइय पंच [4]चिट्ठंति ॥९२॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल, ये पाँचों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं ॥९२॥

एत्तो सेढिस्स घणप्पमाणाण णिण्णयत्थ परिभासा उच्चदे—

अब यहाँ से आगे श्रेणि के घनप्रमाण लोक का निर्णय करने के लिए परिभाषाएँ अर्थात् पल्योपमादि का स्वरूप कहते हैं—

---

[1] द. ख ख ख × २ । [2] द. ब. क. ज. ठ. लोयायासो । [3] द. क. आउवड्ढिदि आधूइय । [4] द. ब. चरंति, क. चिरंति, ज. ठ. विरंति ।

उपमा प्रमाण के भेद

पल्ल-समुद्दे उवमं, अंगुलयं सूइ-पदर-घण-णामं ।
जगसेढि-लोय-पदरो, अ लोओ अट्ठप्पमाणाणि ।।९३।।

प. १ । सा. २ । सू. ३ । प्र. ४ । घ. ५ । ज. ६ । लोय प. ७ । लोय ८

अर्थ—पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, लोक-प्रतर और लोक ये आठ उपमा प्रमाण के भेद हैं ।।९३।।

१	२	३	४	५	६	७	८
पल्य,	सागर,	सूच्यंगुल,	प्रतरांगुल,	घनांगुल,	जग०	लोक प्र०	लोक ।

पल्य के भेद एवं उनके विषयों का निर्देश

ववहारुद्धारद्धा, तिय-पल्ला पढमयम्मि संखाओ ।
विदिए दीव-समुद्दा, तदिए मिज्जेदि कम्म-ठिदी ।।९४।।

अर्थ—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य, ये पल्य के तीन भेद हैं । इनमें प्रथम पल्य से संख्या, द्वितीय से द्वीप-समुद्रादिक और तृतीय से कर्मों की स्थिति का प्रमाण लगाया जाता है ।।९४।।

स्कंध, देश, प्रदेश एवं परमाणु का स्वरूप

खंदं सयल-समत्थं, तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो, अविभागी होदि परमाणू ।।९५।।

अर्थ—सब प्रकार से समर्थ (सर्वांशपूर्ण) स्कंध, उसके अर्धभाग को देश और आधे के आधे भाग को प्रदेश कहते हैं । स्कंध के अविभागी (जिसके और विभाग न हो सकें ऐसे) अंश को परमाणु कहते हैं ।।९५।।

परमाणु का स्वरूप

सत्थेण [1]सु-तिक्खेणं, छेत्तुं भेत्तुं च जं किर ण सक्को ।
जल-अणलादिहिं णासं, ण एदि [2]सो होदि परमाणू ।।९६।।

अर्थ—जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदा या भेदा नहीं जा सकता तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को भी प्राप्त नहीं होता वह परमाणु है ।।९६।।

---

[1] ब. सुतिक्खेण य च्छेत्तुं च जं किरस्सक्का । [2] द. ब. सा, ब. ज. ठ. सा ।

एक्क-रस-वण्ण-गंधं, दो पासा सद्द-कारणमसद्दं ।
खंदंतरिदं दव्वं, तं परमाणुं भणंति बुधा ॥९७॥

अर्थ—जिसमें (पाँच रसों में से) एक रस, (पाँच वर्णों में से) एक वर्ण, (दो गंधों में से) एक गंध और (स्निग्ध-रुक्ष में से एक तथा शीत-उष्ण में से एक ऐसे) दो स्पर्श (इस प्रकार कुल पाँच गुण) हैं और जो स्वयं शब्दरूप न होकर भी शब्द का कारण है एवं स्कन्ध के अन्तर्गत है, उस द्रव्य को ज्ञानीजन परमाणु कहते हैं ॥९७॥

अंतादि-मज्झ-हीणं, अपदेसं इंदिएहिं ण हि [1]गेज्झं ।
जं दव्वं अविभत्तं, तं परमाणुं कहंति जिणा ॥९८॥

अर्थ—जो द्रव्य अन्त, आदि एवं मध्य से विहीन, प्रदेशों से रहित (अर्थात् एक प्रदेशी हो), इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकने वाला और विभाग रहित है, उसे जिन भगवान् परमाणु कहते हैं ॥९८॥

परमाणु का पुद्गलत्व

पूरंति गलंति जदो, पूरण-गलणेहिं पोग्गला तेण ।
परमाणु च्चिय जादा, इय दिट्ठं दिट्ठि-वादम्हि ॥९९॥

अर्थ—क्योंकि स्कन्धों के समान परमाणु भी पूरते हैं और गलते हैं, इसीलिए पूरण-गलन क्रियाओं के रहने से वे भी पुद्गल के अन्तर्गत हैं; ऐसा दृष्टिवाद अंग मे निर्दिष्ट है ॥९९॥

परमाणु पुद्गल ही है

वण्ण-रस-गंध-फासे, पूरण-गलणाइ सव्व-कालम्हि ।
खंदं पिव कुणमाणा, परमाणू पुग्गला [2]तम्हा ॥१००॥

अर्थ—परमाणु स्कन्ध की तरह सब कालों में वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणों में पूरण-गलन किया करते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं ॥१००॥

नय-अपेक्षा परमाणु का स्वरूप

आदेस-मुत्तमुत्तो, [3]धातु-चउक्कस कारणं जो दु[4] ।
सो णेयो परमाणू, परिणाम-गुणो य खंदस्स ॥१०१॥

---

[1] द. क. ज. ठ. सोज्झं । [2] द. ज. ठ. तरस । [3] द. ज. ठ. धाउ । [4] द. क. ठ. जादु ।

अर्थ—जो नय विशेष की अपेक्षा कथंचित् मूर्त एवं कथंचित् अमूर्त है, चार धातु रूप स्कन्ध का कारण है और परिणमन-स्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए ।।१०१।।

उवसन्नासन्न स्कंध का लक्षण

परमाणूहिं अणंताणंतेहिं बहु-विहेहि-दव्वेहिं ।
[1]उवसण्णासण्णो त्ति य, सो खंदो होदि णामेण ।।१०२।।

अर्थ—नाना प्रकार के अनन्तानन्त परमाणु-द्रव्यों से उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कन्ध उत्पन्न होता है ।।१०२।।

सन्नासन्न से अंगुल पर्यन्त के लक्षण

[1]उवसण्णासण्णो वि य, गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण ।
सण्णासण्णो त्ति तदो, दु इदि खंधो पमाणट्ठं ।।१०३।।
[2]अट्ठेहिं गुणिदेहिं, सण्णासण्णेहिं होदि तुडिरेणू ।
तित्तिय - मेत्तहदेहिं, तुडिरेणूहिं पि तसरेणू ।।१०४।।
तसरेणू रथरेणू, उत्तम - भोगावणीए वालग्गं ।
मज्झिम-भोग-खिदीए, वालं पि जहण्ण-भोग-खिदिवालं ।।१०५।।
कम्म-महीए वालं, लिक्खं जूवं जवं च अंगुलयं ।
इगि-उत्तरा य भणिदा, पुव्वेहिं अट्ठ - गुणिदेहिं ।।१०६।।

अर्थ—उवसन्नासन्न को भी आठ से गुणित करने पर सन्नासन्न नाम का स्कन्ध होता है अर्थात् आठ उवसन्नासन्नों का एक सन्नासन्न नाम का स्कन्ध होता है । आठ से गुणित सन्नासन्नों अर्थात् आठ सन्नासन्नों से एक त्रुटिरेणु और इतने (आठ) ही त्रुटिरेणुओं का एक त्रसरेणु होता है । त्रसरेणु से पूर्व पूर्व स्कन्धों द्वारा आठ-आठ गुणित क्रमशः रथरेणु, उत्तम भोगभूमि का बालाग्र, मध्यम-भोगभूमि का बालाग्र, जघन्य-भोगभूमि का बालाग्र, कर्म-भूमि का बालाग्र, लीख, जूँ, जौ और अंगुल, ये उत्तरोत्तर स्कन्ध कहे गये हैं ।।१०३-१०६।।

अंगुल के भेद एवं उत्सेधांगुल का लक्षण

तिवियप्पमंगुलं तं, उच्छेह-पमाण-अप्प-अंगुलयं ।
परिभासा-णिप्पण्णं, होदि हु [3]उच्छेह-सूइ-अंगुलियं ।।१०७।।

---

[1] द. ज. ठ. ओसण्णासण्णो । [2] द. क. अट्ठट्ठे, ज. ठ. अट्ठेदि । [3] द. ज. क. ठ. उदिसेह-सूचि अंगुलयं ।

अर्थ—अंगुल तीन प्रकार का है—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। ऊपर परिभाषा से सिद्ध किया गया अंगुल उत्सेध-सूच्यंगुल होता है ॥१०७॥

विशेषार्थ—उत्सेधांगुल के तीन भेद होते हैं—उत्सेध सूच्यंगुल, उत्सेध प्रतरांगुल, उत्सेध घनांगुल। इसी तरह प्रमाण सूच्यंगुल, प्रमाण प्रतरांगुल, प्रमाण घनांगुल, ये प्रमाणांगुल के तीन भेद हैं। इसी तरह आत्म सूच्यंगुल, आत्म प्रतरांगुल तथा आत्म घनांगुल, ये आत्मांगुल के तीन भेद हैं।

प्रमाणांगुल का लक्षण

तं चिय पंच सयाइं, अवसप्पिणि-पढम-भरह-चक्किस्स।
अंगुलमेक्कं चेव य, तं तु पमाणंगुलं णाम ॥१०८॥

अर्थ—पाँच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण, अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत के एक अंगुल का नाम ही प्रमाणांगुल है ॥१०८॥

आत्मांगुल का लक्षण

जस्सिं जस्सिं काले, भरहेरावद-महीसु[1] जे मणुवा।
तस्सिं तस्सिं ताणं, अंगुलमादंगुलं णाम ॥१०९॥

अर्थ—जिस-जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र में जो-जो मनुष्य हुआ करते हैं, उस-उस काल में उन्हीं मनुष्यों के अंगुल का नाम आत्मांगुल है ॥१०९॥

उत्सेधांगुल द्वारा माप करने योग्य वस्तुएँ

उस्सेहअं-गुलेणं, सुराण-णर-तिरिय-णारयाणं च।
[2]उस्सेहस्स-पमाणं, चउदेव-णिगेद-णयराणं[3] ॥११०॥

अर्थ—उत्सेधांगुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवों के निवासस्थान एवं नगरादिक का प्रमाण जाना जाता है ॥११०॥

प्रमाणांगुल से मापने योग्य पदार्थ

दीवोदहि-सेलाणं, वेदीण णदीण कुण्ड-जगदीणं।
[4]वस्साणं च पमाणं, होदि पमाणंगुलेणेव ॥१११॥

---

[1] ब. क. महीस। [2] ब. उस्सेह अंगुलो णं। [3] ब. णिकेदणणयराणि। [4] द. ब. वंसाणं ज. क. ठ. वंसाण।

अर्थ—द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड (सरोवर), जगती और भरतादिक क्षेत्र का प्रमाण प्रमाणांगुल से ही होता है ॥१११॥

विशेषार्थ—जंबूवृक्ष का वर्णन उत्सेध योजन से है। (ति. प. ४-२१७६) **जिनप्रतिमा** का नाप भी उत्सेधांगुल से होगा (रा. वा. I-२०७)। **तारा विमान** का नाप उत्सेधांगुल से होगा। (धवल ४-१६०-१६१) परन्तु राजवार्तिक (३-३८-६-२०८) के अनुसार तारा विमान का नाप प्रमाणांगुल से होगा। धवलाकार ने भी विकल्प से प्रमाणांगुल से तारा विमान का नाप करना बताया है। **सूर्य विमान** का नाप तो प्रमाणांगुल से ही होता है। (श्लोक वा. भाग ५ पृ. ५६८, २६६ कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, स. सि. वचनिका पृ. १७५-१७६, अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ११२-११३) **स्वर्ग विमानों** के नाप भी बड़े योजनों से ही होंगे। (श्लो. वा. ५-२७६)। **जिनभवन** का नाप प्रमाणांगुल से होता है। (जंबूदीव पण्णत्ती पृ. २३७)।

आत्मांगुल से मापने योग्य पदार्थ

भिंगार-कलस-दप्पण-वेणु-पडह-जुगाण सयण-सगदाणं[1] ।
हल-मुसल-सत्ति-तोमर-सिंहासण-वाण-णालि-अक्खाणं ॥११२॥

चामर-दुंदुहि-पीढच्छत्ताणं णर-णिवास-णयराणं ।
उज्जाण-पहुदियाणं, संखा आदंगुलेणेव ॥११३॥

अर्थ—झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाड़ी), हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, वाण, नालि, अक्ष, चामर, दुन्दुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवास-स्थान एवं नगर और उद्यानादिकों की संख्या आत्मांगुल से ही समझनी चाहिए ॥११२-११३॥

पाद से कोस-पर्यंत की परिभाषाएँ

छहि अंगुलेहि पादो, बे पादेंहि विहत्थि-णामा य ।
दोण्णि विहत्थी हत्थो, बे हत्थेंहि हवे रिक्कू ॥११४॥

बे रिक्कूहिं दंडो, दंडसमा [2]जुग धणूणि मुसलं वा ।
तस्स तहा णाली वा, दो-दंड-सहस्सयं कोसं ॥११५॥

अर्थ—छह अंगुलों का पाद, दो पादों की वितस्ति, दो वितस्तियों का हाथ, दो हाथों का रिक्कू, दो रिक्कुओं का दण्ड, दण्ड के बराबर अर्थात् चार हाथ प्रमाण ही धनुष, मूसल तथा नाली और दो हजार दण्ड या धनुष का एक कोस होता है ॥११४-११५॥

---

१. [सगडाणं] २. द. युगधणूणि।

योजन का माप

चउ-कोसेहिं जोयण, तं चिय [1]वित्थार-गत्त-समवट्टं ।
तत्तियमेत्तं घण-फल-माणेज्जं करण-कुसलेहिं ।।११६।।

अर्थ--चार कोस का एक योजन होता है । उतने ही अर्थात् एक योजन विस्तार वाले गोल गड्ढे का गणितशास्त्र में निपुण पुरुषों को घनफल ले आना चाहिए ।।११६।।

गोल क्षेत्र की परिधि का प्रमाण, क्षेत्रफल एवं घनफल

सम-वट्ट-वास-वग्गे, दह-गुणिदे करणि-परिहिओ होदि ।
वित्थार-तुरिय[2] - भागे, परिहि-हदे तस्स खेत्तफलं ।।११७।।
उणवीस - जोयणेसुं, चउवीसेहिं तहावहरिदेसुं ।
तिविह-वियप्पे पल्ले, घण-खेत्त[3] - फला हु [4]पत्तेयं ।।११८।।

$\frac{१९}{२४}$ ।

अर्थ--समान गोल (बेलनाकार) क्षेत्र के व्यास के वर्ग को दस से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो, उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का प्रमाण निकलता है, तथा विस्तार अर्थात् व्यास के चौथे भाग से परिधि को गुणित करने पर उसका क्षेत्रफल निकलता है । तथा उन्नीस योजनों को चौबीस से विभक्त करने पर तीन प्रकार के पल्यों में से प्रत्येक का घन-क्षेत्रफल होता है ।।११७-११८।।

उदाहरण—एक योजन व्यास वाले गोल क्षेत्र का घनफल—

$१ \times १ \times १० = १०$; $\sqrt{१०} = \frac{१९}{६}$ परिधि; $\frac{१९}{६} \times \frac{१}{४} = \frac{१९}{२४}$ क्षेत्रफल; $\frac{१९}{२४} \times १ = \frac{१९}{२४}$ घनफल ।

विशेषार्थ—यहाँ समान गोल क्षेत्र (कुण्ड) का व्यास १ योजन है, इसका वर्ग (१ यो० × १ यो०) = १ वर्ग योजन हुआ । इसमें १० का गुणा करने से (१ वर्ग यो० × १० =) १० वर्ग योजन हुए । इन १० वर्ग यो० का वर्गमूल ३$\frac{१}{६}$ ($\frac{१९}{६}$) योजन हुआ, यही परिधि का (सूक्ष्म) प्रमाण है । $\frac{१९}{६}$ यो० परिधि को व्यास के चौथाई भाग $\frac{१}{४}$ यो० से गुणा करने पर ($\frac{१९}{६} \times \frac{१}{४} =$) $\frac{१९}{२४}$ वर्ग यो० (सूक्ष्म) क्षेत्रफल हुआ । इस $\frac{१९}{२४}$ वर्ग यो० क्षेत्रफल को १ यो० गहराई से गुणित करने पर ($\frac{१९}{२४} \times १$ यो० =) $\frac{१९}{२४}$ घन यो० (सूक्ष्म) घनफल प्राप्त होता है ।।११७-११८।।

व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या निकालने का विधान तथा उनका प्रमाण

उत्तम-भोग-खिदीए, उप्पण्ण-विजुगल-रोम-कोडीओ ।
एक्कादि-सत्त-दिवसावहिम्मि च्छेत्तूण संगहियं ।।११९।।

---

१. ब. वित्थारं । २. द. ज. क. ठ. तुरिम । ३. [घणखेत्तफ] ४. ब. पत्तेका ।

अइवट्टेहिं तेहिं, रोमग्गेहिं णिरंतरं पढमं ।
अच्चंतं णिचिदूणं, भरियव्वं जाव भूमिसमं ।।१२०।।

अर्थ उत्तम भोग-भूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेढ़े के करोड़ों रोमों के अविभागी-खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रों से लगातार उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम पल्य (गड्ढे) को पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिए ।।११९-१२०।।

दंड-पमाणंगुलए, उस्सेहंगुल जव च जूवं च ।
लिक्खं तह काढूणं, वालग्गं कम्म-भूमीए ।।१२१।।
[1]अवरं-मज्झिम-उत्तम-भोग-खिदीणं च वाल-अग्गाइं ।
[2]एक्केक्कमट्ठ-घण-हद - रोमा ववहार-पल्लस्स ।।१२२।।

ऽ० । ९६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।
ऽ० । ९६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।
ऽ० । ९६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।

[3]पल्ल रोमस्स

अर्थ—ऊपर जो $\frac{१९}{२४}$ प्रमाण घनफल आया है, उसके दण्ड कर प्रमाणांगुल कर लेना चाहिए। पुनः प्रमाणांगुलों के उत्सेधांगुल करना चाहिए। पुनः जौ, जूँ, लीख, कर्मभूमि के बालाग्र, जघन्य भोगभूमि के बालाग्र, मध्यम भोगभूमि के बालाग्र, उत्तम भोगभूमि के बालाग्र, इनकी अपेक्षा प्रत्येक को आठ के घन से गुणा करने पर व्यवहार पल्य के रोमों की संख्या निकल आती है ।।१२१-१२२।। यथा—

$\frac{१९}{२४}$ × ४ × ४ × ४ × २००० × २००० × २००० × ४ × ४ × ४ × २४ × २४ × २४ × ५०० × ५०० × ५०० × ८ = ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००।

नोट मूल संदृष्टि के ऽ० का अर्थ ३ शून्य (०००) है। मूल में तीन बार ९६, तीन बार ५०० और चौबीस बार ८ के अंक आये हैं। हिन्दी अर्थ में तीन बार ५०० और इक्कीस बार ८ के अंक रखे गये हैं, तीन बार ९६, तीन बार ८ और ९ शून्य अवशेष रहे। ९६००० को ८ से गुणित करने पर (९६००० × ८) = ७६८००० अंगुल प्राप्त होते हैं, जो एक योजन के बराबर हैं। इन अंगुलों के कोस आदि बनाने पर ४ कोस, २००० धनुष, ४ हाथ और २४ अंगुल होते हैं। अर्थ में तीन बार ४, तीन बार २०००, तीन बार ४ और तीन बार २४ इसी के सूचक रखे गये हैं।

---

[1] ब. अवरमज्झिम°। [2] द. एक्किक्क°। [3] [पल्लं]।

विशेषार्थ—एक योजन के चार कोस, एक कोस के २००० धनुष, एक धनुष के चार हाथ और एक हाथ के २४ अंगुल होते हैं। एक योजन व्यास वाले गड्ढे का घनफल $\frac{१९}{२४}$ प्रमाण घन योजन प्राप्त हुआ है, एक प्रमाण योजन के ५०० व्यवहार योजन होते हैं। "घनराशि का गुणाकार या भागहार घनात्मक ही होता है" इस नियम के अनुसार $\frac{१९}{२४}$ को तीन बार ५०० से गुणा किया और इन व्यवहार योजनों के रोमखण्ड बनाने हेतु तीन-तीन बार ४ कोस, २००० धनुष, ४ हाथ, २४ अंगुल एवं आठ-आठ यव, जूँ आदि के प्रमाण से गुणा किया गया है ॥१२१-१२२॥

उपर्युक्त संदृष्टि का गुणनफल

[1]अट्ठारस ठाणेसुं, सुण्णाणि दो णवेक्क दो [2]एक्को।
पण-णव-चउक्क-सत्ता, सग-सत्ता एक्क-तिय-सुण्णा ॥१२३॥

दो अट्ठ सुण्ण-तिअ-णह- [3]तिय-छक्का दोण्णि-पण-चउक्काणि।
[4]तिय एक्क चउक्काणिं, अंकं कमेण पल्लरोमस्स ॥१२४॥

४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००।

अर्थ—अन्त के स्थानों में १८ शून्य, दो, नौ, एक, दो, एक, पाँच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य, दो, आठ, शून्य, तीन, शून्य, तीन, छह, दो, पाँच, चार, तीन, एक और चार ये क्रम से पल्य रोम के अंक हैं ॥१२३-१२४॥

व्यवहार पल्य का लक्षण

एक्केक्कं रोमग्गं, वस्स-सदे फेडिदम्हि सो पल्लो।
रित्तो होदि स कालो, उद्धार णिमित्त-ववहारो ॥१२५॥

॥ ववहार-पल्लं ॥

अर्थ—सौ-सौ वर्ष में एक-एक रोम-खण्ड के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा खाली होता है—उतने काल को व्यवहार-पल्योपम कहते हैं। वह व्यवहार पल्य उद्धार-पल्य का निमित्त है ॥१२५॥

॥ व्यवहार-पल्य का कथन समाप्त हुआ ॥

---

[1] द. अट्ठरसंताणे। [2] द. दोणविक्कं। [3] द. तियच्छंचपदोण्णिपणचउण्णिति, क. तियच्छंचउदोण्णिपणचउण्णिति। [4] द. ए एक्क।

उद्धार पल्य का प्रमाण

ववहार-रोम-रासिं, पत्तेक्कमसंख-कोडि-वस्साणं ।
समय-समं छेत्तूणं, विदिए पल्लम्हि भरिदम्हि ।।१२६।।

समयं पडि[1] एक्केक्कं, वालग्गं फेडिदम्हि सो पल्लो ।
रित्तो होदि स कालो, उद्धारं णाम पल्लं तु ।।१२७।।

।। उद्धार-पल्लं ।।

अर्थ—व्यवहारपल्य की रोम-राशि में से प्रत्येक रोम-खण्ड के, असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को (गड्ढे को) भरकर पुनः एक-एक समय में एक-एक रोम-खण्ड को निकालें। इस प्रकार जितने समय में वह दूसरा पल्य (गड्ढा) खाली होता है, उतना काल उद्धार नाम के पल्य का है ।।१२६-१२७।।

।। उद्धार-पल्य का कथन समाप्त हुआ ।।

अद्धार या अद्धापल्य के लक्षण आदि

एदेणं पल्लेणं, दीव-समुद्दाण होदि परिमाणं ।
उद्धार-रोम-रासिं, [2]छेत्तूणमसंख-वास-समय-समं ।।१२८।।

पुव्वं व विरचिदेणं, तदियं अद्धार-पल्ल-णिप्पत्ती ।
णारय-तिरिय-णराणं, सुराण-कम्म-ट्ठिदी तम्हि ।।१२९।।

।। अद्धार-पल्लं एवं पल्लं समत्तं ।।

अर्थ—इस उद्धार-पल्य से द्वीप और समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है। उद्धार-पल्य की रोम-राशि में से प्रत्येक रोम-खण्ड के असंख्यात वर्षों के समय-प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक-एक समय में एक-एक रोम-खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा रिक्त होता है उतने काल को अद्धार पल्योपम कहते हैं। इस अद्धा पल्य से नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवों के कर्मों की स्थिति का प्रमाण (जानना चाहिए) ।।१२८-१२९।।

।। अद्धार-पल्य समाप्त हुआ। इस प्रकार पल्य समाप्त हुआ ।।

---

[1] ब. पडियक्केक्कं । [2] द. छेत्तूणं संख ।

व्यवहार, उद्धार एवं अद्धा सागरोपमों के लक्षण

एदाणं पल्लाणं, दहप्पमाणाउ कोडि-कोडीओ ।
सायर-उवमस्स पुढं, एक्कस्स हवेज्ज परिमाणं ।।१३०।।

।। सायरोपमं समत्तं ।।

अर्थ—इन दस कोड़ाकोड़ी पल्यों का जितना प्रमाण हो उतना पृथक्-पृथक् एक सागरोपम का प्रमाण होता है। अर्थात् दस कोड़ाकोड़ी व्यवहार पल्यों का एक व्यवहार-सागरोपम, दस कोड़ाकोड़ी उद्धार-पल्यों का एक उद्धार-सागरोपम और दस-कोड़ाकोड़ी अद्धा-पल्यों का एक अद्धा-सागरोपम होता है ।।१३०।।

।। सागरोपम का वर्णन समाप्त हुआ ।।

सूच्यंगुल और जगच्छ्रेणी के लक्षण

अद्धार-पल्ल-छेदे, तस्सासंखेज्ज-भागमेत्ते य ।
पल्ल-घणंगुल-वग्गिद-संवग्गिदयम्हि सूइ-जगसेढी ।।१३१।।

सू० २ । जग०—।

अर्थ—अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद हों उतनी जगह पल्य रखकर परस्पर गुणित करने पर सूच्यंगुल प्राप्त होता है; तथा अद्धापल्य की अर्धच्छेद राशि के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुल रख कर उन्हें परस्पर गुणित करने पर जगच्छ्रेणी प्राप्त होती है ।।१३१।।

विशेषार्थ—$\text{सूच्यंगुल} = \text{अद्धापल्य}^{\text{अद्धापल्य के अर्धच्छेद ।}}$

$\text{जगच्छ्रेणी} = \text{घनांगुल}^{\text{अद्धापल्य के अर्धच्छेद/असंख्यात//}}$

सूच्यंगुल आदि का तथा राजू का लक्षण

तं वग्गे पदरंगुल-पदराइ-घणे घणंगुलं लोयो ।
जगसेढीए सत्तम-भागो रज्जू पभासंते ।।१३२।।

४ । = । ६ । ≡ । ७ ।

।। एवं परिभासा गदा ।।

अर्थ—उपर्युक्त सूच्यंगुल का वर्ग करने पर प्रतरांगुल और जगच्छ्रेणी का वर्ग करने पर जगत्प्रतर होता है। इसी प्रकार सूच्यंगुल का घन करने पर घनांगुल और जगच्छ्रेणी का घन करने पर लोक का प्रमाण होता है। जगच्छ्रेणी के सातवें भागप्रमाण राजू का प्रमाण कहा जाता है ।।१३२।।

प्र. अं. ४; ज. प्र. $=$; घ. अं. ६; घ. लो. $\equiv$ । ७ राजू है।

॥ इस प्रकार परिभाषा का कथन समाप्त हुआ ॥

विशेषार्थ—गाथा १३१ और १३२ में सूच्यंगुल, प्रतरांगुल और घनांगुल तथा जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक एवं राजू की परिभाषाएँ कही गयी हैं। अंकसंदृष्टि में—मानलो, अद्धापल्य का प्रमाण १६ है। इसके अर्धच्छेद ४ हुए (विवक्षित राशि को जितनी बार आधा करते-करते एक का अंक रह जाय उतने, उस राशि के अर्धच्छेद कहलाते हैं। जैसे १६ को ४ बार आधा करने पर एक अंक रहता है, अतः १६ के ४ अर्धच्छेद हुए)। अतः चार बार पल्य (१६ × १६ × १६ × १६) का परस्पर गुणा करने से सूच्यंगुल (६५=अर्थात् ६५५३६) प्राप्त हुआ। इस सूच्यंगुल के वर्ग (४२=अर्थात् ६५५३६ × ६५५३६) को प्रतरांगुल तथा सूच्यंगुल के घन (६५५३६ × ६५५३६ × ६५५३६ या (६५५३६)^2 × ६५५३६ = (६५५३६)^3 को घनांगुल कहते हैं।

मानलो—अद्धापल्य का प्रमाण १६, घनांगुल का प्रमाण (६५५३६)^3 और असंख्यात का प्रमाण २ है। अतः पल्य (१६) के अर्धच्छेद ४ ÷ २ (असंख्यात) = लब्ध २ आया, इसलिए दो बार घनांगुलों { (६५५३६)^3 × (६५५३६)^3 } का परस्पर गुणा करने से जगच्छ्रेणी प्राप्त होती है। जगच्छ्रेणी के वर्ग को जगत्प्रतर और जगच्छ्रेणी के घन को लोक कहते हैं। जगच्छ्रेणी (६५५३६^4 × ६५५३६^2) के सातवें भाग को राजू कहते हैं। यथा—$\frac{\text{जगच्छ्रेणी}}{७}$ = राजू।

लोकाकाश के लक्षण

आदि-णिहणेण हीणो, पयडि-सरूवेण एस संजादो।
जीवाजीव-समिद्धो, [1]सव्वण्हावलोइओ लोओ ॥१३३॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् से अवलोकित यह लोक आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनाद्यनन्त है, स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है और जीव एवं अजीव द्रव्यों से व्याप्त है ॥१३३॥

धम्माधम्म-णिबद्धा, [2]गदिरगदी जीव-पोग्गलाणं च।
जेत्तिय-मेत्ताआसे[3], लोयाआसो स णादव्वो ॥१३४॥

अर्थ - जितने आकाश में धर्म और अधर्म द्रव्य के निमित्त से होने वाली जीव और पुद्गलों की गति एवं स्थिति हो, उसे लोकाकाश समझना चाहिए ॥१३४॥

---

[1] द. क. ज. ठ. सव्वणहावअववो, ब. सव्वणहावलोयवो। [2] द. ब. गदिरागदि। [3] द. ब. क. ज. मेत्ताआसो।

लोकाकाश एवं अलोकाकाश

लोयायास-ट्ठाणं, सयं-पहाणं स-दव्व-छक्कं हु ।
सव्वमलोयायासं, तं [1]सव्वासं हवे णियमा ।।१३५।।

अर्थ—छह द्रव्यों से सहित यह लोकाकाश का स्थान निश्चय ही स्वयं प्रधान है, इसकी सब दिशाओं में नियम से अलोकाकाश स्थित है ।।१३५।।

लोक के भेद

सयलो एस य लोओ, णिप्पण्णो सेढि-विंद-माणेणं ।
[2]तिवियप्पो णादव्वो, हेट्ठिम-मज्झिल्ल-उड्ढ-भेएण ।।१३६।।

अर्थ—श्रेणीवृन्द के मान से अर्थात् जगच्छ्रेणी के घनप्रमाण से निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का जानना चाहिए ।।१३६।।

तीन लोक की आकृति

हेट्ठिम लोयाआरो, वेत्तासण-सण्णिहो सहावेण ।
मज्झिम-लोयायारो, उब्भिय-मुरअद्ध-सारिच्छो ।।१३७।।

△ ▽

उवरिम-लोयाआरो, उब्भिय-मुरवेण होइ सरिसत्तो ।
संठाणो एदाणं, लोयाणं एण्हि साहेमि ।।१३८।।

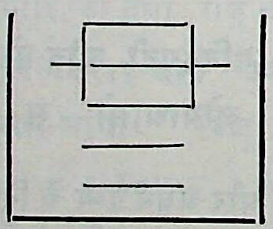

अर्थ—इनमें से अधोलोक की आकृति स्वभाव से वेत्रासन सदृश और मध्यलोक की आकृति खड़े किये हुए अर्धमृदंग के ऊर्ध्व भाग के सदृश है । ऊर्ध्वलोक की आकृति खड़े किये हुए मृदंग के सदृश है । अब इन तीनों लोकों का आकार कहते हैं ।।१३७-१३८।।

---

[1] ब. तं संवासं । [2] द. तिव्वियप्पो ।

विशेषार्थ—गाथा १३७-१३८ के अनुसार लोक की आकृति निम्नांकित है—

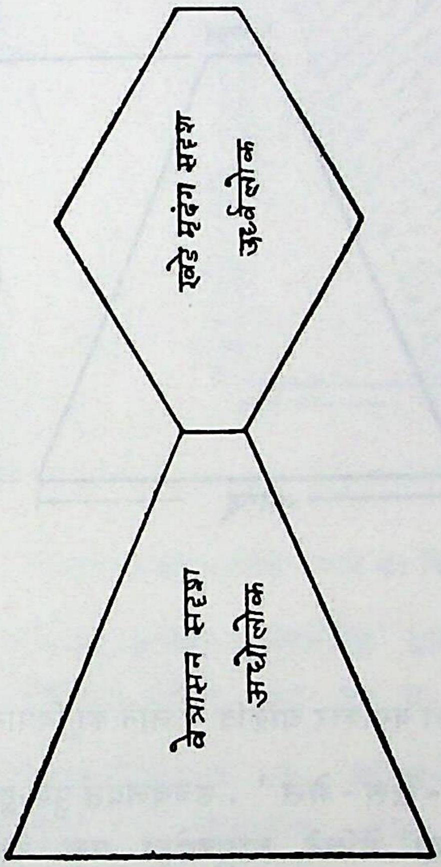

→ खड़े किये हुए अर्धमृदङ्ग के ऊर्ध्वभाग सदृश मध्यलोक।

अधोलोक का माप एवं आकार

तं मज्झे मुहमेक्कं, भूमि जहा होदि सत्त रज्जूवो ।
तह छिंदिदम्मि मज्झे, हेट्ठिम - लोयस्स आयारो ।।१३९।।

अर्थ—उस सम्पूर्ण लोक के बीच में से जिस प्रकार मुख एक राजू और भूमि सात राजू हो, इस प्रकार मध्य में छेदने पर अधोलोक का आकार होता है ।।१३९।।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण लोक में से अधोलोक को इस प्रकार अलग किया गया है कि जिसका मुख एक राजू और भूमि सात राजू है। यथा—

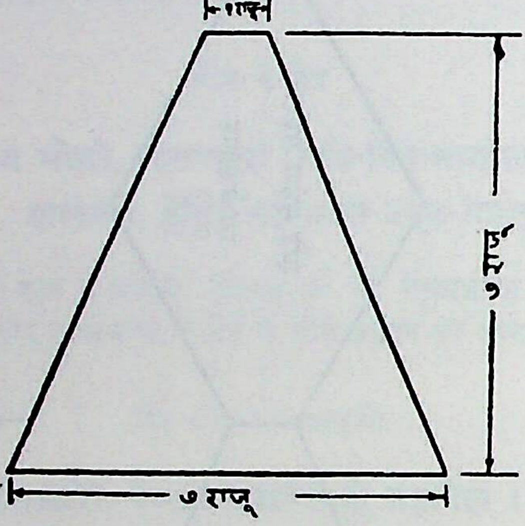

सम्पूर्ण लोक को वर्गाकार आकृति में लाने का विधान एवं आकृति

दोपक्ख - खेत्त - मेत्तं[1] , उच्चलयंतं पुण-ठ्ठवेदूणं ।
विवरीदेणं मेलिदे, वासुच्छेहा सत्त रज्जूओ ।।१४०।।

अर्थ—दोनों ओर फैले हुए क्षेत्र को उठाकर अलग रख दें, फिर विपरीत क्रम से मिलाने पर विस्तार और उत्सेध सात-सात राजू होता है ।।१४०।।

विशेषार्थ—लोक चौदह राजू ऊँचा है। इस ऊँचाई को ठीक बीच में से काट देने पर लोक सामान्यतः दो भाग हो जाते हैं, इन क्षेत्रों में से अधोलोक को अलग कर उसके दोनों भागों को और अलग किये हुए ऊर्ध्वलोक के चारों भागों को विपरीत क्रम से रखने पर लोक का उत्सेध और विस्तार तीनों सात-सात राजू प्राप्त होते हैं। यथा—

. द. क. ज. ठ. उच्चल्लयतं ।

लोकाकृति

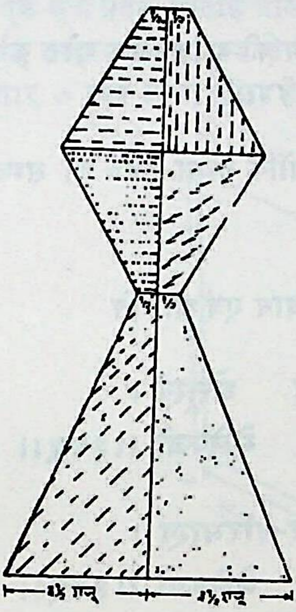

लोक की वर्गाकार आकृति

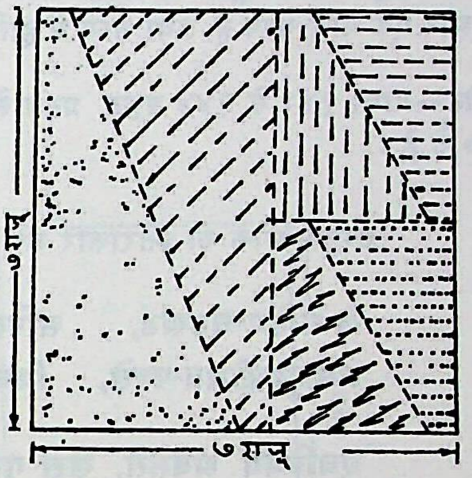

लोक की डेढ़ मृदंग सदृश आकृति बनाने का विधान

मज्झम्हि पंच रज्जू, कमसो हेट्ठोवरम्हि[1] इगि-रज्जू ।
सग रज्जू उच्छेहो, होदि जहा तह य छेत्तूणं ।।१४१।।

हेट्ठोवरिदं मेलिद-खेत्तायारं तु चरिम-लोयस्स ।
एदे पुव्विल्लस्स य, खेत्तोवरि ठावए पयदं ।।१४२।।

[2]उद्धिय-दिवड्ढ-मुरव-धजोवमाणो य तस्स आयारो ।
एक्कपदे [3]सग-बहलो, चोद्दस-रज्जूदवो तस्स ।।१४३।।

अर्थ—जिस प्रकार मध्य में पाँच राजू, नीचे और ऊपर क्रमशः एक राजू और ऊँचाई सात राजू हो, इस प्रकार खण्डित करने पर नीचे और ऊपर मिले हुए क्षेत्र का आकार अन्तिम लोक अर्थात् ऊर्ध्वलोक का आकार होता है, इसको पूर्वोक्त क्षेत्र अर्थात् अधोलोक के ऊपर रखने पर प्रकृत में खड़े किये हुए ध्वजयुक्त डेढ़मृदंग के सदृश उस सम्पूर्ण लोक का आकार होता है। इसको एकत्र करने पर उस लोक का बाहल्य सात राजू और ऊँचाई चौदह राजू होती है ।।१४१-१४३।।

---

१. द.क. वरिम्हि । २. द. उब्भियदिवड्ढमुरवद्ध । ३. द. ब. सव्वहलो ।

तस्स य एक्कम्हि दए, वासो पुव्वावरेण भूमि-मुहे ।
सत्तेक्क-पंच-एक्का, रज्जूवो मज्झ-हाणि-चयं ।।१४४।।

अर्थ—इस लोक की भूमि और मुख का व्यास पूर्व-पश्चिम की अपेक्षा एक ओर क्रमशः सात, एक, पाँच और एक राजू मात्र है, तथा मध्य में हानि-वृद्धि है ।।१४४।।

नोट—गाथा १४१ से १४४ प्रकृत प्रसंग से इतर हैं, क्योंकि गाथा १४० का सम्बन्ध गाथा १४५-१४७ से है ।

सम्पूर्ण लोक को प्रतराकार रूप करने का विधान एवं आकृति

खे-संठिय-चउखंडं, सरिसट्ठाणं [1]आइ घेत्तूणं ।
तमणुज्झोभय-पक्खे, विवरीय-कमेण मेलेज्जो ।।१४५।।

[2]एवज्जिय अवसेसे, खेत्ते गहिऊण पदर-परिमाणं ।
पुव्वं पिव कादूणं, बहलं बहलम्मि मेलेज्जो ।।१४६।।

एव-मवसेस-खेत्तं, जाव [3]समप्पेदि ताव घेत्तव्वं ।
एक्केक्क-पदर-माणं, एक्केक्क-पदेस-बहलेणं ।।१४७।।

अर्थ—आकाश में स्थित, सदृश आकार वाले चारों खण्डों को ग्रहण कर उन्हें विचारपूर्वक उभय पक्ष में विपरीत क्रम से मिलाना चाहिए । इसी प्रकार अवशेष क्षेत्रों को ग्रहण कर और पूर्व के सदृश ही प्रतर-प्रमाण करके बाहल्य को बाहल्य में मिला दें । जब तक इस क्रम से अवशिष्ट क्षेत्र समाप्त नहीं हो जाता, तब तक एक-एक प्रदेश की मोटाई से एक-एक प्रतर-प्रमाण को ग्रहण करना चाहिए ।।१४५-१४७।।

विशेषार्थ—१४ इंच ऊँची, ७ इंच मोटी और पूर्व-पश्चिम सात, एक, पाँच और एक इंच चौड़ाई वाली मिट्टी की एक लोकाकृति सामने रखकर उसमें से १४ इंच लम्बी, ७, १, ५, १ इंच चौड़ी और एक इंच मोटी एक परत छीलकर ऊँचाई की ओर से उसके दो-भाग कर गाथा १४० में दर्शायी हुई ७ राजू उत्सेध और ७ राजू विस्तार वाली प्रतराकृति के रूप में बनाकर स्थापित करें। पुनः उस लोकाकृति में से एक इंच मोटी, १४ इंच ऊँची और पूर्व विस्तार वाली दूसरी परत छीलकर उसे भी प्रतर रूप करके पूर्व-प्रतर के ऊपर स्थापित करें, पुनः इसी प्रमाण वाली तीसरी परत छीलकर उसे भी प्रतर रूप करके पूर्व स्थापित प्रतराकृति के ऊपर ही स्थापित करें । इस प्रकार

---

[1] ब. अइ । [2] [एवं चिय] । [3] द. ब. समं पेरि ।

करते-करते जब सातों ही परतें प्रतराकार में एक दूसरे पर स्थापित हो जायेंगी तब ७ इंच उत्सेध, ७ इंच विस्तार और सात इंच बाहल्य वाला एक क्षेत्र प्राप्त होगा। यह मात्र दृष्टान्त है किन्तु इसका दार्ष्टान्त भी प्रायः ऐसा ही है। यथा—१४ राजू ऊँचे, ७, १, ५, १ राजू चौड़े और ७ राजू मोटे लोक को एक-एक प्रदेश मोटाई वाली एक-एक परत छीलकर तथा उसे प्रतराकार रूप से स्थापित करने अर्थात् बाहल्य को बाहल्य से मिला देने पर लोकरूप क्षेत्र की मोटाई ७ राजू, उत्सेध ७ राजू और विस्तार ७ राज प्राप्त होता है। यथा—

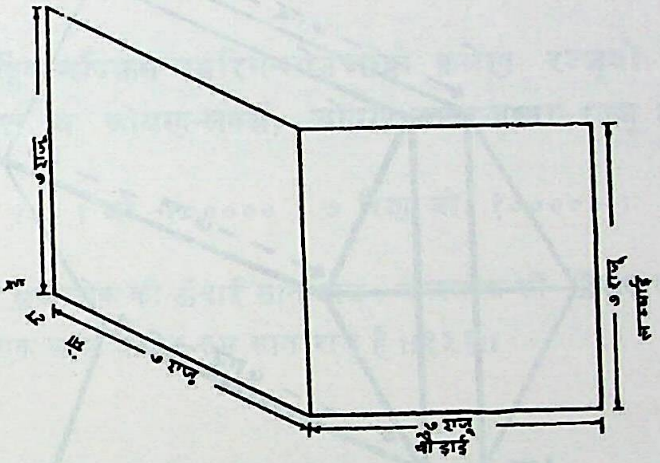

नोट—मूल गाथा १३८ के पश्चात् दी हुई संदृष्टि का प्रयोजन विशेषार्थ से स्पष्ट हो जाता है।

त्रिलोक की ऊँचाई, चौड़ाई और मोटाई के वर्णन की प्रतिज्ञा

एदेण पयारेणं, णिप्पण्णत्ति-लोय-खेत्त-दीहत्तं।
वास - उदयं भणामो, णिस्संदं दिट्ठि - वादादो ॥१४८॥

अर्थ—इस प्रकार से सिद्ध हुए त्रिलोक रूप क्षेत्र की मोटाई, चौड़ाई और ऊँचाई का हम (यतिवृषभ) वैसा ही वर्णन कर रहे हैं जैसा दृष्टिवाद अंग से निकला है ॥१४८॥

दक्षिण-उत्तर सहित लोक का प्रमाण एवं आकृति

सेढि-पमाणायामं, भागेसुं दक्खिणुत्तरेसु पुढं।
पुव्वावरेसु वासं, भूमि-मुहे सत्त एक्क-पंचेक्का ॥१४९॥

—। —। ७१। ७५। ७१।

अर्थ—दक्षिण और उत्तर भाग में लोक का आयाम जगच्छ्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है, पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि तथा मुख का व्यास, क्रमशः सात, एक, पाँच और एक राजू है।

तात्पर्य यह है कि लोक की मोटाई सर्वत्र सात राजू है और विस्तार क्रमशः अधोलोक के नीचे सात, मध्यलोक में एक, ब्रह्मस्वर्ग पर पाँच और लोक के अन्त में एक राजू है ।।१४९।।

विशेषार्थ—लोक की उत्तर-दक्षिण मोटाई, पूर्व-पश्चिम चौड़ाई और गाथा १५० के प्रथम चरण में कही जाने वाली ऊँचाई निम्नप्रकार है—

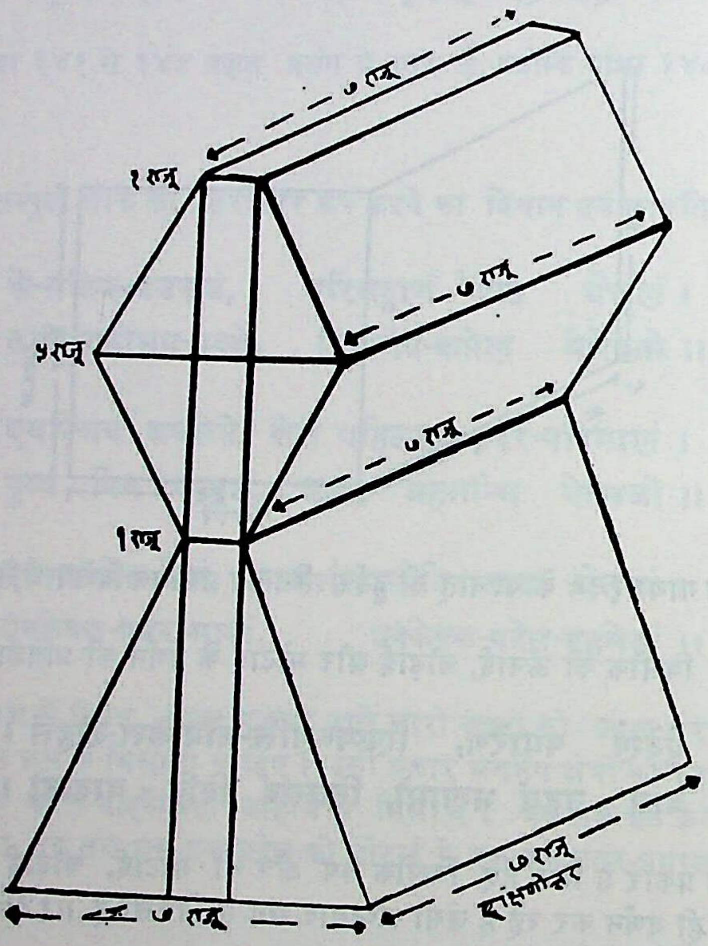

अधोलोक एवं ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई में सदृशता

चोद्दस-रज्जु-पमाणो, उच्छेहो होदि सयल-लोयस्स ।
अद्ध-मुरज्जस्सुदवो, [1]समग्ग-मुरवोदय - सरिच्छो ।।१५०।।

१४ । — । — ।

---

[1] ब. सामग्ग ।

अर्थ---सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू प्रमाण होती है। अर्धमृदंग की ऊँचाई, सम्पूर्ण मृदंग की ऊँचाई के सदृश है अर्थात् अर्धमृदंग सदृश अधोलोक जैसे सात राजू ऊँचा है, उसी प्रकार पूर्ण मृदंग के सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात राजू ऊँचा है ॥१५०॥

तीनों लोकों की पृथक्-पृथक् ऊँचाई

हेट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-लोउच्छेहो कमेण रज्जूवो ।
सत्त य जोयण-लक्खं, जोयण-लक्खूण-सग-रज्जू ॥१५१॥

। ७ । जो. १००००० । ७ रिण जो. १००००० ।

अर्थ—क्रमशः अधोलोक की ऊँचाई सात राजू, मध्यलोक की ऊँचाई एक लाख योजन और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है ॥१५१॥

अधोलोक में स्थित पृथिवियों के नाम एवं उनका अवस्थान

इह रयण-सक्करा-वालु-पंक-धूम-तम-महातमादि-पहा ।
मुरवद्धम्मि महीओ, सत्तच्चिय रज्जु-अंतरिदा[1] ॥१५२॥

अर्थ—इन तीनों लोकों में से अर्धमृदंगाकार अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा, ये सात पृथिवियाँ एक-एक राजू के अन्तराल से हैं ॥१५२॥

विशेषार्थ—ऊपर प्रत्येक पृथिवी के मध्य का अन्तर जो एक राजू कहा है, वह सामान्य कथन है। विशेष रूप से विचार करने पर पहली और दूसरी पृथिवी की मोटाई एक राजू में शामिल है अतएव इन दोनों पृथिवियों का अन्तर दो लाख बारह हजार योजन कम एक राजू होगा। इसी प्रकार आगे भी पृथिवियों की मोटाई प्रत्येक राजू में शामिल है, अतएव मोटाई का जहाँ जितना प्रमाण है उतना-उतना कम, एक-एक राजू अन्तर वहाँ का जानना चाहिए।

---

[1] क. ज. ठ. अंतरिया।

रत्नप्रभादि पृथिवियों के गोत्र नाम

घम्मा-वंसा-मेघा-अंजणरिट्ठाण[1] ओज्झ मघवीओ ।
माघविया इय ताणं पुढवीणं [2]गोत्त-णामाणि ॥१५३॥

अर्थ--घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी, ये इन उपर्युक्त पृथिवियों के गोत्र नाम हैं ॥१५३॥

मध्यलोक के अधोभाग से लोक के अन्त-पर्यन्त राजू-विभाग

मज्झिम-जगस्स हेट्ठिम-भागादो णिग्गदो पढम-रज्जू ।
[3]सक्कर-पह-पुढवीए, हेट्ठिम-भागम्मि णिट्ठादि ॥१५४॥

७ १ ।

अर्थ—मध्यलोक के अधोभाग से प्रारम्भ होता हुआ पहला राजू शर्कराप्रभा पृथिवी के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५४॥

॥ राजू १ ॥

तत्तो [4]दोइद-रज्जू, वालुव-पह-हेट्ठम्मि समप्पेदि ।
तह य तइज्जा रज्जू, [5]पंक-पहे हेट्ठभायम्मि ॥१५५॥

। ७ २ । ७ ३ ।

अर्थ—इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर बालुकाप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है, तथा तीसरा राजू पङ्कप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५५॥

राजू २ । राजू ३ ।

धूम-पहाए हेट्ठिम-भागम्मि, समप्पदे तुरिय-रज्जू ।
तह पंचमिआ रज्जू, तमप्पहा - हेट्ठिम-पएसे ॥१५६॥

। ७ ४ । ७ ५ ।

अर्थ—इसके अनन्तर चौथा राजू धूमप्रभा के अधोभाग में और पाँचवाँ राजू तमःप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५६॥

---

१. क. रिट्ठाण उज्झ, ज. ठ. द. रिट्ठा ओज्झ । २. ब. गात्त । ३. द. ब. क. ठ. सक्करसेह । ज. सकरसेढ । ४. ज. ठ. दुइज्ज, द. क. दोइज्ज । ५. ज. द. क. ठ. पंक पह हेट्ठस्स भागम्मि ।

महतम-पहाग्र हेट्ठिम-ग्रंते [1]छट्ठी हि समप्पदे रज्जू ।
तत्तो सत्तम - रज्जू , लोयस्स तलम्मि णिट्ठादि ।।१५७।।

। ७ ६ । ७ ७ ।

ग्रर्थ—पूर्वोक्त क्रम से छठा राजू महातमःप्रभा के नीचे ग्रन्त में समाप्त होता है ग्रौर इसके ग्रागे सातवाँ राजू लोक के तलभाग में समाप्त होता है ।।१५७।।

मध्यलोक के ऊपरी भाग से ग्रनुत्तर विमान पर्यन्त राजू विभाग

मज्झिम-जगस्स उवरिम-भागादु दिवड्ढ-रज्जु-परिमाणं ।
इगि - जोयण - लक्खूणं[2] , सोहम्म-विमाण-धय-दंडे ।।१५८।।

१४ ३ । रि यो १००००० [3]

ग्रर्थ—मध्य लोक के ऊपरी भाग से सौधर्म-विमान के ध्वज-दण्ड तक एक लाख योजन कम डेढ़ राजू प्रमाण ऊँचाई है ।।१५८।।

विशेषार्थ—मध्यलोक के ऊपरी भाग (चित्रा पृथिवी) से सौधर्म विमान के ध्वज-दण्ड पर्यन्त सुमेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन कम डेढ़ राजू प्रमाण है ।

वच्चदि दिवड्ढ-रज्जू , माहिंद-सणक्कुमार-उवरिम्मि ।
णिट्ठादि - ग्रद्ध[4] - रज्जू , बम्हुत्तर-उड्ढ-भागम्मि ।।१५९।।

। १४ ३ । १४ ।

ग्रर्थ—इसके ग्रागे डेढ़राजू , माहेन्द्र ग्रौर सनत्कुमार स्वर्ग के ऊपरी भाग में समाप्त होता है । ग्रनन्तर ग्राधा राजू ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है ।।१५९।।

रा $\frac{३}{२}$ । $\frac{१}{२}$

ग्रवसादि-ग्रद्ध-रज्जू , काविट्ठस्सोवरिट्ठ[5] - भागम्मि ।
स च्चिय महसुक्कोवरि, सहसारोवरि य सच्चेव ।।१६०।।

। १४ । १४ । १४ ।

---

[1] ब. क. छट्ठीहिं । [2] द. लक्खोणं, क. लक्खाणं । [3] द. ब. १४ ३ । १४ ३ । [4] ब. ग्रट्ठरज्जूवमुत्तरं । [5] क. सोवरिमद्ध ।

अर्थ—इसके पश्चात् आधा राजू कापिष्ट के ऊपरी भाग में, आधा राजू महाशुक्र के ऊपरी भाग में और आधा राजू सहस्रार के ऊपरी भाग में समाप्त होता है ॥१६०॥

। राजू $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ । $\frac{१}{२}$ ।

तत्तो य अद्ध-रज्जू, आणद-कप्पस्स[1] उवरिम-पएसे ।
स य आरणस्स कप्पस्स उवरिम-भागम्मि [2]गेविज्जं ॥१६१॥

। १४ । १४ ।

अर्थ—इसके अनन्तर अर्ध ($\frac{१}{२}$) राजू आनत स्वर्ग के ऊपरी भाग में और अर्ध ($\frac{१}{२}$) राजू आरण स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है ॥१६१॥

[3]गेवेज्ज णवाणुद्दिस, पहुडीओ होंति एक्क-रज्जूवो ।
एवं उवरिम - लोए, रज्जु - विभागो समुद्दिट्ठो ॥१६२॥

७ १

अर्थ—तत्पश्चात् एक राजू की ऊँचाई में नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक में राजू का विभाग कहा गया है ॥१६२॥

कल्प एवं कल्पातीत भूमियों का अन्त

णिय-णिय-चरिमिंदय-धय-दंडग्गं कप्पभूमि-अवसाणं ।
कप्पादीद - महीए, विच्छेदो लोय - किंचूणो[4] ॥१६३॥

अर्थ—अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक ध्वज-दण्ड का अग्रभाग उन-उन कल्पों (स्वर्गों) का अन्त है और कल्पातीत भूमि का जो अन्त है वह लोक के अन्त से कुछ कम है ॥१६३॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक सुमेरु पर्वत की चोटी से एक बाल मात्र के अन्तर से प्रारम्भ होकर लोकशिखर पर्यन्त १०००४० योजन कम ७ राजू प्रमाण है, जिसमें सर्वप्रथम ८ युगल (१६ स्वर्ग) हैं, प्रत्येक युगल का अन्त अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक के ध्वजदण्ड के अग्रभाग पर हो जाता है। इसके ऊपर अनुक्रम से कल्पातीत विमान एवं सिद्धशिला आदि हैं। सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से १२ योजन ऊपर आठ योजन बाहल्य वाली ईषत्प्राग्भार पृथ्वी (सिद्धशिला) है। इस पृथ्वी के

---

[1] द. ब. क. कप्प सो । [2] क. ब. गेवज्जं । [3] द. क. ब. ज. ठ. तत्तो उवरिम-भागे णवाणुत्तरओ ।
[4] द. क. ज. ठ. विच्छेदो ।

ऊपर क्रमश: ४००० धनुष, २००० धनुष और १५७५ धनुष मोटे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय हैं। इस प्रकार लोक-शिखर से (१२ यो० + ८ यो० + ७५७५ धनुष अर्थात्) ४२५ धनुष कम २१ योजन नीचे कल्पातीत भूमि का अन्त है। इस गाथा के 'लोय-किंचूणो' पद का यही भाव है।

अधोलोक के मुख और भूमि का विस्तार एवं ऊँचाई

सेढीए सत्तंसो, हेट्ठिम-लोयस्स होदि मुहवासो ।
भूमी-वासो सेढी-मेत्ता[1] - अवसाण - उच्छेहो ।।१६४।।

७ । — । — ।

अर्थ—अधोलोक के मुख का विस्तार जगच्छ्रेणी का सातवाँ भाग, भूमि का विस्तार जगच्छ्रेणी प्रमाण और अधोलोक के अन्त तक ऊँचाई भी जगच्छ्रेणी प्रमाण ही है ।।१६४।।

विशेषार्थ—अधोलोक का मुखविस्तार एक राजू, भूमिविस्तार सात राजू और ऊँचाई सात राजू प्रमाण है।

अधोलाक का क्षेत्रफल निकालने की विधि

मुह-भू-समासमद्धिअ[2], गुणिदं पुण तह य वेदेण ।
घण-घणिदं णादव्वं, वेत्तासण-सण्णिए खेत्ते ।।१६५।।

अर्थ—मुख और भूमि के योग को आधा करके पुन: ऊँचाई से गुणा करने पर वेत्रासन सदृश लोक (अधोलोक) का क्षेत्रफल जानना चाहिए ।।१६५।।

विशेषार्थ—अधोलोक का मुख एक राजू और भूमि सात राजू है, इन दोनों के योग को दो से भाजित कर ७ राजू ऊँचाई से गुणित करने पर अधोलोक का क्षेत्रफल प्राप्त होता है। यथा—१ + ७ = ८, ८ ÷ २ = ४, ४ × ७ राजू ऊँचाई = २८ वर्ग राजू अधोलोक का क्षेत्रफल प्राप्त होता है।

पूर्ण अधोलोक एवं उसके अर्धभाग के घनफल का प्रमाण

हेट्ठिम-लोए लोओ, चउ-गुणिदो सग-हिदो य विंदफलं ।
तस्सद्ध[3] सयल-जगो, दो-गुणिदो [4]सत्त-पविहत्तो ।।१६६।।

$$\left|\frac{\equiv}{७}\;४\;\middle|\;\frac{\equiv}{७}\;२\right|$$

---

१. द. मेत्ता अ उच्छेहो । २. द. ब. समासमद्दिय । ३. ब. तस्सद्धे सयल-जुदागो । ४. द. ब. क. ज. ठ. सत्तपरिमाणो ।

अर्थ—लोक को चार से गुणित कर उसमें सात का भाग देने पर अधोलोक के घनफल का प्रमाण निकलता है और सम्पूर्ण लोक को दो से गुणित कर प्राप्त गुणनफल में सात का भाग देने पर अधोलोक सम्बन्धी आधे क्षेत्र का घनफल होता है ।।१६६।।

विशेषार्थ—लोक का प्रमाण ३४३ घनराजू है, अतः ३४३ × ४ = १३७२, १३७२ ÷ ७ = १९६ घनराजू अधोलोक का घनफल है।

३४३ × २ = ६८६, ६८६ ÷ ७ = ९८ घनराजू अर्धअधोलोक का घनफल है।

अधोलोक में त्रसनाली का घनफल

छेत्तूणं तस-णालिं, अण्णत्थं ठाविदूण विदफलं ।
आणेज्ज तप्पमाणं, उणवण्णेहिं विहत्त-लोअ-समं ।।१६७।।

$$\left|\frac{\equiv}{४९}\right|$$

अर्थ—अधोलोक में से त्रसनाली को छेदकर और उसे अन्यत्र रखकर उसका घनफल निकालना चाहिए। इस घनफल का प्रमाण, लोक के प्रमाण में उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना होता है ।।१६७।।

विशेषार्थ—अधोलोक में त्रसनाली एक राजू चौड़ी, एक राजू मोटी और सात राजू ऊँची है, अतः १ × १ × ७ = ७ घनराजू घनफल प्राप्त हुआ जो ३४३ ÷ ४९ = ७ घनराजू के बराबर है।

त्रसनाली से रहित और उससे सहित अधोलोक का घनफल

सगवीस-गुणिद-लोओ, उणवण्ण-हिदो अ सेस-खिदि-संखा ।
तस-खित्ते सम्मिलिदे, चउ-गुणिदो सग-हिदो लोओ ।।१६८।।

$$\left|\frac{\equiv}{४९}\;२७\right|\frac{\equiv}{७}\;४\right|$$[1]

अर्थ—लोक को सत्ताईस से गुणा कर उसमें उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनाली को छोड़ शेष अधोलोक का घनफल समझना चाहिए और लोकप्रमाण को चार से गुणा कर

---

[1] द. $\frac{\equiv}{४९}\left|\frac{\equiv}{२७}\;४\right|$

उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनाली से युक्त पूर्ण अधोलोक का घनफल समझना चाहिए ।।१६८।।

विशेषार्थ—३४३ × २७ ÷ ४९ = १८९ घनफल, त्रसनाली को छोडकर शेष अधोलोक का कहा गया है और सम्पूर्ण अधोलोक का घनफल ३४३ × ४ ÷ ७ = १९६ घनराजू कहा गया है।

ऊर्ध्वलोक के आकार को अधोलोक स्वरूप करने की प्रक्रिया एवं आकृति

मुरजायारं उड्ढं, खेत्तं छेत्तूण मेलिदं सयलं ।
पुव्वावरेण जायदि, वेत्तासण-सरिस-संठाणं[1] ।।१६९।।

अर्थ—मृदंग के आकार वाला सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक है। उसे छेदकर एवं मिलाकर पूर्व-पश्चिम से वेत्रासन के सदृश अधोलोक का आकार बन जाता है ।।१६९।।

विशेषार्थ—अधोलोक का स्वाभाविक आकार वेत्रासन सदृश अर्थात् नीचे चौड़ा और ऊपर सँकरा है, किन्तु इस गाथा में मृदंगाकार ऊर्ध्वलोक को छेदकर इस क्रम से मिलाना चाहिए कि वह भी अधोलोक के सदृश वेत्रासनाकार बन जावे। यथा—

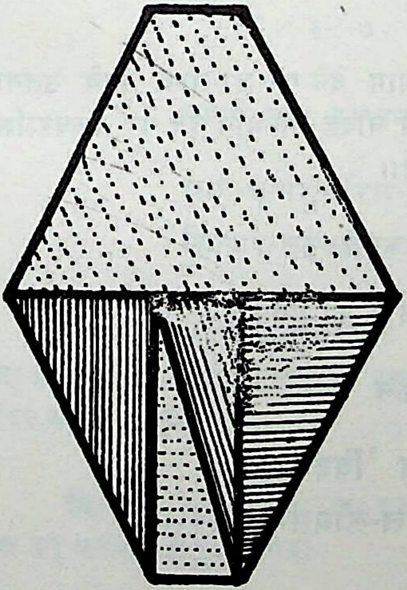

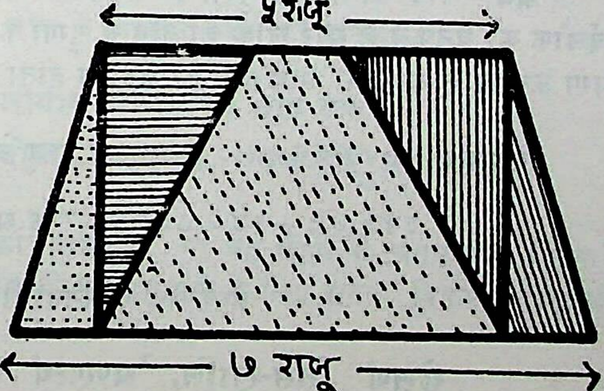

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. संठाण।

ऊर्ध्वलोक के व्यास एवं ऊँचाई का प्रमाण

सेढीए सत्त-भागो, उवरिम-लोयस्स होदि मुह-वासो ।
पण-गुणिदो तब्भूमी, उस्सेहो तस्स इगि-सेढी ।।१७०।।

। ७ । ७ ५ ।

अर्थ—ऊर्ध्वलोक के मुख का व्यास जगच्छ्रेणी का सातवाँ भाग है और इससे पाँच गुणा (५ राजू) उसकी भूमि का व्यास तथा ऊँचाई एक जगच्छ्रेणी प्रमाण है ।।१७०।।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक के समीप एक राजू, मध्य में ५ राजू और ऊपर एक राजू चौड़ा एवम् ७ राजू ऊँचा है।

सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक और उसके अर्धभाग का घनफल

तिय-गुणिदो सत्त-हिदो, उवरिम-लोयस्स घणफलं लोओ ।
तस्सद्धे खेत्तफलं, तिगुणो चोद्दस-हिदो लोओ ।।१७१।।

| $\frac{\equiv}{\text{७}}$ ३ | $\frac{\equiv}{\text{१४}}$ |

अर्थ—लोक को तीन से गुणा करके उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना ऊर्ध्वलोक का घनफल है और लोक को तीन से गुणा करके उसमें चौदह का भाग देने पर लब्धराशि प्रमाण ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी आधे क्षेत्र का घनफल होता है ।।१७१।।

विशेषार्थ—३४३ × ३ ÷ ७ १४७ घन राजू ऊर्ध्वलोक का घनफल ।

३४३ × ३ ÷ १४ = ७३$\frac{\text{१}}{\text{२}}$ घन राजू अर्ध ऊर्ध्वलोक का घनफल ।

ऊर्ध्वलोक में त्रसनाली का घनफल

छेत्तूणं [1]तस-णालिं, [2]अण्णत्थं ठाविदूण [3]विदफलं ।
आणेज्ज तं पमाणं, उणवण्णेहिं विभत्त-लोयसमं ।।१७२।।

| $\frac{\equiv}{\text{४९}}$ |

---

[1] द. तस्सणालिं । [2] द. ब. अण्णद्धं, ठ. अण्णट्ठं । [3] द. क. ज. ठ. विंदुफलं ।

अर्थ—ऊर्ध्वलोक से त्रसनाली को छेद कर और उसे अलग रख कर उसका घनफल निकालें। उस घनफल का प्रमाण ४९ से विभक्त लोक के बराबर होगा ।।१७२।।

३४३ ÷ ४९ = ७ घनराजू त्रसनाली का घनफल ।

त्रस नाली रहित एवम् सहित ऊर्ध्वलोक का घनफल

विसदि-गुणिदो लोओ, उणवण्ण-हिदो य सेस-खिदि-संखा ।
तस - खेत्ते सम्मिलिदे, लोओ ति - गुणो अ सत्त - हिदो ।।१७३।।

$$\left|\ \frac{\equiv}{४९}\ २०\ \middle|\ \frac{\equiv}{७}\ ३\ \right|$$

अर्थ—लोक को बीस से गुणा कर उसमें ४९ का भाग देने पर त्रसनाली को छोड़ बाकी ऊर्ध्वलोक का घनफल तथा लोक को तिगुणा कर उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनालोयुक्त पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल है ।।१७३।।

विशेषार्थ—३४३ × २० ÷ ४९ = १४० घनराजू त्रसनाली रहित ऊर्ध्वलोक का घनफल ।

३४३ × ३ ÷ ७ = १४७ घनराजू त्रसनाली युक्त ऊर्ध्वलोक का घनफल ।

सम्पूर्ण लोक का घनफल एवं लोक के विस्तार-कथन की प्रतिज्ञा

घण-फलमुवरिम-हेट्ठिम-लोयाणं मेलिदम्मि सेढि-घणं ।
[1]वित्थर-रुइ-बोहत्थं[2], वोच्छं णाणा - वियप्पेहिं ।।१७४।।

अर्थ—ऊर्ध्व एवं अधोलोक के घनफल को मिला देने पर वह श्रेणी के घनप्रमाण (लोक) होता है। अब विस्तार में अनुराग रखने वाले शिष्यों को समझाने के लिए अनेक विकल्पों द्वारा भी इसका कथन करता हूँ ।।१७४।।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ + १९६ अधोलोक का = ३४३ घनराजू सम्पूर्ण लोक का घनफल है। अथवा

७ × ७ × ७ = ३४३ घनराजू, श्रेणी का घनफल है।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. वित्थररुहि । [2] क. ज. ठ. बोहित्थ ।

अधोलोक के मुख एवम् भूमि का विस्तार तथा ऊँचाई

सेढीए सत्त-भागो, हेट्ठिम-लोयस्स होदि मुह-वासो।
भू-वित्थारो सेढी, सेढि त्ति य [1]तस्स उच्छेहो ॥१७५॥

। ७ ।—।—।

अर्थ—अधोलोक का मुखव्यास श्रेणी के सातवें भाग अर्थात् एक राजू और भूमिविस्तार जगच्छ्रेणी प्रमाण (७ राजू) है, तथा उसकी ऊँचाई भी जगच्छ्रेणी प्रमाण ही है ॥१७५॥

विशेषार्थ—अधोलोक का मुख-व्यास एक राजू, भूमि सात राजू और ऊँचाई सात राजू प्रमाण है।

प्रत्येक पृथिवी के चय निकालने का विधान

भूमीअ मुहं सोहिय, उच्छेह-हिदं मुहाउ भूमीदो।
सव्वेसुं खेत्तेसुं, पत्तेक्कं वड्ढि-हाणीओ ॥१७६॥

६
७

अर्थ—भूमि के प्रमाण में से मुख का प्रमाण घटाकर शेष में ऊँचाई के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना सब भूमियों में से प्रत्येक पृथिवी क्षेत्र की, मुख की अपेक्षा वृद्धि और भूमि की अपेक्षा हानि का प्रमाण निकलता है ॥१७६॥

विशेषार्थ—आदिप्रमाण का नाम भूमि, अन्तप्रमाण का नाम मुख तथा क्रम से घटने का नाम हानिचय और क्रम से वृद्धि का नाम वृद्धिचय है।

मुख और भूमि में जिसका प्रमाण अधिक हो उसमें से हीन प्रमाण को घटाकर ऊँचाई का भाग देने से भूमि और मुख की हानिवृद्धि का चय प्राप्त होता है। यथा—भूमि ७—१, मुख = ६ ÷ ७ ऊँचाई = $\frac{६}{७}$ वृद्धि और हानि के चय का प्रमाण हुआ।

प्रत्येक पृथिवी के व्यास का प्रमाण निकालने का विधान

तक्खय-वड्ढि-पमाणं, णिय-णिय-उदया-हदं जइच्छाए।
हीणब्भहिए संते[2], वासाणि हवंति भू-मुहाहिंतो ॥१७७॥

४९ ६ ।[3]

---

१. द. क. ज. ठ. सत्त। २. द. ब. सत्तो। ३. द. ब. ४० ६ ।

अर्थ—विवक्षित स्थान में अपनी-अपनी ऊँचाई से उस वृद्धि और क्षय के प्रमाण [$\frac{६}{७}$] को गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो, उसको भूमि के प्रमाण में से घटाने पर अथवा मुख के प्रमाण में जोड़ देने पर व्यास का प्रमाण निकलता है ।।१७७।।

विशेषार्थ—कल्पना कीजिये कि यदि हमें भूमि की अपेक्षा चतुर्थ स्थान के व्यास का प्रमाण निकालना है तो हानि का प्रमाण जो छह बटे सात [$\frac{६}{७}$] है, उसे उक्त स्थान की ऊँचाई [३ रा०] से गुणा कर प्राप्त हुए गुणनफल को भूमि के प्रमाण में से घटा देना चाहिए। इस विधि से चतुर्थ स्थान का व्यास निकल आयेगा। इसी प्रकार मुख की अपेक्षा चतुर्थ स्थान के व्यास को निकालने के लिए वृद्धि के प्रमाण [$\frac{६}{७}$] को उक्त स्थान की ऊँचाई (४ राजू) से गुणा करके प्राप्त हुए गुणनफल को मुख में जोड़ देने पर विवक्षित स्थान के व्यास का प्रमाण निकल आयेगा ।

उदाहरण—$\frac{६}{७} \times ३ = \frac{१८}{७}$; भूमि $\frac{४९}{७} - \frac{१८}{७} = \frac{३१}{७}$ भूमि की अपेक्षा चतुर्थ स्थान का व्यास ।

$\frac{६}{७} \times ४ = \frac{२४}{७}$; $\frac{२४}{७}$ + मुख $\frac{७}{७} = \frac{३१}{७}$ मुख की अपेक्षा चतुर्थ स्थान का व्यास ।

अधोलोकगत सात क्षेत्रों का घनफल निकालने हेतु गुणकार एवं आकृति

[1]उणवण्ण-भजिद-सेढी, अट्ठसु ठाणेसु[2] ठाविदूण कमे ।
[3]वासट्ठं [4]गुणआरा, सत्तादि-छक्क-वड्ढि-गदा ।।१७८।।

$\frac{-}{४९}$ ७ । $\frac{-}{४९}$ १३ । $\frac{-}{४९}$ १९ । $\frac{-}{४९}$ २५ । $\frac{-}{४९}$ ३१ । $\frac{-}{४९}$ ३७ । $\frac{-}{४९}$ ४३ । $\frac{-}{४९}$ ४९ ।

सत्त-घण-हरिद-लोयं, सत्तेसु ठाणेसु ठाविदूण कमे ।
विंदफले गुणयारा, दस-पभवा छक्क-वड्ढि-गदा ।।१७९।।

$\frac{\equiv}{३४३}$ १०	$\frac{\equiv}{३४३}$ १६	$\frac{\equiv}{३४३}$ २२	$\frac{\equiv}{३४३}$ २८	$\frac{\equiv}{३४३}$ ३४	$\frac{\equiv}{३४३}$ ४०	$\frac{\equiv}{३४३}$ ४६

अर्थ—श्रेणी में उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे क्रमशः आठ जगह रखकर व्यास के निमित्त गुणा करने के लिए आदि में गुणकार सात हैं। पुनः इसके आगे क्रमशः छह-छह गुणकार की वृद्धि होती गई है ।।१७८।।

श्रेणीप्रमाण राजू ७; यहाँ ऊपर से नीचे तक प्राप्त पृथिवियों के व्यास क्रमशः $\frac{७}{४९} \times ७$; $\frac{७}{४९} \times १३$; $\frac{७}{४९} \times १९$; $\frac{७}{४९} \times २५$; $\frac{७}{४९} \times ३१$; $\frac{७}{४९} \times ३७$; $\frac{७}{४९} \times ४३$; $\frac{७}{४९} \times ४९$ ।।१७८।।

---

१. ब. उणवणभज्जिद । २. द. ज. क. ठ. ठाणेण । ३. द. वासद्धं, म. वासत्तं । ४. ब. वासद्धं गुणआए ।

अर्थ - सात के घन अर्थात् तीन सौ तयालीस से भाजित लोक को क्रमशः सात स्थानों पर रखकर अधोलोक के सात क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र का घनफल निकालने के लिए आदि में गुणकार दस और फिर इसके आगे क्रमशः छह-छह की वृद्धि होती गयी है ॥१७९॥

लोक का प्रमाण ३४३; $३४३ \div (७)^३ = १$; तथा उपर्युक्त सात पृथिवियों के घनफल क्रमशः १×१०; १×१६; १×२२; १×२८; १×३४; १×४० और १×४६ घन राजू प्राप्त होंगे ॥१७९॥

विशेषार्थ—(दोनों गाथाओं का) अधोलोक में सात पृथ्वियाँ हैं और एक भूमिक्षेत्र लोक की अन्तिम सीमा का है, इस प्रकार आठों स्थानों का व्यास प्राप्त करने के लिए श्रेणी (७) में ४९ का भाग देकर अर्थात् $\frac{७}{४९}$ को क्रमशः ७, (७ + ६) = १३, (१३ + ६) = १९, (१९ + ६) = २५, (२५ + ६) = ३१, (३१ + ६) = ३७, (३७ + ६) = ४३ और (४३ + ६) = ४९ से गुणित करना चाहिए।

उपर्युक्त आठ व्यासों के मध्य में ७ क्षेत्र प्राप्त होते हैं। इन क्षेत्रों का घनफल निकालने के लिए ३४३ से भाजित लोक अर्थात् $(\frac{३४३}{३४३}) = १$ को सात स्थानों पर स्थापित कर क्रमशः १०, १६, २२, २८, ३४, ४० और ४६ से गुणा करना चाहिए, यथा—

पृथ्वियों के घनफल :

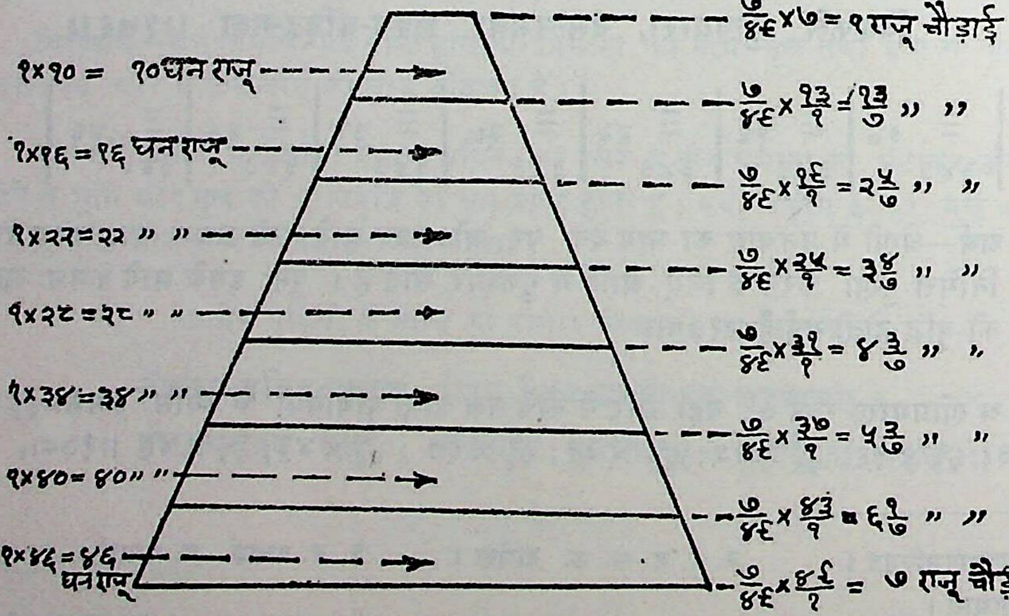
$\frac{७}{४९} \times ७ = १$ राजू चौड़ाई
१×१० = १० घन राजू
$\frac{७}{४९} \times \frac{१३}{१} = \frac{१३}{७}$ " "
१×१६ = १६ घन राजू
$\frac{७}{४९} \times \frac{१९}{१} = २\frac{५}{७}$ " "
१×२२ = २२ " "
$\frac{७}{४९} \times \frac{२५}{१} = ३\frac{४}{७}$ " "
१×२८ = २८ " "
$\frac{७}{४९} \times \frac{३१}{१} = ४\frac{३}{७}$ " "
१×३४ = ३४ " "
$\frac{७}{४९} \times \frac{३७}{१} = ५\frac{२}{७}$ " "
१×४० = ४० " "
$\frac{७}{४९} \times \frac{४३}{१} = ६\frac{१}{७}$ " "
१×४६ = ४६ घन राजू
$\frac{७}{४९} \times \frac{४९}{१} = ७$ राजू चौड़ाई

पूर्व-पश्चिम से अधोलोक की ऊँचाई प्राप्त करने का विधान एवं उसकी आकृति

उदओ हवेदि पुव्वावरेहि लोयंत-उभय-पासेसु ।
ति-दु-इगि-रज्जु-पवेसे, सेढी दु-ति- [1]भाग-तिद-सेढीओ ॥१८०॥

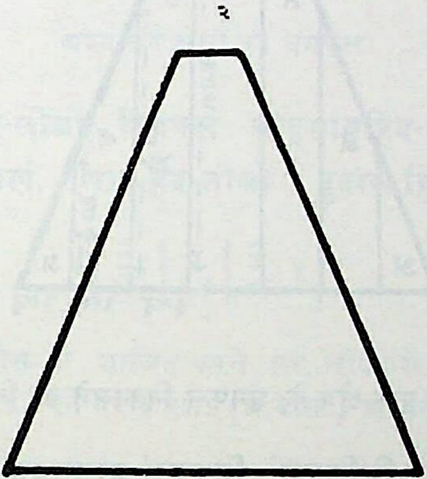

अर्थ – पूर्व और पश्चिम से लोक के अन्त के दोनों पार्श्वभागों में तीन, दो और एक राजू प्रवेश करने पर ऊँचाई क्रमशः एक जगच्छ्रेणी, श्रेणी के तीन भागों में से दो-भाग और श्रेणी के तीन भागों में से एक भाग मात्र है ॥१८०॥

विशेषार्थ—पूर्व दिशा सम्बन्धी लोक के अन्तिम छोर से पश्चिम की ओर ३ राजू जाकर यदि उस स्थान से लोक की ऊँचाई मापी जाय तो ऊँचाइयाँ क्रमशः जगच्छ्रेणी प्रमाण अर्थात् ७ राजू, दो राजू जाकर मापी जाय तो $\frac{14}{3}$ राजू और यदि एक राजू जाकर मापी जाय तो $\frac{7}{3}$ राजू प्राप्त होगी ।

पश्चिम दिशा सम्बन्धी लोकान्त से पूर्व की ओर चलने पर भी लोक की यही ऊँचाइयाँ प्राप्त होंगी ।

शंका—दो राजू आगे जाकर लोक की ऊँचाई $\frac{14}{3}$ राजू प्राप्त होती है, यह कैसे जाना जाय ?

---

[1] [दुतिभागतिदियसेढीओ] । [2] क. प्रति से ।

समाधान—३ राजू दूरी पर जब ऊँचाई ७ राजू है, तब दो राजू दूरी पर कितनी ऊँचाई प्राप्त होगी ? इस त्रैराशिक नियम से जानी जाती है। यथा—

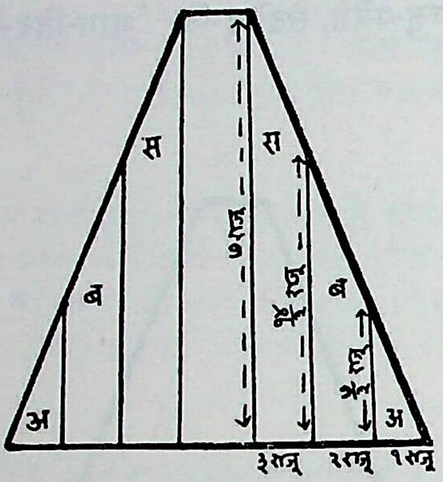

त्रिकोण एवं लंम्बे बाहु युक्त क्षेत्र के घनफल निकालने की विधि एवं उसका प्रमाण

भुज-पडिभुज-मिलिदद्धं, विंदफलं वासमुदय-वेद-हदं ।
[1]एक्काययत्त - बाहू, वासद्ध - हदा य वेद - हदा ।।१८१।।

अर्थ—[१] भुजा और प्रतिभुजा को मिलाकर आधा करने पर जो व्यास हो, उसे ऊँचाई और मोटाई से गुणा करना चाहिए। ऐसा करने से त्रिकोण क्षेत्र का घनफल निकल आता है।

[२] एक लम्बे बाहु को व्यास के आधे से गुणा कर पुनः मोटाई से गुणा करने पर एक लम्बे बाहु-युक्त क्षेत्र के घनफल का प्रमाण आता है ।।१८१।।

विशेषार्थ—गा० १८० के विशेषार्थ के चित्रण में "स" नामक विषम चतुर्भुज में ७ राजू लम्बी रेखा का नाम भुजा और $\frac{१४}{३}$ राजू लम्बी रेखा का नाम प्रतिभुजा है। इन दोनों का जोड़ $(\frac{७}{१}+\frac{१४}{३})=\frac{३५}{३}$ राजू है। इसको आधा करने पर $(\frac{३५}{३}\times\frac{१}{२})=\frac{३५}{६}$ राजू प्राप्त होते हैं। इनमें ऊँचाई और मोटाई का गुणा कर देने पर $(\frac{३५}{६}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१})=\frac{२४५}{६}$ अर्थात् ४० $\frac{५}{६}$ घनराजू "स" नामक विषम चतुर्भुज का घनफल है।

इसी प्रकार "ब" चतुर्भुज का घनफल भी प्राप्त होगा। यथा : $\frac{१४}{३}$ राजू भुजा + $\frac{७}{३}$ राजू प्रतिभुजा = $\frac{२१}{३}$ राजू। तत्पश्चात् घनफल = $\frac{२१}{३}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{२}$ अर्थात् २४$\frac{१}{२}$ घनराजू "ब" नामक विषम चतुर्भुज का घनफल प्राप्त होता है। यही घनफल गाथा १८२ में दर्शाया गया है।

---

[1] द. एक्कायजत्त, ज. क. ठ. एक्कायसत्त ।

"अ" क्षेत्र त्रिकोणाकार है अतः उसमें प्रतिभुजा का अभाव है। अ क्षेत्र की भुजा की लम्बाई $\frac{७}{३}$ राजू और क्षेत्र का व्यास एक राजू है। लम्बायमान बाहु ($\frac{७}{३}$) को व्यास के आधे ($\frac{१}{२}$) से और मोटाई से गुणित कर देने पर लम्बे बाहु युक्त त्रिकोण क्षेत्र का क्षेत्रफल प्राप्त हो जाता है। यथा : $\frac{७}{३}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{६}$ अर्थात् ८$\frac{१}{६}$ घनराजू "अ" त्रिकोण क्षेत्र का घनफल प्राप्त हुआ। यही क्षेत्रफल गाथा १८२ में दर्शाया गया है।

अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल

बादाल-हरिद-लोओ, विंदफलं चोद्दसावहिद-लोओ।
तब्भंतर-खेत्ताणं, पण-हद-लोओ दुदाल-हिदो ॥१८२॥

$$\left|\,\frac{\equiv}{४२}\,\middle|\,\frac{\equiv}{१४}\,\middle|\,\frac{\equiv}{४२}\,५\,\right|$$

अर्थ—लोक को बयालीस से भाजित करने पर, चौदह से भाजित करने पर और पाँच से गुणित एवं बयालीस से भाजित करने पर क्रमशः (अ.ब.स.) अभ्यन्तर क्षेत्रों का घनफल निकलता है ॥१८२॥

विशेषार्थ—३४३ ÷ ४२ = ८$\frac{१}{६}$ घनराजू "अ" क्षेत्र का घनफल।

३४३ ÷ १४ = २४$\frac{१}{२}$ घनराजू "ब" क्षेत्र का घनफल।

३४३ × ५ ÷ ४२ = ४०$\frac{५}{६}$ घनराजू "स" क्षेत्र का घनफल।

नोट—इन तीनों घनफलों का चित्रण गाथा १८० के विशेषार्थ में और प्रक्रिया गा० १८१ के विशेषार्थ में दर्शा दिये गये हैं।

सम्पूर्ण अधोलोक का घनफल

एदं खेत्त-पमाणं, मेलिद सयलं पि दु-गुणिदं कादुं।
मज्झिम-खेत्ते मिलिदे, [1]चउ-गुणिदो सग-हिदो लोओ ॥१८३॥

$$\left|\,\frac{\equiv}{७}\,४\,\right|^{२}$$

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. चउगुणिदे सगहिदे। [2] ब. $\frac{\equiv}{७}\,४\,\left|\,\frac{\overset{७}{\equiv}}{७}\,\right|\,७\,\right|$

अर्थ--उपर्युक्त घनफलों को मिला कर और सकल को दुगुना कर इसमें मध्यम क्षेत्र के घनफल को जोड़ देने पर चार से गुणित और सात से भाजित लोक के बराबर सम्पूर्ण अधोलोक के घनफल का प्रमाण निकल आता है ॥१८३॥

विशेषार्थ—गा० १८० के चित्रण में अ, ब और स नाम के दो-दो क्षेत्र हैं, अतः ८$\frac{१}{६}$+ २४$\frac{१}{२}$+४०$\frac{५}{६}$=७३$\frac{१}{२}$ घनराजू में २ का गुणा करने से (७३$\frac{१}{२}$×२)=१४७ घनराजू प्राप्त हुआ। इसमें मध्य क्षेत्र का (७×१×७)=४९ घनराजू जोड़ देने से (१४७+४९)=१९६ घनराजू पूर्ण अधोलोक का घनफल प्राप्त हुआ, जो संदृष्टि रूप ३४३×४÷७ घनराजू के बराबर है।

लघु भुजाओं के विस्तार का प्रमाण निकालने का विधान एवं आकृति

रज्जुस्स सत्त-भागो, तिय-छ-दु-पंचेक्क-चउ-सगेहिं हदा।
खुल्लय-भुजाण रुंदा, वंसादी थंभ-बाहिरए ॥१८४॥

८ह ३ । ८ह ६ । ८ह २ । ८ह ५ । ८ह १ । ८ह ४ । ८ह ७ ।

अर्थ—राजू के सातवें भाग को क्रमशः तीन, छह, दो, पाँच, एक, चार और सात से गुणित करने पर वंशा आदिक में स्तम्भों के बाहर छोटी भुजाओं के विस्तार का प्रमाण निकलता है ॥१८४॥

विशेषार्थ—सात राजू चौड़े और सात राजू ऊँचे अधोलोक में एक-एक राजू के अन्तराल से जो ऊँचाई-रूप रेखाएँ डाली जाती हैं, उन्हें स्तम्भ कहते हैं। स्तम्भों के बाहर वाली छोटी भुजाओं का प्रमाण प्राप्त करने के लिए राजू के सातवें ($\frac{१}{७}$) भाग को तीन, छह, दो, पाँच, एक, चार और सात से गुणित करना चाहिए। इसकी सिद्धि इस प्रकार है---

अधोलोक नीचे सात राजू और ऊपर एक राजू चौड़ा है। भूमि (७ राजू) में से मुख घटा देने पर (७—१=)६ राजू की वृद्धि प्राप्त होती है। जब ७ राजू पर ६ राजू की वृद्धि होती है तब एक राजू पर $\frac{६}{७}$ राजू की वृद्धि होगी। प्रथम पृथिवी की चौड़ाई $\frac{७}{७}$ अर्थात् एक राजू और दूसरी पृथिवी की ($\frac{७}{७}$+$\frac{६}{७}$=) $\frac{१३}{७}$ राजू है। इसी प्रकार तृतीय आदि शेष पृथ्वियों की चौड़ाई क्रमशः $\frac{१९}{७}$, $\frac{२५}{७}$, $\frac{३१}{७}$, $\frac{३७}{७}$ और $\frac{४३}{७}$ राजू है (यह चौड़ाई गा० १७८, १७९ के चित्रण में दर्शायी गयी है), अधोलोक की भूमि अन्त में $\frac{४९}{७}$ अर्थात् सात राजू है। दूसरी और तीसरी पृथिवी के मुखों में से बीच (त्रसनाली) का एक-एक राजू कम कर देने पर क्रमशः $\frac{६}{७}$ और $\frac{१२}{७}$ राजू अवशेष रहता है, इसका आधा कर देने पर प्रत्येक दिशा में $\frac{३}{७}$ और $\frac{६}{७}$ राजू बाहर का क्षेत्र रहता है। चौथी-पाँचवीं पृथ्वियों के मुखों में से बीच के तीन अर्थात् $\frac{२१}{७}$ राजू घटा देने पर शेष ($\frac{२५}{७}$---$\frac{२१}{७}$)=$\frac{४}{७}$ और ($\frac{३१}{७}$--$\frac{२१}{७}$)=$\frac{१०}{७}$ राजू

शेष रहता है, इनका आधा करने पर प्रत्येक दिशा में बाह्य छोटी भुजा का विस्तार क्रमशः $\frac{३}{७}$ और $\frac{५}{७}$ राजू रहता है। ६ ठी और ७ वीं पृथ्वियों के मुखों तथा लोक के अन्त में से पाँच-पाँच राजू निकाल देने पर क्रमशः $(\frac{३७}{७}-\frac{३५}{७})=\frac{२}{७}$, $(\frac{४३}{७}-\frac{३५}{७})=\frac{८}{७}$ और $(\frac{४९}{७}-\frac{३५}{७})=\frac{१४}{७}$ राजू अवशेष रहता है। इनमें से प्रत्येक का आधा करने पर एक दिशा में बाह्य छोटी भुजा का विस्तार क्रमशः $\frac{१}{७}$, $\frac{४}{७}$ और $\frac{७}{७}$ राजू प्राप्त होता है, इसीलिए इस गाथा में $\frac{१}{७}$ को तीन आदि से गुणित करने को कहा गया है। यथा—

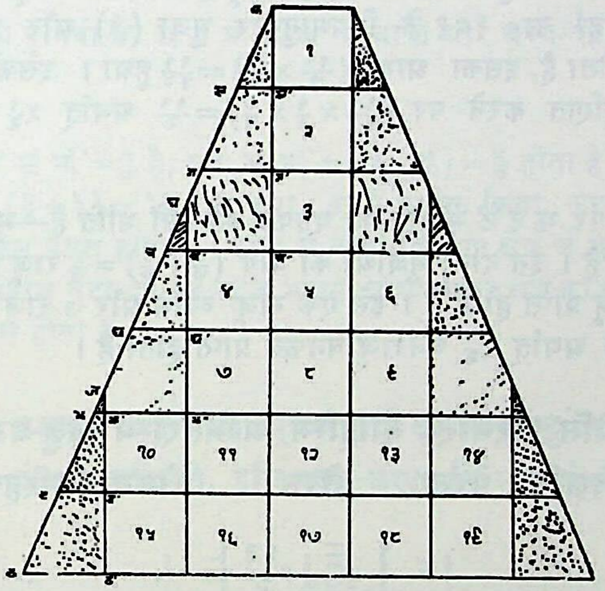

उपर्युक्त चित्रण में —ख खे = $\frac{३}{७}$
ग गे = $\frac{६}{७}$
च चे = $\frac{२}{७}$
छ छे = $\frac{५}{७}$
झ झे = $\frac{१}{७}$
ट टे = $\frac{४}{७}$
ठ ठे = $\frac{७}{७}$

लोयंते रज्जु-घणा, पंच चिचय अद्ध-भाग-संजुत्ता ।
सत्तम-खिदि-पज्जंता, अड्ढाइज्जा हवंति फुडं ॥१८५॥

$$\left|\begin{array}{cc} \equiv & ११ \\ ३४३ । & २ \end{array}\right|\begin{array}{cc} \equiv & ५ \\ ३४३ । & २ \end{array}\right|$$

अर्थ—लोक के अन्त तक अर्धभाग सहित पाँच ($५\frac{१}{२}$) घनराजू और सातवीं पृथिवी तक ढ़ाई घनराजू प्रमाण घनफल होता है ।।१८५।।

$$\left[\left(\frac{७}{७}+\frac{४}{७}\right)\div२\times१\times७\right]=\frac{११}{२}\text{ घनराजू; }\left[\left(\frac{४}{७}+\frac{१}{७}\right)\div२\times१\times७\right]=\frac{५}{२}\text{ घनराजू ।}$$

विशेषार्थ—गाथा १८४ के चित्रण में ट ठ ठ̕ ट̕ क्षेत्र का घनफल निम्नलिखित प्रकार से है—

लोक के अन्त में ठ ठ̕ भुजा का प्रमाण $\frac{७}{७}$ राजू है और सप्तम पृथिवी पर ट ट̕ भुजा का प्रमाण $\frac{४}{७}$ राजू है। यहाँ गा० १८१ के नियमानुसार भुजा ($\frac{७}{७}$) और प्रतिभुजा ($\frac{४}{७}$) का योग ($\frac{७}{७}+\frac{४}{७}$)$=\frac{११}{७}$ राजू होता है, इसका आधा ($\frac{११}{७}\times\frac{१}{२}$)$=\frac{११}{१४}$ हुआ। इसको एक राजू व्यास और सात राजू मोटाई से गुणित करने पर ($\frac{११}{१४}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}$)$=\frac{११}{२}$ अर्थात् $५\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

सप्तम पृथिवी पर झ ट ट̕ झ̕ क्षेत्र का घनफल भी इसी भाँति है—भुजा ट ट̕ $\frac{४}{७}$ राजू है और प्रतिभुजा झ झ̕ $\frac{१}{७}$ राजू है। इन दोनों भुजाओं का योग ($\frac{४}{७}+\frac{१}{७}$)$=\frac{५}{७}$ राजू हुआ। इसका अर्ध करने पर ($\frac{५}{७}\times\frac{१}{२}$)$=\frac{५}{१४}$ राजू प्राप्त होता है। इसे एक राजू व्यास और ७ राजू मोटाई से गुणित करने पर ($\frac{५}{१४}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}$)$=\frac{५}{२}$ अर्थात् $२\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

उभयेसिं परिमाणं, बाहिम्मि अब्भंतरम्मि रज्जु-घणा ।
छट्ठक्खिदि - पेरंता, तेरस दोरूव - परिहत्ता ।।१८६।।

$$\left|\begin{array}{cc}\equiv & १३\\ ३४३ । & २\end{array}\right|$$

बाहिर-छब्भाएसुं[1], अवणीदेसुं हवेदि अवसेसं[2] ।
स-तिभाग-छक्क-मेत्तं, तं चिय अब्भंतरं खेत्तं ।।१८७।।

$$\left|\begin{array}{cc}\equiv & १\\ ३४३। & ६\end{array}\right|\begin{array}{cc}\equiv & ३८\\ ३४३। & ६\end{array}\right|^{3}$$

अर्थ—छठी पृथिवी तक बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्रों का मिश्रघनफल दो से विभक्त तेरह घनराजू प्रमाण है ।।१८६।।

$$\left[\left(\frac{९}{७}+\frac{४}{७}\right)\div२\times१\times७\right]=\frac{१३}{२}\text{ घनराजू ।}$$

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. बाहिरछब्भासेसुं । [2] द. ब. अवंसेसु । [3] द. ब. $\left|\begin{array}{c}\equiv\\ ३४३\end{array}\right|\begin{array}{c}६\\ \frac{१}{३}\end{array}\right|$

अर्थ—छठी पृथिवी तक जो बाह्यक्षेत्र का घनफल एक बटे छह ($\frac{१}{६}$) घनराजू होता है, उसे उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों के जोड़ रूप घनफल ($\frac{१३}{२}$ घनराजू) में से घटा देने पर शेष एक त्रिभाग ($\frac{१}{३}$) सहित छह घनराजू प्रमाण अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल समझना चाहिए ।।१८७।।

($\frac{१}{७}$ ÷ २) × $\frac{१}{३}$ × ७ = $\frac{१}{६}$ घन रा० बाह्यक्षेत्र का घनफल ।

$\frac{१३}{२}$ − $\frac{१}{६}$ = $\frac{३८}{६}$ घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल ।

विशेषार्थ—छठी पृथिवी पर छ ज झ झे झें छं बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्र से मिश्रित क्षेत्र का घनफल इस प्रकार है—

झ झ = $\frac{१}{७}$ और झे झें = $\frac{७}{७}$ है, अतः झ झें = ($\frac{१}{७}$ + $\frac{७}{७}$) = $\frac{८}{७}$ होता है। और छ छें = $\frac{५}{७}$ है, इन दोनों भुजाओं का योग ($\frac{८}{७}$ + $\frac{५}{७}$) = $\frac{१३}{७}$ राजू हुआ। इसमें पूर्वोक्त क्रिया करने पर ($\frac{१३}{७}$ × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१}{१}$ × $\frac{७}{१}$) = $\frac{१३}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है। इसमें से बाह्य त्रिकोण क्षेत्र ज झ झे का घनफल ($\frac{१}{७}$ × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१}{३}$ ऊँ × ७) = $\frac{१}{६}$ घनराजू घटा देने पर छ ज झे झें छें अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल ($\frac{१३}{२}$ − $\frac{१}{६}$) = $\frac{३८}{६}$ अर्थात ६ $\frac{१}{३}$ घनराजू प्राप्त होता है।

आहुट्ठं रज्जु-घणं, धूम-पहाए समासमुद्दिट्ठं ।
पंकाए चरिमंते, इगि-रज्जु-घणा ति-भागूणं ।।१८८।।

$$\left|\begin{array}{cc|cc}\equiv & ७ & \equiv & २\\ ३४३\;। & २ & ३४३\;। & ३\end{array}\right|$$

रज्जु-घणा सत्तच्चिय, छब्भागूणा चउत्थ-पुढवीए ।
अब्भंतरम्मि भागे, खेत्त-फलस्स-प्पमाणमिदं ।।१८९।।

$$\left|\begin{array}{cc}\equiv & ४१\\ ३४३\;। & ६\end{array}\right|$$

अर्थ—धूमप्रभा पर्यन्त घनफल का जोड़ साढ़े-तीन घनराजू बतलाया गया है और पंकप्रभा के अन्तिम भाग तक एक त्रिभाग ($\frac{१}{३}$) कम एक घनराजू प्रमाण घनफल है ।।१८८।।

[($\frac{५}{७}$ + $\frac{२}{७}$) ÷ २ × १ × ७] = $\frac{७}{२}$ घन रा०; ($\frac{२}{७}$ ÷ २) × $\frac{२}{३}$ × ७ = $\frac{२}{३}$ घ० रा० बाह्यक्षेत्र का घनफल ।

अर्थ—चौथी पृथिवी पर्यन्त अभ्यन्तर भाग में घनफल का प्रमाण एक बटे छह ($\frac{१}{६}$) कम सात घनराजू है ।।१८९।।

$[(\frac{६}{७}+\frac{६}{७})\div२\times१\times७]-\frac{२}{३}=\frac{४०}{६}$ घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल ।

विशेषार्थ—पाँचवीं पृथिवी पर च छ छें चे क्षेत्र का घनफल इस प्रकार है—भुजा छ छें $\frac{५}{७}$ और प्रतिभुजा च चे $\frac{२}{७}$ है, दोनों का योग $(\frac{५}{७}+\frac{२}{७})=\frac{७}{७}$ है । इसमें पूर्वोक्त क्रिया करने पर $(\frac{७}{७}\times\frac{१}{२}\times१\times७)=\frac{७}{२}$ अर्थात् ३$\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल पंचम पृथिवी का प्राप्त होता है।

चौथी पृथिवी पर ग घ च चे चें गे बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्र से मिश्रित क्षेत्र का (बाह्य क्षेत्र का एवं अभ्यन्तर क्षेत्र का भिन्न-भिन्न) घनफल इस प्रकार है—च चे $=\frac{२}{७}$ और चे चें $=\frac{७}{७}$ है, अत: $(\frac{७}{७}+\frac{२}{७})=\frac{९}{७}$ भुजा है तथा ग गे $=\frac{६}{७}$ प्रतिभुजा है । $\frac{९}{७}+\frac{६}{७}=\frac{१५}{७}$ राजू प्राप्त हुआ । $\frac{१५}{७}\times\frac{१}{२}\times१\times७=\frac{१५}{२}$ घनराजू बाह्याभ्यन्तर दोनों का मिश्रघनफल होता है। इसमें से बाह्य त्रिकोण क्षेत्र का घनफल $(\frac{२}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{२}{३}$ ऊँ० $\times७)=\frac{२}{३}$ घनराजू घटा देने पर $(\frac{१५}{२}-\frac{२}{३})=\frac{४१}{६}$ घनराजू ग घ चे चें गे अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है।

रज्जु-घणद्धं णव-हद-तदिय[1]-खिदीए दुइज्ज-भूमीए ।
होदि दिवड्ढा एदो, मेलिय दुगुणं घणो कुज्जा ।।१९०।।

$\left|\frac{\equiv}{३४३}\;\frac{९}{२}\right|\frac{\equiv}{३४३}\left|\frac{३}{२}\right|$

मेलिय दुगुणिदे $\frac{\equiv}{३४३}$ ६३ |

[2]तेत्तीसब्भहिय-सयं, सयलं खेत्ताण सव्व-रज्जुघणा ।
ते ते सव्वे मिलिदा, दोण्णि सया होंति चउ-हीणा ।।१९१।।

$\left|\frac{\equiv}{३४३}\;१३३\right|$ मिलिदे $\left|\frac{\equiv}{३४३}\;१९६\right|$

अर्थ—अर्ध $(\frac{१}{२})$ घनराजू को नौ से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो, उतना तीसरी पृथिवी-पर्यन्त क्षेत्र के घनफल का प्रमाण है और दूसरी पृथिवी पर्यन्त क्षेत्र का घनफल डेढ़ घनराजू प्रमाण है। इन सब घनफलों को जोड़कर दोनों तरफ का घनफल लाने के लिए उसे दुगुना करना चाहिए ।।१९०।।

$[(\frac{६}{७}+\frac{३}{७})\div२\times१\times७]=\frac{९}{२}$ घ०रा० ; $\frac{३}{७}\div२\times१\times७=\frac{३}{२}$ घनराजू ।

योग— $\frac{११}{२}+\frac{५}{२}+\frac{१}{२}+\frac{३८}{६}+\frac{७}{२}+\frac{२}{३}+\frac{४१}{६}+\frac{६}{२}+\frac{३}{२}=\frac{१८९}{६}$

$\frac{१८९}{६}\times\frac{२}{१}=\frac{३७८}{६}=$ ६३ घनराजू ।

---

[1] द. ब. तदीय । [2] ब. तेत्तीसमब्भहियछेत्ताण । द. ज. क. ठ. तेत्तीसब्भहिय सयं सयछेत्ताण ।

अर्थ—उपर्युक्त घनफल को दुगुना करने पर दोनों (पूर्व-पश्चिम) तरफ का कुल घनफल त्रेसठ घनराजू प्रमाण होता है। इसमें सब अर्थात् पूर्ण एक राजू प्रमाण विस्तार वाले समस्त (१९) क्षेत्रों का घनफल जो एक सौ तैंतीस घनराजू है, उसे जोड़ देने पर चार कम दो सौ अर्थात् एक सौ छ्यानवै घनराजू प्रमाण कुल अधोलोक का घनफल होता है ॥१९१॥

६३ + १३३ = १९६ घनराजू।

विशेषार्थ—तीसरी पृथिवी पर ख ग गें खें क्षेत्र का घनफल -(भुजा ग गें = $\frac{६}{७}$) + ($\frac{३}{७}$ ख खें प्रतिभुजा) = $\frac{९}{७}$ तथा घनफल = $\frac{९}{७} \times \frac{१}{२} \times १ \times ७ = \frac{९}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

दूसरी पृथिवी पर क ख खें एक त्रिकोण है। इसमें प्रतिभुजा का अभाव है। भुजा—ख खें = $\frac{३}{७}$ तथा घनफल = $\frac{३}{७} \times \frac{१}{२} \times १ \times ७ = \frac{३}{२}$ अर्थात् $१\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

इन सब घनफलों को जोड़कर दोनों ओर का घनफल प्राप्त करने के लिए उसे दुगुना करना चाहिए। यथा—

$$\frac{११}{२} + \frac{५}{२} + \frac{१}{६} + \frac{३८}{६} + \frac{७}{२} + \frac{२}{३} \quad \frac{४१}{६} + \frac{९}{२} + \frac{३}{२}$$

$$= \frac{३३ + १५ + १ + ३८ + २१ + ४ + ४१ + २७ + ९}{६} = \frac{१८९}{६} \times \frac{२}{१} = \frac{३७८}{६} = ६३ \text{ घनराजू}$$

अर्थात् दोनों पार्श्वभागों में बनने वाले सम्पूर्ण विषम चतुर्भुजों और त्रिकोणों का घनफल ६३ घनराजू प्रमाण है। इसमें एक राजू ऊँचे, एक राजू चौड़े और सात राजू मोटे १९ क्षेत्रों का घनफल = (१९ × १ × १ × ७) = १३३ घनराजू और जोड़ देने पर अधोलोक का सम्पूर्ण घनफल (१३३ + ६३) = १९६ घनराजू प्राप्त हो जाता है।

ऊर्ध्वलोक के मुख तथा भूमि का विस्तार एवं ऊँचाई

एक्केक्क-रज्जु-मेत्ता, उवरिम-लोयस्स होंति मुह-वासा।
हेट्ठोवरि भू-वासा, पण रज्जू सेढि-अद्धमुच्छेहो ॥१९२॥

७ । ७ । भू । ७५ । २ । २ ।

अर्थ—ऊर्ध्वलोक के अधो और ऊर्ध्व मुख का विस्तार एक-एक राजू, भूमि का विस्तार पाँच राजू और ऊँचाई (मुख से भूमि तक) जगच्छ्रेणी के अर्धभाग अर्थात् साढ़े तीन राजू-मात्र है ॥१९२॥

ऊर्ध्वलोक का ऊपर एवं नीचे मुख एक राजू, भूमि पाँच राजू और उत्सेध-भूमि से नीचे $३\frac{१}{२}$ राजू तथा ऊपर भी $३\frac{१}{२}$ राजू है।

ऊर्ध्वलोक में दश स्थानों के व्यासार्थ चय एवं गुणकारों का प्रमाण

भूमीए मुहं सोहिय, उच्छेह-हिदं मुहादु भूमीदो।
खय-वड्ढीण पमाणं, अड-रूवं सत्त-पविहत्तं[1] ॥१९३॥

$\frac{८}{७}$ |

अर्थ—भूमि में से मुख के प्रमाण को घटा कर शेष में ऊँचाई का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना प्रत्येक राजू पर मुख की अपेक्षा वृद्धि और भूमि की अपेक्षा हानि का प्रमाण होता है। वह प्रमाण सात से विभक्त आठ अंक मात्र अर्थात् आठ बटे सात राजू होता है ॥१९३॥

ऊर्ध्वलोक में भूमि ५ राजू, मुख एक राजू और ऊँचाई $३\frac{१}{२}$ अर्थात् $\frac{७}{२}$ राजू है।

$५-१=४;\ ४\div\frac{७}{२}=\frac{८}{७}$ राजू, प्रत्येक राजू पर वृद्धि और हानि का प्रमाण।

व्यास का प्रमाण निकालने का विधान

तक्खय-वड्ढि-पमाणं, णिय-णिय-उदया-हदं जइच्छाए।
हीणब्भहिए संते, वासाणि हवंति भू-मुहाहिंतो ॥१९४॥

अर्थ—उस क्षय और वृद्धि के प्रमाण को इच्छानुसार अपनी-अपनी ऊँचाई से गुणा करने पर जो कुछ गुणनफल प्राप्त हो उसे भूमि में से घटा देने अथवा मुख में जोड़ देने पर विवक्षित स्थान में व्यास का प्रमाण निकलता है ॥१९४॥

उदाहरण—सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्पका विस्तार—

ऊँचाई ३ राजू, चय $\frac{८}{७}$ राजू और मुख १ राजू है। $\frac{३}{१}\times\frac{८}{७}=\frac{२४}{७}$, तथा $\frac{२४}{७}+१=\frac{३१}{७}$ अर्थात् $४\frac{३}{७}$ राजू दूसरे युगल का व्यास प्राप्त हुआ।

भूमि अपेक्षा—दूसरे कल्प की नीचाई $\frac{१}{२}$ राजू, भूमि ५ और चय $\frac{८}{७}$ राजू है $\frac{१}{२}\times\frac{८}{७}=\frac{८}{१४}$। $५-\frac{८}{१४}=\frac{६२}{१४}$ या $\frac{३१}{७}$ अर्थात् $४\frac{३}{७}$ राजू विस्तार प्राप्त हुआ।

---

[1] ब. सत्तपहिहत्थ, द. ज. क. ठ. सत्तपविहत्थं।

ऊर्ध्वलोक के व्यास की वृद्धि-हानि का प्रमाण

अट्ठ-गुणिदेग-सेढी, उणवण्ण - हिदम्मि होदि जं लद्धं ।
स च्चेय[1] वड्ढि-हाणी, उवरिम-लोयस्स वासाणं ।।१९५।।

$\frac{८}{४९}$

अर्थ--श्रेणी (७ राजू) को आठ से गुणित कर उसमें ४९ का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना ऊर्ध्वलोक के व्यास की वृद्धि और हानि का प्रमाण है ।।१९५।।

यथा—श्रेणी = ७ × ८ = ५६ । ५६ ÷ ४९ = $\frac{८}{७}$ राजू क्षय-वृद्धि का प्रमाण ।

ऊर्ध्वलोक के दश क्षेत्रों का विस्तार एवं उसकी आकृति

रज्जूए सत्त-भागं, दससु ट्ठाणेसु ठाविदूण तदो ।
सत्तोणवीस - इगितीस - पंचतीसेक्कतीसेहिं ।।१९६।।

[2]सत्ताहिय - वीसेहिं, तेवीसेहिं तहोणवीसेण ।
पण्णरस वि सत्तेहिं, तम्मि हदे उवरि वासाणि ।।१९७।।

। $\frac{७}{४९}$ । $\frac{१९}{४९}$ । $\frac{३१}{४९}$ । $\frac{३५}{४९}$ । $\frac{३१}{४९}$ । $\frac{२७}{४९}$ । $\frac{२३}{४९}$ । $\frac{१९}{४९}$ । $\frac{१५}{४९}$ । $\frac{७}{४९}$ ।

अर्थ—राजू के सातवें भाग को क्रमशः दस स्थानों में रख कर उसको सात, उन्नीस, इकतीस, पैंतीस, इकतीस, सत्ताईस, तेईस, उन्नीस, पन्द्रह और सात से गुणा करने पर ऊपर के क्षेत्रों का व्यास निकलता है ।।१९६-१९७।।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक के प्रारम्भ से लोक पर्यन्त क्षेत्र के दस भाग होते हैं । उन उपरिम दस क्षेत्रों के विस्तार का क्रम इस प्रकार है—

ब्रह्मलोक के समीप भूमि ५ राजू, मुख एक राजू और ऊँचाई ३$\frac{१}{२}$ राजू है तथा प्रथम युगल की ऊँचाई १$\frac{१}{२}$ राजू है । भूमि ५—१ मुख = ४ राजू अवशेष रहे । जबकि $\frac{७}{२}$ राजू ऊँचाई पर ४ राजू की वृद्धि होती है, तब १$\frac{१}{२}$ राजू पर $(\frac{४}{१} \times \frac{२}{७} \times \frac{३}{२}) = \frac{१२}{७}$ राजू वृद्धि प्राप्त हुई । प्रारम्भ में ऊर्ध्वलोक का विस्तार एक राजू है, उसमें $\frac{१२}{७}$ राजू वृद्धि जोड़ने से प्रथम युगल के समीप का व्यास $(\frac{१}{१} + \frac{१२}{७}) = \frac{१९}{७}$ राजू प्राप्त होता है । प्रथम युगल से दूसरा युगल भी १$\frac{१}{२}$ राजू ऊँचा है अतः $(\frac{१९}{७} + \frac{१२}{७}) = \frac{३१}{७}$ राजू व्यास सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के समीप है । यहाँ से ब्रह्मलोक $\frac{१}{२}$ राजू

---

[1] ब. क. सव्वे य । [2] द. क. ज. ठ. सत्तादिय; ब. सत्तादिविंसेहि ।

ऊँचा है। जबकि $\frac{७}{२}$ राजू की ऊँचाई पर ४ राजू की वृद्धि होती है, तब $\frac{१}{२}$ राजू पर ($\frac{४}{१} \times \frac{२}{७} \times \frac{१}{२}$) = $\frac{४}{७}$ की वृद्धि होगी। इसे $\frac{३१}{७}$ में जोड़ देने पर ($\frac{३१}{७} + \frac{४}{७}$) = $\frac{३५}{७}$ राजू या ५ राजू व्यास तीसरे युगल के समीप प्राप्त होता है।

इसके आगे प्रत्येक युगल $\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई पर है, अतः हानि का प्रमाण भी $\frac{४}{७}$ राजू ही होगा। $\frac{३५}{७}$—$\frac{४}{७}$=$\frac{३१}{७}$ राजू व्यास लान्तव-कापिष्ट के समीप $\frac{३१}{७}$—$\frac{४}{७}$=$\frac{२७}{७}$ राजू व्यास शुक्र-महाशुक्र के समीप, $\frac{२७}{७}$—$\frac{४}{७}$=$\frac{२३}{७}$ राजू व्यास सतार-सहस्रार के समीप, $\frac{२३}{७}$—$\frac{४}{७}$=$\frac{१९}{७}$ राजू व्यास आनत-प्राणत के समीप और $\frac{१९}{७}$—$\frac{४}{७}$=$\frac{१५}{७}$ राजू व्यास आरण-अच्युत युगल के समीप प्राप्त होता है।

यहाँ से लोक के अन्त तक की ऊँचाई एक राजू है। जब $\frac{७}{२}$ राजू की ऊँचाई पर ४ राजू की हानि है, तब एक राजू की ऊँचाई पर ($\frac{४}{१} \times \frac{२}{७} \times \frac{१}{१}$) = $\frac{८}{७}$ राजू की हानि प्राप्त हुई। इसे $\frac{१५}{७}$ राजू में से घटाने पर ($\frac{१५}{७} - \frac{८}{७}$) = $\frac{७}{७}$ अर्थात् लोक के अन्त भाग का व्यास एक राजू प्राप्त होता है। यथा—

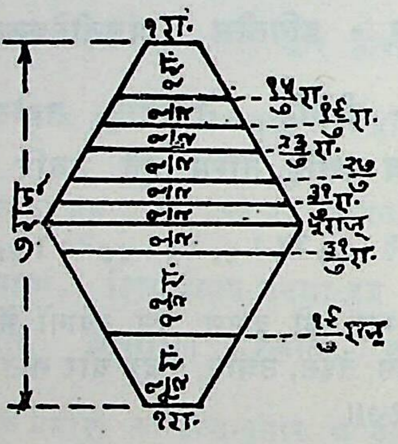

ऊर्ध्वलोक के दशों क्षेत्रों के घनफल का प्रमाण

उणदालं पणत्तरि, तेत्तीसं तेत्तियं च उणतीसं।
[1]पणवीसमेक्कवीसं, [2]सत्तरसं तह य बावीसं ॥१९८॥

एदाणि य पत्तेक्कं, घण-रज्जूए दलेण गुणिदाणि।
मेरु-तलादो उवरिं, उवरिं जायंति विदफला ॥१९९॥

---

१. ब. पणुवीस। २. द. ज. ठ. सत्तारस।

$$\frac{\equiv\ ३९}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ ७५}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ ३३}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ ३३}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ २९}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ २५}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ २१}{३४३ । २} \Big|$$

$$\frac{\equiv\ १७}{३४३ । २} \Big| \frac{\equiv\ २२}{३४३ । २} \Big|$$

अर्थ – उनतालीस, पचहत्तर, तेंतीस, तेंतीस उनतीस, पच्चीस, इक्कीस, सत्तरह और बाईस, इनमें से प्रत्येक को घनराजू के अर्धभाग से गुणा करने पर मेरु-तल से ऊपर-ऊपर क्रमशः घनफल का प्रमाण आता है ।।१९८-१९९।।

उदाहरण—'मुहभूमिजोगदले' इत्यादि नियम के अनुसार सौधर्म से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त क्षेत्रों का घनफल इस प्रकार है—

क्र.	युगलों के नाम	भूमि +	मुख =	योग ×	अर्धभाग =	फल ×	ऊँचाई ×	मोटाई =	घनफल
१	सौधर्मैशान	$\frac{१९}{७}$ +	$\frac{७}{७}$ =	$\frac{२६}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{२६}{१४}$ ×	$\frac{३}{२}$ ×	७ =	$\frac{३९}{२}$ या १९$\frac{१}{२}$ घ०रा०
२	सानत्कुमार-माहेन्द्र	$\frac{३१}{७}$ +	$\frac{१९}{७}$ =	$\frac{५०}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{५०}{१४}$ ×	$\frac{३}{२}$ ×	७ =	$\frac{७५}{२}$ या ३७$\frac{१}{२}$,, ,,
३	ब्रह्मब्रह्मोत्तर	$\frac{३५}{७}$ +	$\frac{३१}{७}$ =	$\frac{६६}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{६६}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{३३}{२}$ या १६$\frac{१}{२}$,, ,,
४	लांतव-का०	$\frac{३५}{७}$ +	$\frac{३१}{७}$ =	$\frac{६६}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{६६}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{३३}{२}$ या १६$\frac{१}{२}$,, ,,
५	शुक्र-महाशुक्र	$\frac{३१}{७}$ +	$\frac{२७}{७}$ =	$\frac{५८}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{५८}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{२९}{२}$ या १४$\frac{१}{२}$,, ,,
६	सतार-सह०	$\frac{२७}{७}$ +	$\frac{२३}{७}$ =	$\frac{५०}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{५०}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{२५}{२}$ या १२$\frac{१}{२}$,, ,,
७	आनत-प्रा०	$\frac{२३}{७}$ +	$\frac{१९}{७}$ =	$\frac{४२}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{४२}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{२१}{२}$ या १०$\frac{१}{२}$,, ,,
८	आरण-अच्युत	$\frac{१९}{७}$ +	$\frac{१५}{७}$ =	$\frac{३४}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{३४}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{१७}{२}$ या ८$\frac{१}{२}$,, ,,
९	उपरिम क्षेत्र	$\frac{१५}{७}$ +	$\frac{७}{७}$ =	$\frac{२२}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{२२}{१४}$ ×	१ ×	७ =	$\frac{२२}{२}$ या ११ ,, ,,

घनफल योग = $\frac{३९}{२} + \frac{७५}{२} + \frac{३३}{२} + \frac{३३}{२} + \frac{२९}{२} + \frac{२५}{२} + \frac{२१}{२} + \frac{१७}{२} + \frac{२२}{२} = १४७$ घनराजू सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त हुआ ।

स्तम्भों की ऊँचाई एवं उसकी आकृति

थंभुच्छेहा[1] पुव्वावरभाए बम्हकप्प-पणिधीसु ।
एक्क-दु-रज्जु-पवेसे, हेट्ठोवरि [2]चउ-दु-गहिदे सेढी ।।२००।।

$\frac{-}{४}$ । $\frac{-}{२}$ ।

अर्थ—ब्रह्मस्वर्ग के समीप पूर्व-पश्चिम भाग में एक और दो राजू प्रवेश करने पर क्रमशः नीचे-ऊपर चार और दो से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण स्तम्भों की ऊँचाई है ।।२००।।

स्तम्भोत्सेध—१ राजू के प्रवेश में $\frac{७}{४}$ राजू; दो राजू के प्रवेश में $\frac{७}{२}$ राजू ।

विशेषार्थ--ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मस्वर्ग के समीप पूर्व दिशा के लोकान्त भाग से पश्चिम की ओर एक राजू आगे जाकर लम्बायमान (अ ब) रेखा खींचने पर उसकी ऊँचाई $\frac{७}{४}$ राजू होती है। इसी प्रकार नीचे की ओर भी (अ स) रेखा की लम्बाई $\frac{७}{४}$ राजू प्रमाण है। उसी पूर्व दिशा से दो राजू आगे जाकर ऊपर-नीचे क ख और क ग रेखाओं की ऊँचाई $\frac{७}{२}$ राजू प्राप्त होती हैं। यथा—

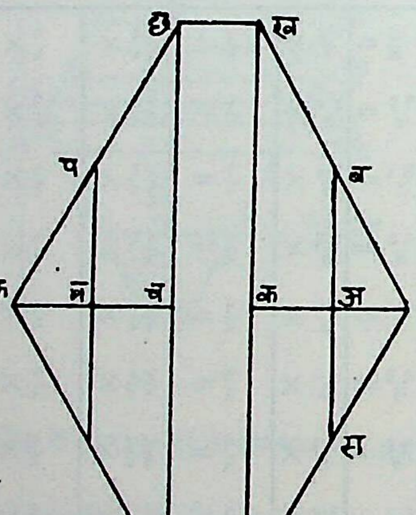

---

[1] द. थंभुच्छेहो । [2] द. चउदगेहि, ज. ठ. चउदर्गाह, ब. क. चउदुगहिदे ।

स्तम्भ-ग्रन्तरित क्षेत्रों का घनफल

छप्पण-हरिदो[1] लोग्रो, [2]ठाणेसु दोसु [3]ठविय गुणिदव्वो ।
एक्क - तिएहिं एदं, थंभंतरिदाण[4] विंदफलं ।।२०१।।

एदं विय[5],

विंदफलं संमेलिय, चउ - गुणिदं होदि तस्स कादूण ।
मज्झिम-खेत्ते मिलिदे, तिय-गुणिदो सग-हिदो लोग्रो ।।२०२।।

$$\left|\frac{\equiv}{\text{५६}}\ \text{१}\right|\frac{\equiv}{\text{५६}}\ \text{३}\left|\frac{\equiv}{\text{७}}\ \text{३}\right|^{\text{६}}$$

ग्रर्थ--छप्पन से विभाजित लोक दो जगह रखकर उसे क्रमशः एक ग्रौर तीन से गुणा करने पर स्तम्भ-ग्रन्तरित दो क्षेत्रों का घनफल प्राप्त होता है।

इस घनफल को मिलाकर ग्रौर उसको चार से गुणा कर उसमें मध्य क्षेत्र के घनफल को मिला देने पर पूर्ण ऊर्ध्व लोक का घनफल होता है। यह घनफल तीन से गुणित ग्रौर सात से भाजित लोक के प्रमाण है।

$\text{३४३} \div \text{५६} \times \text{१} = \text{६}\frac{\text{१}}{\text{८}}$; $\text{३४३} \div \text{५६} \times \text{३} = \text{१८}\frac{\text{३}}{\text{८}}$; $\text{३४३} \times \text{३} \div \text{७} = \text{१४७}$ घनराजू घनफल ।।२०१-२०२।।

विशेषार्थ—गाथा २०० से सम्बन्धित चित्रण में स्तम्भों से ग्रन्तरित एक पार्श्वभाग में ऊपर की ग्रोर सर्वप्रथम प फ ग्रौर म से वेष्टित त्रिकोण क्षेत्र का घनफल इस प्रकार है—

उपर्युक्त त्रिकोण में फ म भुजा एक राजू है। इसमें प्रतिभुजा का ग्रभाव है। इस क्षेत्र की ऊँचाई $\frac{\text{७}}{\text{४}}$ राजू है, ग्रतः $(\text{१} \times \frac{\text{१}}{\text{२}} \times \frac{\text{७}}{\text{४}} \times \frac{\text{७}}{\text{१}}) = \frac{\text{४९}}{\text{८}}$ ग्रर्थात् $\text{६}\frac{\text{१}}{\text{८}}$ घनराजू प्रथम क्षेत्र का घनफल हुग्रा।

उसी पार्श्व भाग में प म च छ जो विषम-चतुर्भुज है, उसकी छ च भुजा $\frac{\text{७}}{\text{२}}$ ग्रौर प म प्रतिभुजा $\frac{\text{७}}{\text{४}}$ है। $\frac{\text{७}}{\text{२}} + \frac{\text{७}}{\text{४}} = \frac{\text{२१}}{\text{४}}$। $\frac{\text{२१}}{\text{४}} \times \frac{\text{१}}{\text{२}} \times \frac{\text{१}}{\text{१}} \times \frac{\text{७}}{\text{१}} = \frac{\text{१४७}}{\text{८}}$ ग्रर्थात् $\text{१८}\frac{\text{३}}{\text{८}}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है। इन दोनों घनफलों को मिलाकर योगफल को ४ से गुणित कर देना चाहिए क्योंकि ऊर्ध्वलोक के दोनों

---

१. क. ब. हरिदलोउ। ज. द. ठ. हरिदलोग्रो। २. द. ठ. ज. बाणेसु। ३. द. ब. क. ज. रविय। ४. क. पदत्थं भत्तरिदाण। ५. द. ब. एदव्विय। ६. क. ६। $\frac{\text{१}}{\text{८}}$। $\frac{\equiv}{\text{७}}$ ३। द. ज. ठ. $\frac{\equiv}{\text{७}}$ ३।

पार्श्व भागों में इस प्रकार के चार त्रिभुज और चार ही चतुर्भुज हैं। इस गुणनफल में मध्य क्षेत्र का (१×७×७)=४९ घनराजू घनफल और मिला देने पर सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त हो जाता है। यथा—$\frac{४९}{८}+\frac{१४७}{८}=\frac{१९६}{८}$×४=९८ घनराजू आठ क्षेत्रों का घनफल+४९ घनराजू मध्य-क्षेत्र का घनफल=१४७ घनराजू सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त होता है।

यह घनफल तीन से गुणित और सात से भाजित लोकप्रमाण मात्र है अर्थात् $\frac{३४३}{७}\times\frac{३}{७}=$ १४७ घनराजू प्रमाण है।

ऊर्ध्वलोक में आठ क्षुद्र-भुजाओं का विस्तार एवं आकृति

सोहम्मीसाणोवरि, छ च्चेय [1]रज्जूउ सत्त-पविभत्ता।
खुल्लय-भुजस्स रुंदं, इगिपासे होदि लोयस्स ॥२०३॥

$_{४९}$ ६।

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वग के ऊपर लोक के एक पार्श्वभाग में छोटी भुजा का विस्तार स.त से विभक्त छह ($\frac{६}{७}$) राजू प्रम।ण है ॥२०३॥

माहिंद-उवरिमंते[2], रज्जूओ पंच होंति सत्त-हिदा।
[3]उणवण्ण हिदा सेढी, सत्त-गुणा बम्ह-पणिधीए ॥२०४॥

। $_{४९}$ ५ । $_{४९}$ ७ ।

अर्थ—माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर अन्त में सात से भाजित पाँच राजू और ब्रह्म स्वर्ग के पास उनचास से भाजित और सात से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण छोटी भुजा का विस्तार है ॥२०४॥

माहेन्द्र कल्प $\frac{५}{७}$ राजू; ब्रह्मकल्प ज०श्रे० = ७ अर्थात् $\frac{७\times७}{४९}=\frac{४९}{४९}$=१ राजू।

कापिट्ठ-उवरिमंते, रज्जूओ पंच होंति सत्त-हिदा।
सुक्कस्स उवरिमंते, सत्त-हिदा ति-गुणिदो रज्जू ॥२०५॥

। $_{४९}$ ५ । $_{४९}$ ३ ।

अर्थ—कापिष्ठ स्वर्ग के ऊपर अन्त में सात से भाजित पाँच राजू और शुक्र के ऊपर अन्त में सात से भाजित और तीन से गुणित राजू प्रमाण छोटी-भुजा का विस्तार है ॥२०५॥ का० $\frac{५}{७}$ रा०; शु० $\frac{३}{७}$ रा०।

---

[1] द. छच्चेय रज्जूओ। [2] द. ब. क. ज. ठ. मेत्तं। [3] द. ज. उणवण्णहिदा रज्जू।

सहसार-उवरिमंते, सग-हिद-रज्जू य खुल्ल-भुजरुंदं ।
पाणद-उवरिम-चरिमे, छ रज्जूश्रो हवंति सत्त-हिदा ।।२०६।।

। ४९ १ । ४९ ६ ।[2]

श्रर्थ—सहस्रार के ऊपर श्रन्त में सात से भाजित एक राजू प्रमाण श्रौर प्राणत के ऊपर श्रन्त में सात से भाजित छह राजू प्रमाण छोटी-भुजा का विस्तार है ।।२०६।। सह० $\frac{१}{७}$ राजू; प्रा० $\frac{६}{७}$ राजू ।

परिणधीसु श्रारणच्चुद - कप्पाणं चरिम-इंदय-धयाणं ।
खुल्लय-भुजस्स रुंदं, चउ रज्जूश्रो हवंति सत्त-हिदा ।।२०७।।

४९ ४ ।

श्रर्थ—श्रारण श्रौर श्रच्युत स्वर्ग के पास श्रन्तिम इन्द्रक विमान के ध्वज-दण्ड के समीप छोटी-भुजा का विस्तार सात से भाजित चार राजू प्रमाण है ।।२०७।। श्रारण-श्रच्युत $\frac{४}{७}$ राजू ।

विशेषार्थ—गाथा २०३ से २०७ तक का विषय निम्नांकित चित्र के श्राधार पर समझा जा सकता है—

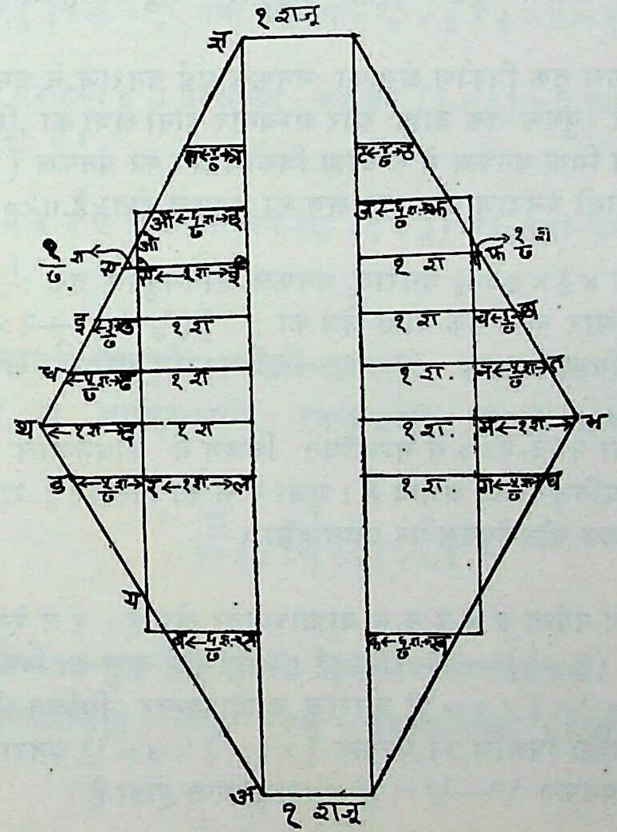

---

१. ज. ठ. सदरस्स । २. द ४९ । $\frac{६}{४९}$ ।

सौधर्मैशान स्वर्ग के ऊपर लोक के एक पार्श्वभाग में क ख नामक छोटी भुजा का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है। माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर अन्त में ग घ भुजा का विस्तार $\frac{४}{७}$ राजू, ब्रह्मस्वर्ग के पास म भ भुजा का विस्तार एक राजू, कापिष्ट स्वर्ग के पास न त भुजाका विस्तार $\frac{५}{७}$ राजू, शुक्र के ऊपर अन्त में च छ भुजा का विस्तार $\frac{३}{७}$ राजू, सहस्रार के ऊपर अन्त में प फ छोटी-भुजा का विस्तार $\frac{१}{७}$ राजू, प्राणत के ऊपर अन्त में ज झ भुजा का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू और आरण-अच्युत स्वर्ग के पास अन्तिम इन्द्रक विमान के ध्वजदण्ड के समीप ट ठ छोटी-भुजा का विस्तार $\frac{४}{७}$ राजू प्रमाण है।

ऊर्ध्वलोक के ग्यारह त्रिभुज एवं चतुर्भुज क्षेत्रों का घनफल

सोहम्मे दलजुत्ता, घणरज्जूओ हवंति चत्तारि ।
अद्धजुदाओ दि तेरस, सणक्कुमारम्मि रज्जूओ ॥२०८॥

अट्ठंसेण जुदाओ, घणरज्जूओ हवंति तिण्णि बहिं ।
तं मिस्स-सुद्ध-सेसं, तेसीदी[1] अट्ठ-पविहत्ता[2] ॥२०९॥

अर्थ—सौधर्मयुगल तक त्रिकोण क्षेत्र का घनफल अर्ध घनराजू से कम पाँच ($४\frac{१}{२}$) घनराजू प्रमाण है। सनत्कुमार युगल तक बाह्य और अभ्यन्तर दोनों क्षेत्रों का मिश्र घनफल साढ़े तेरह घनराजू प्रमाण है। इस मिश्र घनफल में से बाह्य त्रिकोण क्षेत्र का घनफल ($\frac{२५}{८}$) कम कर देने पर शेष आठ से भाजित तेरासी घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल होता है ॥२०८-२०९॥

संदृष्टि—$\frac{६}{७} \div २ \times \frac{३}{२} \times ७ = \frac{९}{२}$ घनराजू घनफल सौधर्मयुगल तक; $\frac{५}{७} \div २ \times \frac{५}{४} \times ७ = \frac{२५}{८}$ घनराजू घनफल सनत्कुमार कल्प तक बाह्य क्षेत्र का; $[(\frac{१२}{७} + \frac{६}{७}) \div २ \times \frac{३}{२} \times ७] = \frac{२७}{२}$ बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्र का मिश्र घनफल; $\frac{२७}{२} — \frac{२५}{८} = \frac{८३}{८}$ घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल है।

विशेषार्थ—गाथा २०३-२०७ से सम्बन्धित चित्रण में सौधर्मयुगल पर अ ब स से वेष्टित एक त्रिकोण है, जिसमें प्रतिभुजा का अभाव है। भुजा ब स का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है, अतः $\frac{६}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{३}{२} \times \frac{७}{१}$ $\frac{९}{२}$ घनराजू घनफल सौधर्मयुगल पर प्राप्त हुआ।

सनत्कुमार युगल पर्यन्त ड य ब स ल बाह्याभ्यन्तर क्षेत्र है। र ल रेखा $\frac{७}{७}$ और ड र रेखा है, अर्थात् ड ल रेखा $(\frac{७}{७} + \frac{५}{७}) = \frac{१२}{७}$ राजू हुई। प्रतिभुजा ब स का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है, अतः $\frac{१२}{७} + \frac{६}{७} = \frac{१८}{७}$ तथा $\frac{१८}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{३}{२} \times ७ = \frac{२७}{२}$ घनराजू बाह्याभ्यन्तर मिश्रित क्षेत्र का घनफल प्राप्त आ। इसमें से ड य र बाह्य त्रिकोण का घनफल $\frac{५}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{५}{४} \times ७ = \frac{२५}{८}$ घनराजू घटा देने पर र य ब ल अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $\frac{२७}{२} — \frac{२५}{८} = \frac{८३}{८}$ घनराजू प्राप्त होता है।

द. ब. नेमि इदि। २. ब. पविहत्था।

बम्हुत्तर-हेट्ठुवरिं, रज्जु-घणा तिण्णि होंति पत्तेक्कं ।
लंतव-कप्पम्मि दुगं, रज्जु-घणो[1] सुक्क-कप्पम्मि ॥२१०॥

$$\frac{\equiv}{३४३}\ ३ \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\ ३ \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\ २ \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\ १ \;\Big|$$

अर्थ—ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर प्रत्येक बाह्य क्षेत्र का घनफल तीन घनराजू प्रमाण है । लांतव स्वर्ग तक दो घनराजू और शुक्र कल्प तक एक घनराजू प्रमाण घनफल है ॥२१०॥

विशेषार्थ—ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर अर्थात् क्षेत्र थ ड र द और ध थ द ढ समान माप वाले हैं । इनकी भुजा $\frac{७}{७}$ राजू और प्रतिभुजा $\frac{५}{७}$ राजू प्रमाण है, अतः ब्रह्मोत्तर कल्प के नीचे और ऊपर वाले प्रत्येक क्षेत्र हेतु $\frac{७}{७}+\frac{५}{७}=\frac{१२}{७}$, तथा घनफल $=\frac{१२}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times७=३$ घनराजू प्रमाण है ।

लांतव-कापिष्ट पर इ ध ढ उ से वेष्टित क्षेत्र हेतु $(\frac{५}{७}+\frac{३}{७})=\frac{८}{७}$ तथा घनफल $=\frac{८}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times७=२$ घनराजू प्रमाण है ।

शुक्र कल्प तक ए इ उ ऐ से वेष्टित क्षेत्र हेतु $(\frac{३}{७}+\frac{१}{७})=\frac{४}{७}$ तथा घनफल $=\frac{४}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times७=१$ घनराजू प्रमाण है ।

अट्ठाणउदि-विहत्तो, लोओ सदरस्स उभय-विंदफलं ।
तस्स य बाहिर-भागे, रज्जु-घणो अट्ठमो अंसो ॥२११॥

$$^{[2]}\ \frac{\equiv}{३४३}\ ।\ \frac{७}{२} \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\ ।\ \frac{१}{८} \;\Big|$$

तम्मिस्स-सुद्ध-सेसे, हवेदि अब्भंतरम्मि विंदफलं ।
[3]सत्तावीसेहि [4]हदं, रज्जू - घणमाणमट्ठ - हिदं ॥२१२॥

$$\Big|\ \frac{\equiv}{३४३}\ ।\ \frac{२७}{८} \;\Big|$$

---

१. द. ब. रज्जुघणा　२. द. $\frac{\equiv}{४९}$, ब. $\frac{\equiv}{३४९}$ ।　३. द. ज. ठ. सत्तावसेहि ।　४. ज. ठ. दोदं ।

अर्थ—शतार स्वर्ग तक उभय अर्थात् अभ्यन्तर और बाह्यक्षेत्र का मिश्र घनफल अट्ठानवे से भाजित लोक के प्रमाण है। तथा इसके बाह्यक्षेत्र का घनफल घनराजू का अष्टमांश है ॥२११॥

अर्थ—उपर्युक्त उभय क्षेत्र के घनफल में से बाह्यक्षेत्र के घनफल को घटा देने पर जो शेष रहे उतना अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल होता है। वह सत्ताईस से गुणित और आठ से भाजित घनराजू के प्रमाण है ॥२१२॥

विशेषार्थ—शतार स्वर्ग पर्यन्त औ ओ ए ऐ ई ह से वेष्टित बाह्याभ्यन्तर क्षेत्र है। ऐ ई रेखा $\frac{७}{७}$ और ए ऐ रेखा $\frac{१}{७}$ राजू है अर्थात् ए ई रेखा $(\frac{७}{७}+\frac{१}{७})=\frac{८}{७}$ है। प्रतिभुजा औ ह रेखा का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है, अतः $\frac{८}{७}+\frac{६}{७}=\frac{१४}{७}$, तथा $\frac{१४}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{७}{२}$ घनराजू उभय क्षेत्रों का घनफल है, इसमें से ओ ए ऐ बाह्य त्रिकोण का घनफल $\frac{१}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}\times ७=\frac{१}{८}$ घनराजू घटा देने पर औ ओ ऐ ई ह अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $(\frac{७}{२}-\frac{१}{८})=\frac{२७}{८}$ अर्थात् $३\frac{३}{८}$ घनराजू प्राप्त होता है, जो २७ से गुणित और ८ से भाजित घनराजू प्रमाण ($१\times २७=२७$, तथा $२७\div ८$ $३\frac{३}{८}$ घनराजू) है।

रज्जु-घणा ठाण-दुगे, अड्ढाइज्जेहिं दोहि गुणिदव्वा।
सव्वं मेलिय दु-गुणिय, तस्सि ठावेज्ज जुत्तेण ॥२१३॥

$$\left|\begin{matrix}\equiv & ५\\ ३४३ & २\end{matrix}\right|\begin{matrix}\equiv & २\\ ३४३ & \end{matrix}\left|\begin{matrix}\equiv & ७०\\ ३४३ & \end{matrix}\right|$$ [१]

अर्थ—घनराजू को क्रमशः ढाई और दो से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो, उतना शेष दो स्थानों के घनफल का प्रमाण है। इन सब घनफलों को जोड़कर उसे दुगुना कर संयुक्त रूप से रखना चाहिए ॥२१३॥

विशेषार्थ—आनत कल्प के ऊपर क्ष औ ह त्र क्षेत्र हेतु $(\frac{६}{७}+\frac{४}{७})=\frac{१०}{७}$, तथा घनफल $=\frac{१०}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{५}{२}$ घनराजू प्रमाण है।

आरण कल्प के उपरिम क्षेत्र अर्थात् ज्ञ क्ष त्र क्षेत्र का घनफल $\frac{४}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}=\frac{४}{२}=२$ घनराजू प्रमाण है। सम्पूर्ण घनफलों का योग इस प्रकार है—

---

[१] ज. ठ. $\begin{matrix}\equiv\\ ३४३\end{matrix}\Big|\ ५\ \Big|\begin{matrix}\equiv & ३\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|\begin{matrix}\equiv & ७०\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|$ द. $\begin{matrix}\equiv & ५६\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|\begin{matrix}\equiv & ३\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|\begin{matrix}\equiv & ७०\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|$ क. $\begin{matrix}\equiv & ५\\ ३४३ & २\end{matrix}\Big|\begin{matrix}\equiv & १\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|$ $\Big|\begin{matrix}\equiv & ७०\\ ३४३ & \end{matrix}\Big|$

$$\frac{९}{२}+\frac{२५}{८}+\frac{८३}{८}+\frac{६}{२}+\frac{६}{२}+\frac{४}{२}+\frac{२}{२}+\frac{१}{८}+\frac{२७}{८}+\frac{५}{२}+\frac{४}{२}=$$

$$\frac{३६+२५+८३+२४+२४+१६+८+१+२७+२०+१६}{८}=\frac{२८०}{८}\ \text{घनराजू}$$

त्रिभुज और चतुर्भुज क्षेत्र ऊर्ध्वलोक के दोनों पार्श्व भागों में है, अतः $\frac{२८०}{८}$ घनराजू को दो से गुणित करने पर ($\frac{२८०}{८}\times\frac{२}{१}$) दोनों पार्श्व भागों में स्थित ग्यारह क्षेत्रों का घनफल ७० घनराजू प्रमाण प्राप्त होता है।

आठ आयताकार क्षेत्रों का और मध्यक्षेत्र का घनफल

एत्तो दल-रज्जूणं, घण-रज्जूओ हवंति अडवीसं।
एक्कोणवण्ण-गुणिदा, मज्झिम-खेत्तम्मि रज्जु-घणा ॥२१४॥

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\ २८\ \middle|\ \frac{\equiv}{३४३}\ ४९\right|$$

अर्थ—इसके अतिरिक्त दल (अर्ध) राजुओं का घनफल अट्ठाईस घनराजू और मध्यम-क्षेत्र का घनफल ४९ से गुणित एक घनराजू प्रमाण अर्थात् उनचास घनराजू प्रमाण है ॥२१४॥

विशेषार्थ—ग्यारह क्षेत्रों के अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक में एक राजू चौड़े और अर्धराजू ऊँचे विस्तार वाले आठ क्षेत्र हैं, जिनका घनफल ($\frac{१}{१}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}\times\frac{८}{१}$) = २८ घनराजू प्राप्त होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक स्थित अवशेष मध्यक्षेत्र का घनफल (१ × ७ × ७) = ४९ घनराजू है।

सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का सम्मिलित घनफल

[1]पुव्व-वण्णिद-खिदीणं, रज्जूए घणा सत्तरी होंति।
एदे तिण्णि वि रासी, सत्तत्तालुत्तर-सयं मेलिदा ॥२१५॥

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\ ७०\ \middle|\ \frac{\equiv}{३४३}\ १४७\right|$$ [2]

अर्थ—पूर्व में वर्णित इन पृथ्वियों का घनफल सत्तर घनराजू प्रमाण होता है। इस प्रकार इन तीनों राशियों का योग एक सौ सैंतालीस घनराजू है, जो सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल समझना चाहिए ॥२१५॥

---

[1] द. ब. पुव्वरिणद। [2] द. $\left|\frac{\equiv}{३४३}\ ७८\ \middle|\ \frac{\equiv}{३४३}\ १४७\right|$

विशेषार्थ—ग्यारह क्षेत्रों का घनफल ७० घनराज, मध्यवर्ती आठ क्षेत्रों का घनफल २८ घनराजू और मध्यक्षेत्र का घनफल ४९ घनराजू है। इन तीनों का योग (७० + २८ + ४९) = १४७ घनराजू होता है। यही सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

सम्पूर्ण लोक के आठ भेद एवं उनके नाम

अट्ठ-विहं सव्व-जगं, सामण्णं तह य दोण्णि[1] चउरस्सं।
जवमुरअं जवमज्झं, मंदर-दूसाइ-गिरिगडयं ॥२१६॥

अर्थ—सम्पूर्ण लोक—१ सामान्य, दो चतुरस्र अर्थात् २ आयत-चौरस और ३ तिर्यगायत-चतुरस्र, ४ यवमुरज, ५ यवमध्य, ६ मन्दर, ७ दूष्य और ८ गिरिकटक के भेद से आठ प्रकार का है ॥२१६॥

सामान्य एवं दो चतुरस्र लोकों का घनफल एवं उसकी आकृतियाँ

सामाण्णं सेढि-घणं, आयद-चउरस्स वेद-कोडि-भुजा।
सेढी सेढी-अद्धं, दु-गुणिद-सेढी कमा होंति ॥२१७॥

। ≡ । — । $_{२}$ । $_{२}$ ।

अर्थ—सामान्य लोक जगच्छ्रेणी के घनप्रमाण है। आयत-चौरस अर्थात् इसकी चारों भुजाएँ समान प्रमाण वाली हैं। (तिर्यगायत चतुरस्र) क्षेत्र के, वेध, कोटि और भुजा ये तीनों क्रमशः जगच्छ्रेणी (७ राजू), जगच्छ्रेणी के अर्धभाग ($३\frac{१}{२}$ राजू) और जगच्छ्रेणी से दुगुने (१४ राजू) प्रमाण हैं ॥२१७॥

विशेषार्थ—सामान्य लोक निम्नांकित चित्रण के अनुसार जगच्छ्रेणी अर्थात् ७ राजू के घन (३४३ घनराजू) प्रमाण है। यथा—

---

[1] ब. तह दोण्णि।

१. सामान्य लोक का चित्रण—

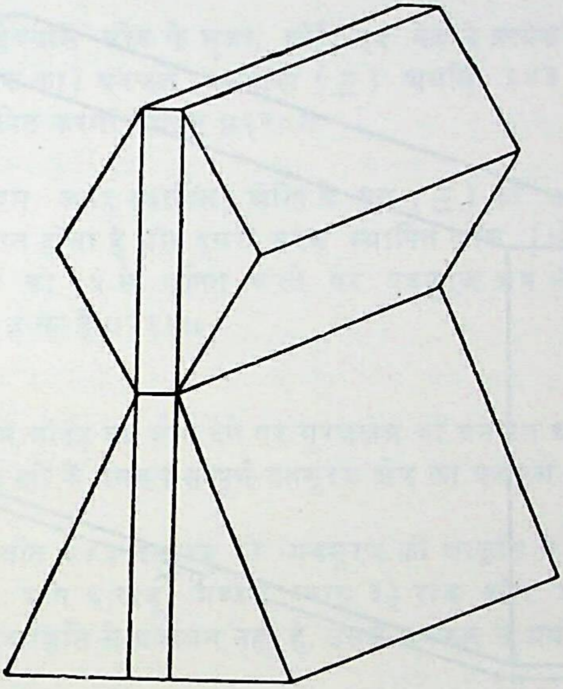

२. आयत-चौरस क्षेत्र निम्नांकित चित्रण के सदृश अर्थात् समान लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई एवं मोटाई को लिये हुए है। यथा—

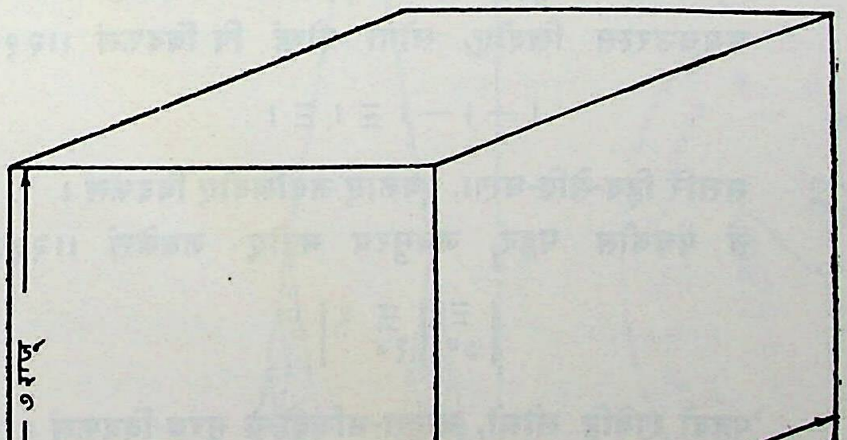

३. तिर्यगायत क्षेत्र का वेध सात राजू, कोटि ३½ राजू और भुजा चौदह-राजू प्रमाण है। यथा—

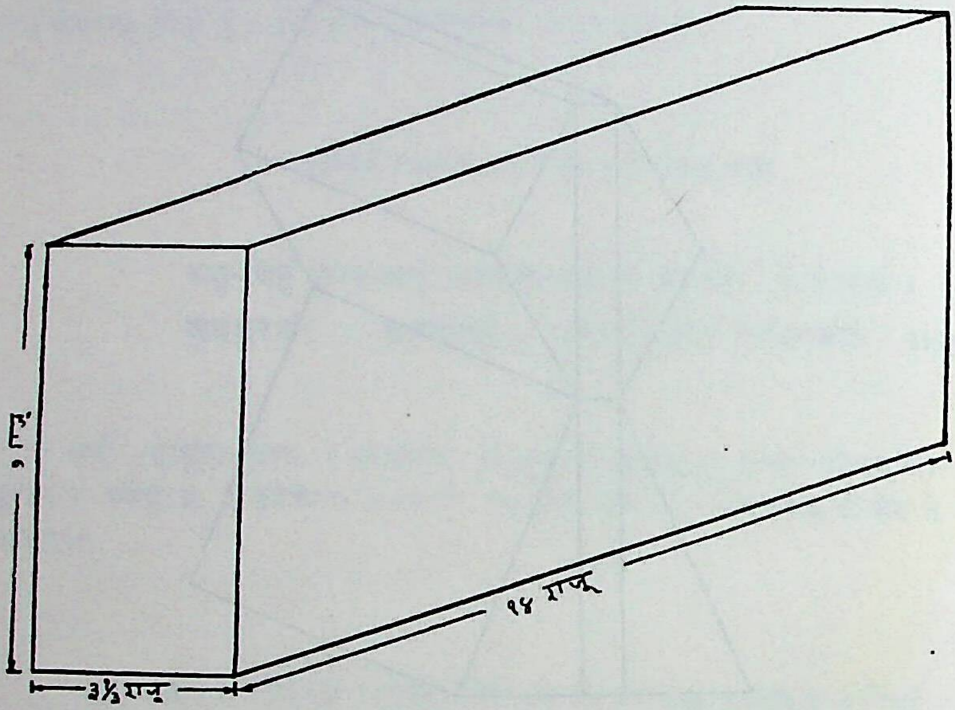

यव का प्रमाण, यवमुरज का घनफल एवं उसकी आकृति

भुजकोडी वेदेसुं, पत्तेक्कं एक्कसेढि परिमाणं।
समचउरस्स खिदीए, लोगा दोण्हं पि विंदफलं ॥२१८॥

। — । — । ≡ । ≡ ।

सत्तरि हिद-सेढि-घणा, एक्काए जवखिदीए विंदफलं।
तं पंचवीस पहदं, जवमुरय महीए जवखेत्तं ॥२१९॥

$$\Big|\ \frac{\equiv}{७०}\ \Big|\ \frac{\equiv}{१४}\ ५\ \Big|$$

[1]पहदो णवेहि लोओ, चोद्दस-भजिदो य मुरव-विंदफलं।
सेढिस्स घण-पमाणं, उभयं पि [2]हवेदि जव-मुरवे ॥२२०॥

---

१. द. एदं दो, क. ज. ठ. एहदो। २. द. ज. ठ. यवेदि।

$$\left| \frac{\equiv}{१४}\, ९ \,\right|\, \equiv \,\Big|$$

अर्थ—समचतुरस्र क्षेत्रवाले लोक के भुजा, कोटि एवं वेध ये प्रत्येक एक-एक श्रेणि (—) प्रमाण वाले हैं जिससे (लोक का) घनफल घनश्रेणि (≡) अर्थात् ३४३ घनराजू प्रमाण होता है। इसे दो स्थानों में स्थापित करना चाहिए ॥१२८॥

(इसके पश्चात् प्रथम जगह स्थापित) श्रेणि के घन (≡) को ७० से भजित करने पर एक जव क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है और दूसरी जगह स्थापित लोक [श्रेणिघन (≡) को ७० से भाजित कर लब्धराशि को २५ से गुणित करने पर यवमुरज क्षेत्र में यवक्षेत्र का घनफल $\frac{\equiv}{७०}$ २५ अथवा $\frac{\equiv}{१४}$ ५ प्राप्त होता है ॥२१९॥

नौ से गुणित लोक में चौदह का भाग देने पर मुरजक्षेत्र का घनफल आता है। इन दोनों के घनफल को जोड़ने से जगच्छ्रेणी के घनरूप सम्पूर्ण यवमुरज क्षेत्र का घनफल होता है ॥२२०॥

विशेषार्थ—लोक अर्थात् ३४३ घनराजू को यवमुरज की आकृति में लाने के लिए लोक की लम्बाई (ऊँचाई) १४ राजू, भूमि ६ राजू, मध्यम व्यास ३½ राजू और मुख एक राजू मानना होगा, क्योंकि यहां लोक की आकृति से प्रयोजन नहीं है, उसके घनफल से प्रयोजन है। यथा—

यवमुरजाकृति—

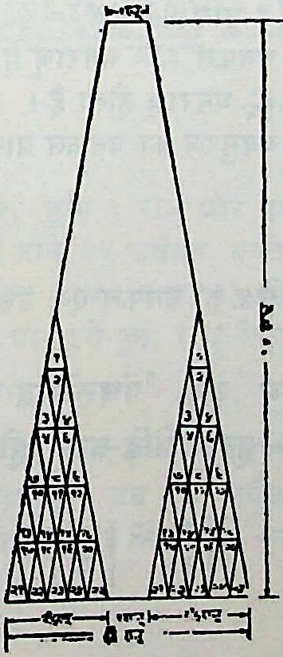

4507
30-7-99

उपर्युक्त आकृति में एक मुरज और दोनों पार्श्व भागों में ५० अर्धयव अर्थात् २५ यव प्राप्त होते हैं। प्रत्येक अर्धयव $\frac{१}{२}$ राजू चौड़ा, $\frac{७}{५}$ राजू ऊँचा और ७ राजू मोटा है। मुरज १४ राजू ऊँची, ऊपर नीचे एक-एक राजू चौडी एवं मध्य में ३$\frac{१}{२}$ राजू चौड़ी है। इसकी मोटाई भी ७ राजू है।

अर्धयव का घनफल $\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{५}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{२०}$ घनराजू है, अतः पूर्ण यव का घनफल $\frac{४९}{२०}\times\frac{२}{१}=\frac{४९}{१०}$ अर्थात् $\frac{३४३}{७०}$ घनराजू प्राप्त होता है। इन पूर्ण यवों की संख्या २५ है इसलिए गाथा में ७० से भाजित लोक को २५ से गुणित करने हेतु कहा गया है।

मुरज की चौड़ाई मध्य में ३$\frac{१}{२}$ राजू और अन्त में एक राजू है। ३$\frac{१}{२}+१=\frac{९}{२}$ राजू हुआ। इसका आधा करने पर $\frac{९}{२}\times\frac{१}{२}$ $\frac{९}{४}$ राजू मुरज का सामान्य व्यास प्राप्त होता है। इसे मुरज की १४ राजू ऊँचाई और ७ राजू मोटाई से गुणित करने पर $\frac{९}{४}\times\frac{१४}{१}\times\frac{७}{१}=\frac{४९\times९}{२}$ प्राप्त हुआ। अंश और हर को ७ से गुणित करने पर $\frac{३४३\times९}{१४}$ घनराजू प्राप्त होता है, इसलिए गाथा में नौ से गुणित लोक में १४ का भाग देने को कहा गया है।

यवमुरज का सम्मिलित घनफल इस प्रकार है--

जबकि अर्धयव का घनफल $(\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{५}\times\frac{७}{१})=\frac{४९}{२०}$ घनराजू है, तब दोनों पार्श्व भागों के ५० अर्धयवों का कितना घनफल होगा ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{४९}{२०}\times\frac{५०}{१}=\frac{३४५}{२}$ अर्थात् १२२$\frac{१}{२}$ घनराजू प्राप्त हुए।

इसी प्रकार अर्धमुरज हेतु ($\frac{७}{२}$ भूमि $+\frac{१}{१}$ मुख) $=\frac{९}{२}$, तथा घनफल $=\frac{९}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}\times\frac{७}{१}=\frac{४४१}{४}$ घनराजू है। जबकि अर्धमुरज का घनफल $\frac{४४१}{४}$ घनराजू है तब सम्पूर्ण (एक) मुरज का कितना होगा ? $\frac{४४१}{४}\times\frac{२}{१}$ $\frac{४४१}{२}$ अर्थात् २२०$\frac{१}{२}$ घनराजू होता है। इन दोनों का योग कर देने से (१२२$\frac{१}{२}$ $+$ २२०$\frac{१}{२}$) $=$ ३४३ घनराजू सम्पूर्ण यवमुरज का घनफल प्राप्त होता है।

यव मध्यक्षेत्र का घनफल एवं उसकी आकृति

घण-फलमेक्कम्मि जवे, [1]पंचत्तीसद्ध-भाजिदो लोओ।
तं पणतीसद्ध[2]-हदं, सेढि-घणं होदि जव-खेत्तं ॥२२१॥

$$\left|\,\frac{\equiv}{३५}\,^{२}\,\middle|\,\equiv\,\right|$$

---

१. द. ब. पंचतीसदुमाजिदो। २. द. ब. तप्पणतीसं दुहद।

अर्थ—यवमध्य क्षेत्र में एक यव का घनफल पैंतीस के आधे साढ़े-सत्तरह से भाजित लोक-प्रमाण है। इसको पैंतीस के आधे साढ़े सत्तरह से गुणा करने पर जगच्छ्रेणी के घन-प्रमाण सम्पूर्ण यवमध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है ॥२२१॥

विशेषार्थ—यवमध्य क्षेत्र की आकृति निम्न प्रकार है। इसकी रचना भी लोक अर्थात् ३४३ घनराजू के प्रमाण को दृष्टि में रखकर की जा रही है। यथा—

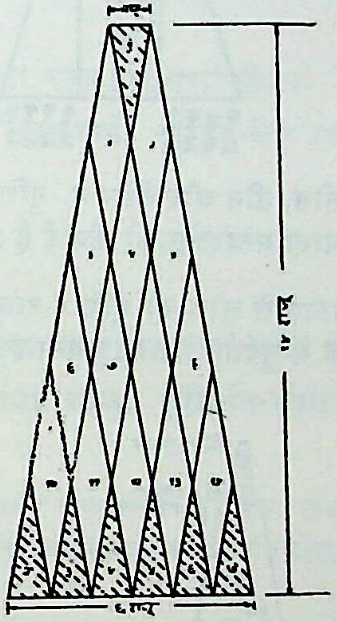

इस आकृति की ऊँचाई १४ राजू, भूमि ६ राजू और मुख एक राजू है। इसमें एक राजू चौड़े, $\frac{१४}{५}$ राजू ऊँचे और ७ राजू मोटाई वाले ३५ अर्धयव बनते हैं, अर्थात् १७ यव पूर्ण और एक यव आधा बनता है इसीलिए गाथा में लोक (३४३ घनराजू) को १७$\frac{१}{२}$ से भाजित कर एक यव का क्षेत्रफल १९$\frac{३}{५}$ घनराजू निकाला गया है और इसे पुनः १७$\frac{१}{२}$ से गुणित करके सम्पूर्ण लोक का घनफल ३४३ घनराजू निकाला गया है।

एक अर्धयव का घनफल $\frac{१}{१}\times\frac{१}{१}\times\frac{१४}{५}\times\frac{७}{१}=\frac{१४}{५}$ अर्थात् ९$\frac{४}{५}$ घनराजू है। पूर्ण यव का घनफल $\frac{४९}{५}\times\frac{२}{१}=\frac{९८}{५}$ अर्थात् १९$\frac{३}{५}$ घनराजू है जब एक अर्धयव का घनफल $\frac{४९}{५}$ घनराजू है तब ३५ अर्धयवों का घनफल कितना होगा? ऐसा त्रैराशिक करने पर $\frac{४९}{५}\times\frac{३५}{१}=३४३$ घनराजू होगा।

लोक में मन्दर मेरु की ऊँचाई एवं उसकी आकृति

[1]चउ-दु-ति-इगितीसेहिं, तिय-तेवीसेहि गुणिद-रज्जूओ ।
तिय-तिय-दु-छ-दु-छ भजिदा, मंदर-खेत्तस्स उस्सेहो ॥२२२॥

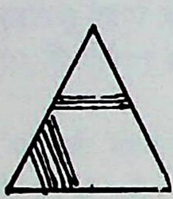

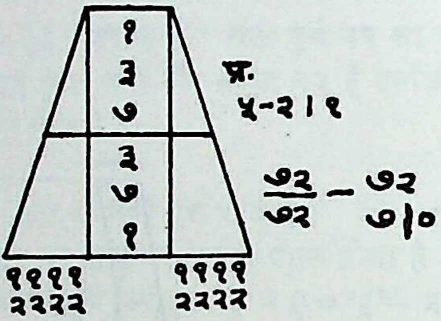
१
३
७
प्र.
५-२।१
३
७
१
७२/७२ – ७२/७।०
११११
२२२२
११११
२२२२

अर्थ— चार, दो, तीन, इकतीस, तीन और तेईस से गुणित, तथा क्रमशः तीन, तीन, दो, छह, दो और छह से भाजित राजू प्रमाण मन्दरक्षेत्र की ऊँचाई है ॥२२२॥

विशेषार्थ—३४३ घनराजू मापवाले लोक की भूमि ६ राजू, मुख एक राजू और ऊँचाई १४ राजू मानकर मन्दराकार अर्थात् लोक में सुदर्शन मेरु की रचना इस प्रकार से की गई है—

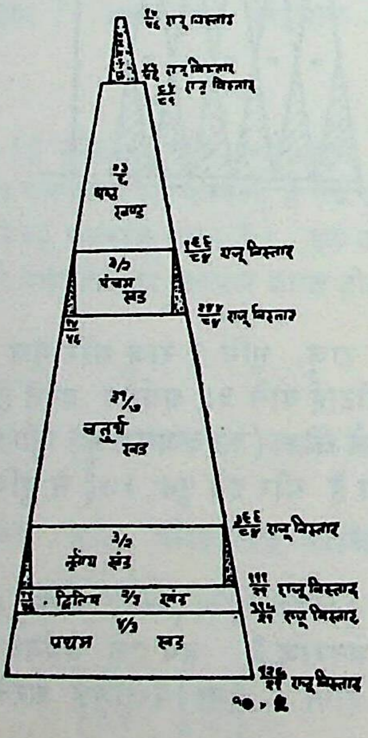
राजू विस्तार
राजू विस्तार
राजू विस्तार
२३/६
षष्ठ खण्ड
राजू विस्तार
३/२
पंचम खंड
राजू विस्तार
३१/६
चतुर्थ खंड
राजू विस्तार
३/२
तृतीय खंड
राजू विस्तार
द्वितीय २/३ खंड
राजू विस्तार
४/३
प्रथम खंड
राजू विस्तार

---

१. द. ब. चदुतिइगितीसहिं ।

इस आकृति में $\frac{४}{३}$ राजू पृथिवी में सुदर्शन मेरु की नींव (जड़) अर्थात् १००० योजन का, $\frac{२}{३}$ राजू भद्रशालवन से नन्दनवन तक की ऊँचाई अर्थात् ५०० योजन का, $\frac{३}{२}$ राजू नन्दनवन से ऊपर समरुन्द्र भाग (समान विस्तार) तक का अर्थात् ११००० योजन का, $\frac{३१}{६}$ सौमनस वन के प्रमाण अर्थात् ५१५०० योजन का, उसके ऊपर $\frac{३}{२}$ राजू समविस्तार अर्थात् ११००० योजन का और उसके बाद $\frac{२३}{६}$ राजू समविस्तार के अन्त से पाण्डुकवन अर्थात् २५००० योजन का प्रतीक है।

अन्तरवर्ती चार त्रिकोणों से चूलिका की सिद्धि एवं उसका प्रमाण

पण्णरस-हदा रज्जू, छप्पण्ण-हिदा [1]तडाण वित्थारो ।
पत्तेक्कं [2]तक्करणे, खंडिद-खेत्तेण चूलिया सिद्धा ॥२२३॥

३६७ १५[3]

पणदाल-हदा रज्जू, छप्पण्ण-हिदा हवेदि भू-वासो ।
उदओ दिवड्ढ-रज्जू, भूमि-ति-भागेण मुह-वासो ॥२२४॥

अर्थ—पन्द्रह से गुणित और छप्पन से भाजित राजू प्रमाण चूलिका के प्रत्येक तटों का विस्तार है। उस प्रत्येक अन्तरवर्ती करणाकार अर्थात् त्रिकोण खण्डित क्षेत्र से चूलिका सिद्ध होती है ॥२२३॥

चूलिका की भूमि का विस्तार पैंतालीस से गुणित और छप्पन से भाजित एक राजू प्रमाण ($\frac{४५}{५६}$ राजू) है। उसी चूलिका की ऊँचाई डेढ राजू ($१\frac{१}{२}$) और मुख-विस्तार भूमि के विस्तार का तीसरा भाग अर्थात् तृतीयांश ($\frac{१५}{५६}$) है ॥२२४॥

विशेषार्थ—मन्दराकृति में नन्दन और सौमनस वनों के ऊपरी भाग को समतल करने के लिए दोनों पार्श्व भागों में जो चार त्रिकोण काटे गये हैं, उनमें प्रत्येक की चौड़ाई $\frac{१५}{५६}$ राजू और ऊँचाई $१\frac{१}{२}$ राजू है। इन चारों त्रिकोणों में से तीन त्रिकोणों को सीधा और एक त्रिकोण को पलटकर उलटा रखने से चूलिका की भूमि का विस्तार ($\frac{४५}{५६}$) राजू, मुखविस्तार $\frac{१५}{५६}$ राजू और ऊँचाई $१\frac{१}{२}$ राजू प्रमाण प्राप्त होती है।

---

१. द. ज. क. ठ. तदाण । २. ज. ठ. तक्कारण । ३. द. ज. ३८२ ४५ । क $\frac{=}{४५}$ ।

हानि-वृद्धि (चय) एवं विस्तार का प्रमाण

भूमीअ मुहं[1] सोहिय, उदय-हिदे भूमुहादु हाणि-चया ।
[2]छक्केक्कक्कु-मुह-रज्जू, उस्सेहा दुगुण-सेढीए ॥२२५॥

। ७ ६ । ७ १ । –२ ।

तक्खय-वड्ढि-विमाणं, चोद्दस-भजिदाइ पंच-रूवाणि ।
णिय-णिय-उदए पहदं, आणेज्जं[3] तस्स तस्स खिदि-वासं ॥२२६॥

| $\frac{५}{१४}$ |

अर्थ—भूमि में से मुख को घटा कर शेष में ऊँचाई का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना भूमि की अपेक्षा हानि और मुख की अपेक्षा वृद्धि का प्रमाण होता है। यहाँ भूमि का प्रमाण छह राजू, मुख का प्रमाण एक राजू, और ऊँचाई का प्रमाण दुगुणित श्रेणी अर्थात् चौदह राजू है ॥२२५॥

अर्थ—हानि और वृद्धि का वह प्रमाण चौदह से भाजित पाँच, अर्थात् एक राजू के चौदह भागों में से पाँच भाग मात्र है। इस क्षय-वृद्धि के प्रमाण को अपनी-अपनी ऊँचाई से गुणा करके विवक्षित पृथिवी (क्षेत्र) के विस्तार को ले आना चाहिए ॥२२६॥

विशेषार्थ—इस मन्दराकृति लोक की भूमि ६ राजू और मुख विस्तार एक राजू है। यह मध्य में किस अनुपात से घटा है उसका चय निकालने के लिए भूमि में से मुख को घटाकर शेष (६—१)=५ राजू में १४ राजू ऊँचाई का भाग देने पर हानि-वृद्धि का $\frac{५}{१४}$ चय प्राप्त होता है। इस चय का अपनी ऊँचाई में गुणा कर देने से हानि का प्रमाण प्राप्त होता है। उस हानि प्रमाण को पूर्व विस्तार में से घटा देने पर ऊपर का विस्तार प्राप्त हो जाता है।

मेरु सदृश लोक के सात स्थानों का विस्तार प्राप्त करने हेतु गुणकार एवं भागहार

मेरु-सरिच्छम्मि जगे, सत्त-ट्ठाणेसु ठविय उड्ढुड्ढं ।
रज्जूओ रुंदट्ठं, [4]वोच्छं गुणयार-हाराणि ॥२२७॥

---

१. द. ज. ठ. मुहवासो, ब. क. मुहसोही । २. द. कुमह । ३. द. ब. ज. ठ. अणेज्जघत्तस्स, क. अणेज्जय तस्स तस्स । ४. द. ज. ठ. रुंदे वोच्छं, ब. क. रुंदे दो वोज्छं ।

छव्वीसब्भहिय - सयं, सोलस - एक्कारसादिरित्त - सया ।
[1]इगिवीसेहि विहत्ता, तिसु ट्ठाणेसु हवंति हेट्ठादो ।।२२८।।

$_{१४७}$१२६ । $_{१४७}$११६ । $_{१४७}$१११ ।

एक्कोण - चउसयाइं, दु-सया-चउदाल-दुसयमेक्कोणं ।
चउसीदी चउठाणे, होदि हु चउसीदि - पविहत्ता ।।२२९।।

। $_{५८८}$३९९ । $_{५८८}$२४४ । $_{५८८}$१९९ । $_{५८८}$८४ ।

अर्थ—मेरु के सदृश लोक में, ऊपर-ऊपर सात स्थानों में राजू को रखकर विस्तार को लाने के लिए गुणकार और भागहारों को कहता हूँ ।।२२७।।

अर्थ—नीचे से तीन स्थानों में इक्कीस से विभक्त एक सौ छब्बीस, एक सौ सोलह और एक सौ ग्यारह गुणकार हैं ।।२२८।।

$\frac{७\times१२६}{१४७} - \frac{१२६}{२१}$; $\frac{७\times११६}{१४७} = \frac{११६}{२१}$; $\frac{७\times१११}{१४७} = \frac{१११}{२१}$ ।

अर्थ—इसके आगे चार स्थानों में क्रमशः चौरासी से विभक्त एक कम चार सौ (३९९), दो सौ चवालीस, एक कम दो सौ (१९९) और चौरासी, ये चार गुणकार हैं ।।२२९।।

$\frac{७\times३९९}{५८८} = \frac{३९९}{८४}$; $\frac{७\times२४४}{५८८} = \frac{२४४}{८४}$; $\frac{७\times१९९}{५८८} = \frac{१९९}{८४}$; $\frac{७\times८४}{५८८} = \frac{८४}{८४}$ ।

विशेषार्थ—मेरु सदृश लोक का विस्तार तल भाग में ६ राजू है। इससे $\frac{४}{३}$ राजू ऊपर जाकर लोकमेरु का विस्तार इस प्रकार प्राप्त होता है। यथा—एक राजू ऊपर जाने पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है, अतः $\frac{४}{३}$ राजू की ऊँचाई पर $(\frac{५}{१४}\times\frac{४}{३}) = \frac{१०}{२१}$ राजू की हानि हुई। इसे ६ राजू विस्तार में से घटा देने पर $(\frac{६}{१} - \frac{१०}{२१}) = \frac{११६}{२१}$ राजू भद्रशालवन पर लोकमेरु का विस्तार है। क्योंकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है, अतः $\frac{२}{३}$ राजू की ऊँचाई पर $(\frac{५}{१४}\times\frac{२}{३}) = \frac{५}{२१}$ राजू की हानि हुई। इसे पूर्ण विस्तार $\frac{११६}{२१}$ में से घटा देने पर $(\frac{११६}{२१} - \frac{५}{२१}) = \frac{१११}{२१}$ राजू विस्तार नन्दनवन पर लोकमेरु का है। क्योंकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अतः $\frac{३}{२}$ राजू पर $(\frac{५}{१४} - \frac{३}{२}) = \frac{१५}{२८}$ राजू की हानि प्राप्त हुई। इसें पूर्व विस्तार $\frac{१११}{२१}$ में से घटाने पर $(\frac{१११}{२१} - \frac{१५}{२८}) = \frac{३९९}{८४}$ राजू समविस्तार के

---

[1] ब. क. इगवीसे वि । द. इगवीसे वि तहत्था तिसु ठाणेसु ठविय हवंति । ज. ठ. तिहत्ता ।

ऊपर का विस्तार प्राप्त होता है। क्योंकि एक राजू की ऊँचाई पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अतः $\frac{३१}{६}$ राजू पर ($\frac{३१}{६} \times \frac{५}{१४}$) = $\frac{१५५}{८४}$ राजू की हानि हुई।

इसे पूर्व विस्तार $\frac{३६६}{८४}$ में से घटा देने पर ($\frac{३६६}{८४}$ -- $\frac{१५५}{८४}$) = $\frac{२४४}{८४}$ राजू सौमनस वन पर लोकमेरु का विस्तार होता है। क्योंकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अतः $\frac{३}{२}$ राजू पर ($\frac{३}{२} \times \frac{५}{१४}$) = $\frac{१५}{२८}$ राजू की हानि हुई। इसे पूर्वोक्त विस्तार $\frac{२४४}{८४}$ में से घटाने पर ($\frac{२४४}{८४}$ — $\frac{१५}{२८}$) = $\frac{१९९}{८४}$ राजू सौमनस वन के समरुन्द्र भाग के ऊपर का विस्तार है। क्योंकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अतः $\frac{२३}{६}$ राजू पर ($\frac{२३}{६} \times \frac{५}{१४}$) = $\frac{११५}{८४}$ राजू की हानि हुई। इसे पूर्वोक्त विस्तार $\frac{१९९}{८४}$ में से घटा देने पर ($\frac{१९९}{८४}$ -- $\frac{११५}{८४}$) = $\frac{८४}{८४}$ अर्थात् पाण्डुकवन पर लोकमेरु का विस्तार एक राजू प्राप्त होता है ॥२२७-२२९॥

घनफल प्राप्त करने हेतु गुणकार एवं भागहार

मंदर-सरिसम्मि जगे, सत्तसु ठाणेसु ठविय रज्जु-घणं।
हेट्ठादु घणफल स य, वोच्छं गुणगार-हाराणि ॥२३०॥

चउसीदि-चउसयाणं, सत्तावीसाधिया य दोण्णि सया।
एक्कोण-चउ-सयाइं, वीस-सहस्सा विहीण-सगसट्ठी ॥२३१॥

एक्कोणा दोण्णि-सया, पण-सट्ठि-सयाइ णव-जुदाणि पि।
पंचत्तालं एदे, गुणगारा सत्त - ठाणेसु ॥२३२॥

अर्थ—मन्दर के सदृश लोक में घनफल लाने के लिए नीचे से सात स्थानों में घनराजू को रखकर गुणकार और भागहार कहते हैं ॥२३०॥

अर्थ- चार सौ चौरासी, दो सौ सत्ताईस, एक कम चार सौ अर्थात् तीन सौ निन्यानवै, सड़सठ कम बीस हजार, एक कम दो सौ, नौ अधिक पैंसठ सौ और पैंतालीस, ये क्रम से सात स्थानों में सात गुणकार हैं ॥२३१-२३२॥

विशेषार्थ—लोकमेरु के सात खण्ड किये गये हैं। इन सातों खण्डों का भिन्न-भिन्न घनफल प्राप्त करने के लिए "मुख-भूमि जोगदले पदहदे" सूत्रानुसार प्रक्रिया करनी चाहिए। यथा—लोकमेरु अर्थात् प्रथम खण्ड की जड़ की भूमि $\frac{१२६}{२१}$ + $\frac{११६}{२१}$ मुख - $\frac{२४२}{२१}$, तथा घनफल = $\frac{२४२}{२१} \times \frac{१}{२} \times \frac{४}{३} \times \frac{७}{१}$ = $\frac{४८४}{९}$ घनराजू है। [यहाँ भूमि और मुख के योग को आधा करके $\frac{४}{३}$ राजू ऊँचाई और ७ राजू मोटाई से गुणित किया गया है। यही नियम सर्वत्र जानना चाहिए।]

भद्रशालवन से नन्दनवन अर्थात् द्वितीय खण्ड की भूमि $\frac{११६}{२१}+\frac{१११}{२१}$ मुख $=\frac{२२७}{२१}$ तथा घनफल $=\frac{२२७}{२१}\times\frac{१}{२}\times\frac{२}{३}\times\frac{७}{१}=\frac{२२७}{९}$ घनराजू प्राप्त होता है।

नन्दनवन से समविस्तार क्षेत्र तक अर्थात् तृतीय खण्ड की भूमि $\frac{३९९}{८४}+\frac{३९९}{८४}$ मुख, $\frac{७९८}{८४}$, तथा घनफल $=\frac{७९८}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{३९९}{८}$ घनराजू तृतीय खण्ड का घनफल है।

समविस्तार से सौमनसवन अर्थात् चतुर्थ खण्ड की भूमि $\frac{३९९}{८४}+\frac{२४४}{८४}$ मुख $=\frac{६४३}{८४}$, तथा घनफल $=\frac{६४३}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३१}{६}\times\frac{७}{१}=\frac{१९९३३}{१४४}$ घनराजू चतुर्थ खण्ड का घनफल है।

सौमनसवन के ऊपर सम विस्तार क्षेत्र तक अर्थात् पंचम खण्ड की भूमि $\frac{१९९}{८४}+\frac{१९९}{८४}=\frac{३९८}{८४}$ तथा घनफल $=\frac{३९८}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{१९९}{८}$ घनराजू है।

समविस्तार क्षेत्र से ऊपर पाण्डुकवन तक अर्थात् षष्ठ खण्ड की भूमि $\frac{१९९}{८४}+\frac{८४}{८४}$ मुख $=\frac{२८३}{८४}$ तथा घनफल $=\frac{२८३}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{२३}{६}\times\frac{७}{१}=\frac{६५०९}{१४४}$ घनराजू प्राप्त होता है।

पाण्डुकवन के ऊपर चूलिका अर्थात् सप्तम खण्ड की भूमि $\frac{४५}{५६}+\frac{१५}{५६}$ मुख $=\frac{६०}{५६}$ तथा घनफल $=\frac{६०}{५६}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{४५}{८}$ घनराजू चूलिका का घनफल है ॥२३०-२३२॥

सप्त स्थानों के भागहार एवं मन्दरमेरु लोक का घनफल

णव णव [1]अट्ठ य बारस-वग्गो अट्ठं सयं च चउदालं।
अट्ठं एदे कमसो, हारा सत्तेसु ठाणेसु ॥२३३॥

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{४८४}{९}\right|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{२२७}{९}\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{३९९}{८}\right|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{१९९३३}{१४४}\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{१९९}{८}\right|$$

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{६५०९}{१४४}\right|\frac{\equiv}{३४३}\;\frac{४५}{८}\Big|$$

अर्थ—नौ, नौ, आठ, बारह का वर्ग, आठ, एक सौ चवालीस और आठ, ये क्रमशः सात स्थानों में सात—भागहार हैं ॥२३३॥

विशेषार्थ—इन सातों खण्डों के घनफलों का योग इस प्रकार है—

---

[1] द. ब. अद्धं वारसवग्गे णवणव अट्ठय। ज. क. ठ. अट्ठं वारसवग्गे णवणव अट्ठय।

$$\frac{४८४}{९}+\frac{२२७}{९}+\frac{३९९}{८}+\frac{१९९३३}{१४४}+\frac{१९९}{८}+\frac{६५०९}{१४४}+\frac{४५}{८}=$$

$$\frac{७७४४+३६३२+७१८२+१९९३३+३५८२+६५०९+८१०}{१४४}=\frac{४९३९२}{१४४}$$

अर्थात् लोकमन्दर मेरु का सम्पूर्ण घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त होता है।

दूष्यलोक का घनफल और उसकी आकृति

[1]सत्त-हिद-दु-गुण-लोगो, विंदफलं बाहिरुभय-बाहूणं।
पण-भजि-दु-गुणं लोगो, दूसस्सब्भंतरोभय-भुजाणं ॥२३४॥

$$\left|\ \frac{\equiv}{७}\ २\ \right|\ \frac{\equiv}{५}\ २\ \left|\right.$$

अर्थ—दूष्य क्षेत्र की बाहरी दोनों भुजाओं का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोकप्रमाण होता है। तथा भीतरी दोनों भुजाओं का घनफल पाँच से भाजित और दो से गुणित लोकप्रमाण है ॥२३४॥

विशेषार्थ—दूष्य नाम डेरे का है। ३४३ घनराजू प्रमाण वाले लोक की रचना दूष्याकार करने पर इसकी आकृति इस प्रकार से होगी—

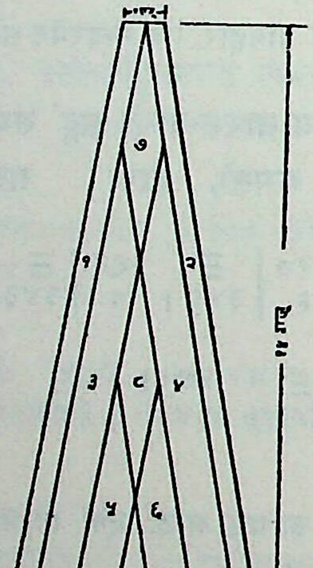

---

[1] ज. ठ. सत्त हिद दुगु लोगो। द. सत्त हिद दुगु लोगो।

इस लोक दूष्याकार की भूमि ६ राजू, मुख एक राजू, ऊँचाई १४ राजू और वेध ७ राजू है। इस दूष्य क्षेत्र की दोनों बाहरी भुजाओं अर्थात् क्षेत्र संख्या १ और २ का घनफल इस प्रकार है—

संख्या एक और दो के क्षेत्रों में भूमि और मुख का अभाव है। क्षेत्र विस्तार $\frac{१}{२}$ राजू, ऊँचाई १४ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $\frac{१}{२}\times\frac{१४}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=९८$ घनराजू घनफल दोनों बाहरी भुजाओं वाले क्षेत्रों का है।

भीतरी दोनों भुजाओं का अर्थात् क्षेत्र संख्या ३ और ४ का घनफल इस प्रकार है—इन क्षेत्रों की ऊँचाई में मुख $\frac{५६}{५}$ और भूमि $\frac{४२}{५}$ राजू है। दोनों का योग $\frac{५६}{५}+\frac{४२}{५}=\frac{९८}{५}$ राजू हुआ। इनका विस्तार एक राजू और वेध (मोटाई) ७ राजू है, अतः $\frac{९८}{५}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{६८६}{५}$ अर्थात् १३७$\frac{१}{५}$ घनराजू दोनों भीतरी क्षेत्रों का घनफल प्राप्त होता हैं।

तस्साइं लहु-बाहुं, [1]छग्गुण-लोओ अ पणत्तीस-हिदो।
विदफलं जव-खेत्ते, लोओ [2]सत्तेहि पविहत्तो ॥२३५॥

$$\left|\ \begin{matrix}\equiv & ६\\ ३५ & \end{matrix}\ \right|\ \begin{matrix}\equiv\\ ७\end{matrix}\ \Big|$$

अर्थ—इसी क्षेत्र में उसके लघु बाहु का घनफल छह से गुणित और पैंतीस से भाजित लोक-प्रमाण, तथा यवक्षेत्र का घनफल सात से विभक्त लोकप्रमाण है ॥२३५॥

विशेषार्थ—अभ्यन्तर लघु बाहुओं अर्थात् क्षेत्र संख्या ५ और ६ का घनफल इस प्रकार है—दोनों क्षेत्रों की भूमि ऊँचाई में $\frac{१४}{५}$ और मुख $\frac{२८}{५}$ राजू है। दोनों का योगफल $\left(\frac{२८}{५}+\frac{१४}{५}\right)=\frac{४२}{५}$ राजू है, अतः $\frac{४२}{५}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{२९४}{५}$ अर्थात् ५८$\frac{४}{५}$ घनराजू हुआ। आकृति के मध्य में बने हुए दो पूर्ण यव और एक अर्धयव अर्थात् क्षेत्र संख्या ७-८ और ९ का घनफल इस प्रकार है—

अर्ध यव की भूमि १ राजू, मुख ०, ऊँचाई $\frac{२८}{५}$ राजू तथा वेध ७ राजू है। आकृति में दो यव पूर्ण एवं एक यव आधा है, अतः $\frac{५}{२}$ से गुणित करने पर घनफल $=\left(\frac{१}{१}+०\right)\times\frac{१}{२}\times\frac{२८}{५}\times\frac{७}{१}\times\frac{५}{२}=४९$ घनराजू यव क्षेत्रों का घनफल प्राप्त होता है। इन चारों क्षेत्रों का अर्थात् दूष्यक्षेत्र का एकत्र घनफल इस प्रकार होगा—

$९८+१३७\frac{१}{५}+५८\frac{४}{५}+४९=३४३$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

---

[1] द. क. ज. ठ. तग्गुणलोओ अप्पट्ठिसहिदाओ। ब. तग्गुणलोओ अ पट्ठिसहिदाओ। [2] द. ब. क. ज. ठ. सत्ते वि।

गिरिकटक लोक का घनफल और उसकी आकृति

एक्कस्सिं गिरिगडए, विंदफलं पंचतीस हिद लोगो ।
तं पणतीसप्पहिदं, सेढि-घणं घणफलं तम्हि ॥२३६॥

$$\left|\ \frac{\equiv}{३५}\ \right|\ \equiv\ \Big|$$

अर्थ—एक गिरिकटक का घनफल लोक के घनफल में ३५ का भाग देने पर ($\frac{\equiv}{३५}$ रूप में) प्राप्त होता है। जब इसमें ($\frac{३४३}{३५}$ में) ३५ का गुणा किया जाता है तब (सम्पूर्ण गिरिकटक लोक का) घनफल श्रेणीघन ($\equiv$ रूप में) प्राप्त हो जाता है ॥२३६॥

विशेषार्थ—३४३ घनराजू प्रमाण वाले लोक का गिरिकटक की रचना के माध्यम से घनफल निकाला गया है। गिरि (पर्वत) नीचे चौड़े और ऊपर सँकरे होते हैं किन्तु कटक इनसे विपरीत अर्थात् नीचे सँकरे और ऊपर चौड़े होते हैं। यथा—

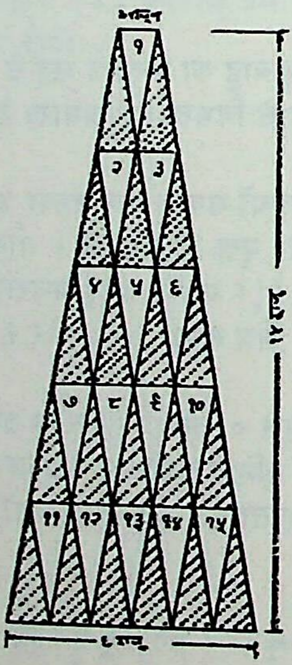

उपर्युक्त लोकगिरिकटक के चित्रण में २० गिरि और १५ कटक प्राप्त होते हैं। इन गिरि और कटक दोनों का विस्तार एवं ऊँचाई आदि सदृश ही हैं। इनका घनफल इस प्रकार है—

एक गिरि या कटक का भूमि-विस्तार १ राजू, मुख ०, ऊँचाई $\frac{१४}{५}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $\{(\frac{१}{१}+०)-\frac{१}{१}\}\times\frac{१}{२}\times\frac{१४}{५}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{५}$ घनराजू एक गिरि या एक कटक का घनफल प्राप्त हुआ। जब एक गिरि या कटक का घनफल $\frac{३४३}{३५}$ अर्थात् $\frac{४९}{५}$ घनराजू है, तब $(२०+१५)=३५$ गिरिकटकों का कितना घनफल होगा ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{४९}{५}\times\frac{३५}{१}=३४३$ घनराजू अर्थात् ३५ गिरिकटकों से व्याप्त सम्पूर्ण लोक का घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त होता है।

अधोलोक का घनफल कहने की प्रतिज्ञा

एवं अट्ठ-वियप्पा, सयलजगे वण्णिदा समासेण ।
एण्हं अट्ठ-पयारं, हेट्ठिम लोयस्स वोच्छामि ॥२३७॥

अर्थ—इस प्रकार आठ विकल्पों से समस्त लोकों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अधोलोक के आठ प्रकारों का वर्णन करूंगा ॥२३७॥

सामान्य एवं ऊर्ध्वायित (आयत चतुरस्र) अधोलोक का घनफल एवं आकृतियाँ

सामण्णे विंदफलं, सत्तहिदो होदि चउगुणो लोगो ।
विदिए वेद भुजाओ, सेढी कोडी य चउरज्जू ॥२३८॥

$$\left|\ \frac{\equiv}{७}\ ४\ \right|\ -\ \left|\ -\ \right|\ \frac{-}{७}\ ४\ \right|$$

अर्थ—सामान्य अधोलोक का घनफल लोक के घनफल ($\equiv$) में ४ का गुणा एवं ७ का भाग देने पर प्राप्त होता है और दूसरे आयत चतुरस्र क्षेत्र की भुजा एवं वेध श्रेणीप्रमाण तथा कोटि ४ राजू प्रमाण है। अर्थात् भुजा ७ राजू, वेध सात राजू और कोटि चार राजू प्रमाण है ॥२३८॥

विशेषार्थ—१. सामान्य अधोलोक का घनफल—

सामान्य अधोलोक की भूमि ७ राजू और मुख एक राजू है, इन दोनों को जोड़कर उसका आधा करने से जो लब्ध प्राप्त हो उसमें ७ राजू ऊँचाई और ७ राजू वेध का गुणा करने से घनफल प्राप्त होता है। यथा—$(७+१)=८\div२=४\times७\times७=१९६$ घनराजू सामान्य अधोलोक का घनफल है। इसका चित्रण इस प्रकार है—

१. सामान्य अधोलोक का चित्रण—

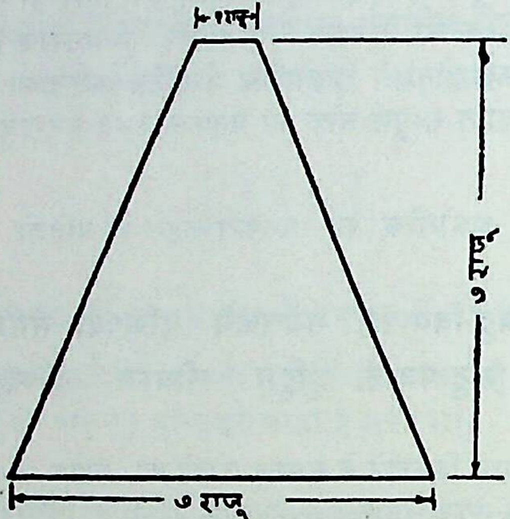

२. आयतचतुरस्र अर्थात् ऊर्द्धायत अधोलोक का घनफल—

ऊर्द्धता अर्थात् लम्बे और चौकोर क्षेत्र के घनफल को ऊर्द्धायत घनफल कहते हैं। सामान्य अधोलोक की चौड़ाई के मध्य में अ और ब नाम के दो खण्ड कर ब खण्ड के समीप अ खण्ड को उल्टा रख देने से आयत चतुरस्र क्षेत्र बन जाता है। यथा—

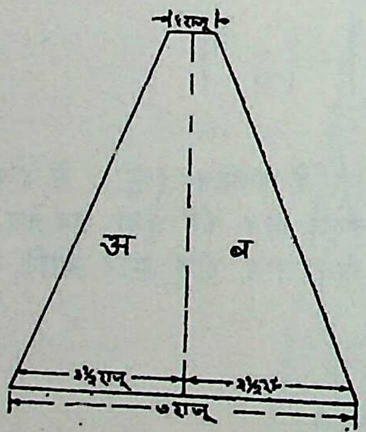
१ राजू
अ
ब
३½ राजू
३½ राजू
७ राजू

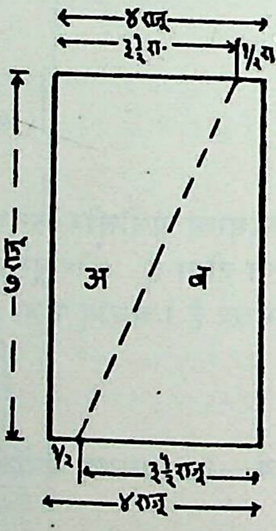
४ राजू
३½ रा.
½ रा.
७ राजू
अ
ब
½
३½ राजू
४ राजू

घनफल—इस आयतचतुरस्र (ऊर्द्धायत) क्षेत्र की भुजा, श्रेणी प्रमाण अर्थात् ७ राजू, कोटि ४ राजू और वेध ७ राजू है, अत: ७×४×७=१९६ घनराजू आयतचतुरस्र अधोलोक का घनफल है।

३. तिर्यगायत अधोलोक का घनफल—(त्रिलोकसार गा० ११५ के आधार से)

जिस क्षेत्र की लम्बाई अधिक और ऊँचाई कम हो उसे तिर्यगायत क्षेत्र कहते हैं। अधोलोक की भूमि ७ राजू और मुख १ राजू है। ७ राजू ऊँचाई के समान दो भाग करने पर नीचे (सख्या १) का भाग ३½ राजू ऊँचा, ७ राजू भूमि, ४ राजू मुख और ७ राजू वेध (मोटाई) वाला हो जाता है। ऊपर के भाग के चौड़ाई की अपेक्षा दो भाग करने पर प्रत्येक भाग ३½ राजू ऊँचा, २ राजू भूमि, ½ राजू मुख और ७ राजू वेध वाला प्राप्त होता है। इन दोनों (संख्या २ और संख्या ३) भागों को नीचे वाले (संख्या १) भाग के दायीं और बायीं ओर उलट कर स्थापन करने से ३½ राजू ऊँचा और आठ राजू लम्बा तिर्यगायत क्षेत्र बन जाता है।

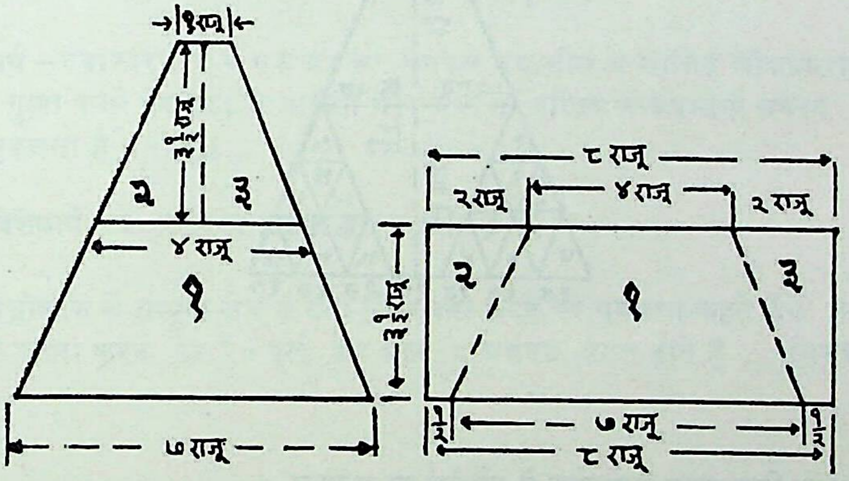

घनफल—यह आयतक्षेत्र ८ राजू लम्बा, ३½ राजू चौड़ा और ७ राजू मोटा है, अतः $\frac{८}{१} \times \frac{७}{२} \times \frac{७}{१} =$ १९६ घनराजू तिर्यगायत अधोलोक का घनफल प्राप्त हो जाता है।

यवमुरज अधोलोक की आकृति एवं घनफल

खेत्त-जवे विंदफलं, चोद्दस-भजिदो य तिय-गुणो लोओ।
मुरव-मही विंदफलं, चोद्दस भजिदो य पण-गुणो लोओ ॥२३९॥

$$\left| \frac{\equiv}{१४}\ ३ \,\middle|\, \frac{\equiv}{१४}\ ५ \right|$$

अर्थ—(यव-मुरजक्षेत्र में) यवाकार क्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक-प्रमाण तथा मुरजक्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित और पाँच से गुणित लोकप्रमाण है ।।२३९।।

विशेषार्थ—४. अधोलोक को यव (जौ अन्न) और मुरज (मृदङ्ग) के आकार में विभाजित करना यवमुरजाकार कहलाता है । इसकी आकृति इस प्रकार है—

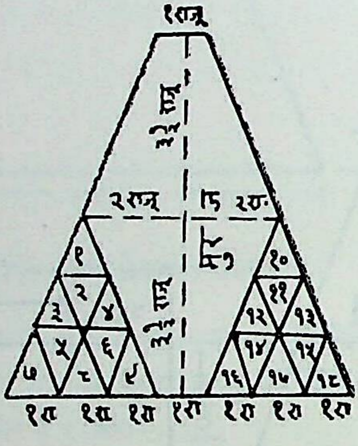

उपर्युक्त चित्रगत अधोलोक में यवक्षेत्र का घनफल—

अधोलोक के दोनों पार्श्वभागों में १८ अर्धयव प्राप्त होते हैं । एक अर्धयव की भूमि १ राजू, मुख०, उत्सेध $\frac{७}{६}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $\frac{१}{१}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{६}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{१२}$ घनराजू घनफल प्राप्त हुआ । यतः १ अर्धयव का $\frac{४९}{१२}$ घनराजू घनफल है अतः १८ अर्धयवों का $\frac{४९}{१२}\times\frac{१८}{१}=\frac{१४७}{२}$ अर्थात् $७३\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है । लोक (३४३) को १४ से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसे ३ से गुणित कर देने पर भी $(३४३\div१४=२४\frac{१}{२})\times३=७३\frac{१}{२}$ घनराजू प्राप्त होते हैं, इसीलिए गाथा में चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक-प्रमाण घनफल कहा है ।

मुरज का घनफल—मुरजाकार क्षेत्र को बीच से आधा करने पर अर्धमुरज की भूमि ४ राजू, मुख १ राजू, उत्सेध $३\frac{१}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $(४+१=\frac{५}{१})\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{२४५}{४}$ घनराजू घनफल हुआ । यतः $\frac{१}{२}$ मुरज का घनफल $\frac{२४५}{४}$ घनराजू है अतः सम्पूर्ण मुरज का $\frac{२४५}{४}\times\frac{२}{१}=\frac{२४५}{२}$ अर्थात् $१२२\frac{१}{२}$ घनराजू हुआ । लोक (३४३) को १४ से भाजित कर, लब्ध को ५ से गुणित

करने पर भी (३४३ ÷ १४ = २४$\frac{१}{२}$) × ५ = १२२$\frac{१}{२}$ घनराजू प्राप्त होता है, इसीलिए गाथा में चौदह से भाजित और पाँच से गुणित मुरज का घनफल कहा है। इस प्रकार ७३$\frac{१}{२}$ + १२२$\frac{१}{२}$ = १९६ घनराजू यवमुरज अधोलोक का घनफल प्राप्त होता है।

यवमध्य अधोलोक का घनफल एवं आकृति

घणफलमेक्कम्मि जवे, लोओ [1]बादाल-भाजिदो होदि ।
तं चउवीसप्पहदं, सत्त - हिदो चउ - गुणो लोओ ॥२४०॥

$$\Big|\,\frac{\equiv}{\text{४२}}\,\Big|\,\frac{\equiv}{\text{७}}\ \text{४}\,\Big|$$

अर्थ – यवाकार क्षेत्र में एक यव का घनफल बयालीस से भाजित लोकप्रमाण है। उसको चौबीस से गुणा करने पर सात से भाजित और चार से गुणित लोकप्रमाण समस्त यवमध्यक्षेत्र का घनफल निकलता है ॥२४०॥

विशेषार्थ—५. यवमध्य अधोलोक का घनफल

अधोलोक के सम्पूर्ण क्षेत्र में यवों की रचना करने को यवमध्य कहते हैं। सम्पूर्ण अधोलोक में यवों की रचना करने पर २० पूर्ण यव और ८ अर्धयव प्राप्त होते हैं; जिनकी आकृति इस प्रकार है—

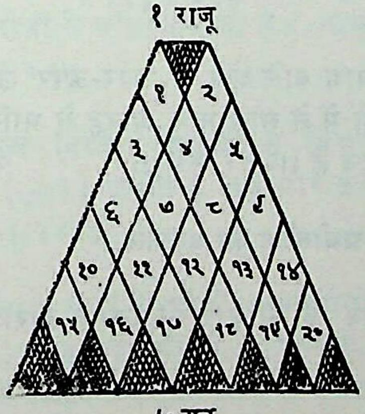

---

[1] क. बादार ए भाजिदो।

आकृति में बने हुए ८ अर्धयवों के ४ पूर्ण यव बनाकर सम्पूर्ण अधोलोक में (२०+४)=२४ पूर्ण यवों की प्राप्ति होती है। प्रत्येक यव के मध्य की चौड़ाई १ राजू और ऊपर-नीचे की चौड़ाई शून्य है तथा ऊँचाई $\frac{७}{३}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $\frac{१}{१}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{३}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{६}$ अर्थात् ८$\frac{१}{६}$ घनराजू एक यव का घनफल है। लोक (३४३) में ४२ का भाग देने पर भी ($\frac{३४३}{४२}$)=८$\frac{१}{६}$ प्राप्त होते हैं, इसीलिए गाथा में एक यव का घनफल बयालीस से भाजित लोकप्रमाण कहा गया है।

एक यव का घनफल $\frac{४९}{६}$ घनराजू है अतः २४ यवों का घनफल $\frac{४९}{६}\times\frac{२४}{१}$=१९६ घनराजू प्राप्त होता है। लोक (३४३) को ७ से भाजित कर ४ से गुणा करने पर भी (३४३÷७=४९×४)=१९६ घनराजू ही आते हैं इसीलिए गाथा में २४ यवों का घनफल सात से भाजित और चार से गुणित लोकप्रमाण कहा गया है।

मन्दरमेरु अधोलोक का घनफल और उसकी आकृति

रज्जूवो ते-भागं,[1] बारस-भागो तहेव सत्त-गुणो।
तेदालं[2] रज्जूओ, बारस-भजिदा हवंति उड्ढुड्ढं ॥२४१॥

$\frac{३}{४}$ । $\frac{७}{१२}$ । $\frac{४३}{१२}$ । $\frac{७}{१२}$ । $\frac{३}{२}$ ।

सत्त-हद-बारसंसा,[3] दिवड्ढ-गुणिदा हवेइ रज्जू य।
मंदर - सरिसायामे, उच्छेहा होइ खेत्तम्मि ॥२४२॥

। $\frac{\equiv}{४}$७ । $\frac{\equiv}{४}$३ ।

अर्थ—मन्दर के सदृश आयाम वाले क्षेत्र में ऊपर-ऊपर ऊँचाई, क्रम से एक राजू के चार भागों में से तीन भाग, बारह भागों में से सात भाग, बारह से भाजित तेतालीस राजू, राजू के बारह भागों में से सात भाग और डेढ राजू है ॥२४१-२४२॥

विशेषार्थ—६. मन्दरमेरु अधोलोक का घनफल—

अधोलोक में सुदर्शन मेरु के आकार की रचना द्वारा घनफल निकालने को मन्दर घनफल कहते हैं।

अधोलोक सात राजू ऊँचा है, उसमें नीचे से ऊपर की ओर ($\frac{१}{२}+\frac{१}{४}$) = $\frac{३}{४}$ राजू के प्रथम व द्वितीय खण्ड बने हैं। इनमें $\frac{१}{२}$ राजू, पृथिवी में सुदर्शन मेरु की जड़ अर्थात् १००० योजन के और $\frac{१}{४}$

---

१. द. ब. ज. क. ठ. तेदालं। २. द. ज. ठ. तेलंतं, ब. क. तेलंभं। ३. ब. क. बारसंसो।

राजू, भद्रशालवन से नन्दनवन तक की ऊँचाई अर्थात् ५०० योजन के प्रतीक हैं। इनके ऊपर का तृतीय खण्ड $\frac{७}{१२}$ राजू का है जो नन्दनवन से ऊपर समविस्तार क्षेत्र अर्थात् ११००० का द्योतक है। इसके ऊपर का चतुर्थ खण्ड $\frac{४३}{१२}$ राजू का है, जो समविस्तार से ऊपर सौमनस वन तक अर्थात् ५१५०० योजन के स्थानीय है। इसके ऊपर पंचम खण्ड $\frac{७}{१२}$ राजू का है जो सौमनस वन के ऊपर वाले समविस्तार अर्थात् ११००० योजन का प्रतीक है। इसके ऊपर षष्ठखण्ड $\frac{३}{२}$ राजू का है, जो समविस्तार से ऊपर पाण्डुकवन तक अर्थात् २५००० योजन का द्योतक है। इन समस्त खण्डों का योग ७ राजू होता है।

यथा—$\frac{१}{२}+\frac{१}{४}+\frac{७}{१२}+\frac{४३}{१२}+\frac{७}{१२}+\frac{३}{२}=\frac{८४}{१२}$　७ राजू।

अट्ठावीस-विहत्ता, सेढी मंदर-सरिसम्मि [1]तड-वासे।
[2]चउ-तड - करणक्खंडिद - खेत्तेणं चूलिया होदि ॥२४३॥

। २८१ ।

अट्ठावीस-विहत्ता, सेढी चूलीय होदि मुह-रुंदं।
तत्तिगुणं भू-वासं, सेढी बारस-हिदा तदुच्छेहो ॥२४४॥

। २८१ । २८३ । १२ ।

अर्थ—मन्दर सदृश क्षेत्र में तट भाग के विस्तार में से अट्ठाईस से विभक्त जगच्छ्रेणी प्रमाण चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों से चूलिका होती है। अर्थात् तटवर्ती प्रत्येक त्रिकोण की भूमि (२८१) $\frac{१}{४}$ राजू प्रमाण है ॥२४३॥

अर्थ—इस चूलिका का मुख विस्तार अट्ठाईस से विभक्त जगच्छ्रेणी (२८१) अर्थात् $\frac{१}{४}$ राजू, भूमि विस्तार इससे तिगुना (२८३) अर्थात् $\frac{३}{४}$ राजू और ऊँचाई बारह से भाजित जगच्छ्रेणी (१२) अर्थात् $\frac{७}{१२}$ राजू प्रमाण है ॥२४४॥

विशेषार्थ—दोनों समविस्तार क्षेत्रों के दोनों पार्श्वभागों में चार त्रिकोण काटे जाते हैं, उनमें से प्रत्येक त्रिकोण की भूमि $\frac{१}{४}$ राजू और ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू है। इन चारों त्रिकोणों में से तीन त्रिकोण सीधे और एक त्रिकोण को पलटकर उलटा रखने से चूलिका बन जाती है, जिसकी भूमि $\frac{२१}{२८}$ अर्थात् $\frac{३}{४}$ राजू, मुख $\frac{७}{२८}$ अर्थात् $\frac{१}{४}$ राजू और ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू प्रमाण है।

इस मन्दराकृति का चित्रण इस प्रकार है—

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. तलवासे। [2] द. ब. ज. क. ठ. चउतदकारणखंडिदखेत्तेण।

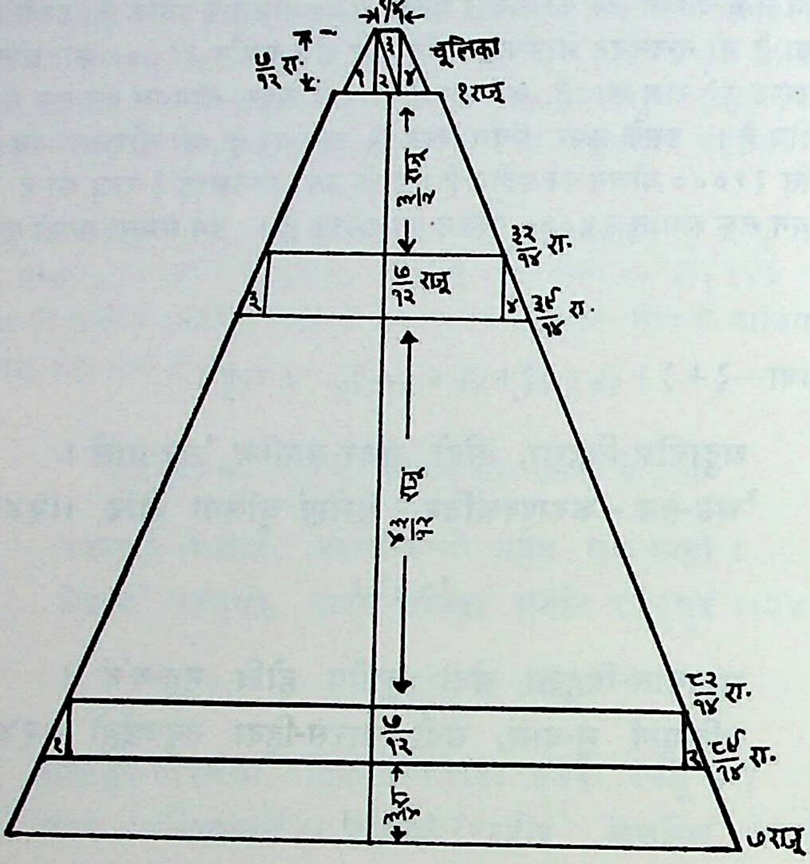
१/४
३
१
२
४
चूलिका
१ राजू
७/१२ रा.
३२/१४ रा.
७/१२ राजू
३९/१४ रा.
८२/१४ रा.
७/१२
८९/१४ रा.
७ राजू

अट्ठाणवदि - विहत्तं, सत्तट्ठाणेसु सेढि उड्ढुड्ढं ।
ठविदूण वास - हेदुं, गुणगारं वत्तइस्सामि ॥२४५॥
[1]अडणउदी बाणउदी, उणणवदी तह कमेण बासीदी ।
उणदालं बत्तीसं, चोद्दस इय होंति गुणगारा ॥२४६॥

ह≡९८ । ह≡९२ । ह≡८९ । ह≡८२ । ह≡३९ । ह≡३२ । ह≡१४ ।

अर्थ—अट्ठानवे से विभक्त जगच्छ्रेणी को ऊपर-ऊपर सात स्थानों में रखकर विस्तार लाने के लिए गुणकार कहता हूँ ॥२४५॥

अर्थ—अट्ठानवे, बानवे, नवासी, बयासी, उनतालीस, बत्तीस और चौदह, ये क्रमशः उक्त सात स्थानों में सात गुणकार हैं ॥२४६॥

---

[1] क. गुणगारा पणणवदि तह कमेण छासीदी ।

विशेषार्थ—९८ से विभक्त जगच्छ्रेणी अर्थात् $\frac{७}{९८}$ अर्थात् $\frac{१}{१४}$ को ऊपर-ऊपर सात स्थानों पर रखकर क्रम से ९८, ९२, ८९, ८२, ३९, ३२ और १४ का गुणा करने से प्रत्येक क्षेत्र का आयाम प्राप्त हो जाता है। यह आयाम निम्नलिखित प्रक्रिया से भी प्राप्त होता है। यथा—

इस मन्दराकृति अधोलोक की भूमि ७ राजू और मुख १ राजू (७—१)=६ राजू अवशेष रहा। क्योंकि ७ राजू की ऊँचाई पर ६ राजू की हानि होती है, अतः $\frac{१}{२}$ राजू पर($\frac{६}{७}$×$\frac{१}{२}$)=$\frac{३}{७}$ राजू की हानि हुई। इसे ७ राजू आयाम में से घटा देने पर ($\frac{७}{१}$—$\frac{३}{७}$)=$\frac{४६}{७}$ राजू आयाम $\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई के उपरितन क्षेत्र का है। [यहाँ $\frac{१}{१४}$×$\frac{९८}{१}$=७ राजू भूमि विस्तार और $\frac{१}{१४}$×$\frac{९२}{१}$=६$\frac{४}{७}$ राजू सुमेरु की जड़ के ऊपर का विस्तार है।] क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{१}{४}$ पर ($\frac{६}{७}$×$\frac{१}{४}$)=$\frac{३}{१४}$ राजू की हानि हुई; इसे उपरितन विस्तार $\frac{४६}{७}$ में से घटाने पर ($\frac{४६}{७}$—$\frac{३}{१४}$)=$\frac{८९}{१४}$ अर्थात् ६$\frac{५}{१४}$ राजू नन्दनवन की तलहटी का विस्तार है। क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{७}{१२}$ राजू पर ($\frac{६}{७}$×$\frac{७}{१२}$)=$\frac{१}{२}$ राजू की हानि हुई। इसे नन्दनवन की तलहटी के विस्तार $\frac{८९}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $\frac{८९}{१४}$−$\frac{१}{२}$=$\frac{८२}{१४}$=५$\frac{६}{७}$ राजू समविस्तार के उपरितन क्षेत्र का आयाम है।

जब ७ राजू की ऊँचाई पर ६ राजू की हानि होती है तब $\frac{४३}{१२}$ राजू पर($\frac{६}{७}$×$\frac{४३}{१२}$)=$\frac{४३}{१४}$ अर्थात् ३$\frac{१}{१४}$ राजू की हानि हुई। इसे उपरितन आयाम $\frac{८२}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $\frac{८२}{१४}$—$\frac{४३}{१४}$=$\frac{३९}{१४}$ या २$\frac{११}{१४}$ राजू सौमनसवन के उपरितन क्षेत्र का आयाम है, क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{७}{१२}$ राजू पर($\frac{६}{७}$×$\frac{७}{१२}$)=$\frac{१}{२}$ राजू की हानि हुई। इसे $\frac{३९}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $\frac{३९}{१४}$—$\frac{१}{२}$=$\frac{३२}{१४}$ अर्थात् २$\frac{२}{७}$ राजू समविस्तार के उपरितन क्षेत्र का आयाम है। क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{३}{२}$ राजू पर($\frac{६}{७}$×$\frac{३}{२}$)=$\frac{९}{७}$ राजू की हानि हुई। इसे उपरिम विस्तार $\frac{३२}{१४}$ राजू में से घटा देने पर ($\frac{३२}{१४}$—$\frac{९}{७}$)=$\frac{१४}{१४}$ अर्थात १ राजू का विस्तार पाण्डुकवन की तलहटी का आयाम है।

हेट्ठादो रज्जु-घणा, सत्तट्ठाणेसु ठविय उड्ढुड्ढे।
[1]गुणगार-भागहारे, विंदफले तण्णिरूवेमो ॥२४७॥

गुणगारा पण्णउदी, [2]एक्कासीदेहि जुत्तमेक्क-सयं।
[3]सगसीदेहिं दु-सयं, तियधियदुसया पण-सहस्सा ॥२४८॥

अडवीसंउ णहत्तरि, उणवण्णं उवरि-उवरि हारा य।
चउ चउवग्गं बारस, अडदालं ति-चउक्क-चउवीसं ॥२४९॥

---

[1] द. ठविदूण वासहेदुं, ब. ज. ठ. ठविदूण वासहेदुं, क. ठविदूण वासहेदुं गुणगारं वत्त इस्सामि। [2] द. ब. क. ज. ठ. एक्कासेदेहि। [3] द. ब. सगतीसेदि दुसस्तियधियदुसेया।

$$\frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{९५}{४} \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{१८१}{१६} \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{२८७}{१२} \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{५२०३}{४८} \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{२८}{३} \;\Big|$$

$$\frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{६९}{४} \;\Big|\; \frac{\equiv}{३४३}\,।\,\frac{४९}{२४} \;\Big|$$

अर्थ—नीचे से ऊपर-ऊपर सात स्थानों में घनराजू को रखकर घनफल को जानने के लिए गुणकार और भागहार को कहता हूँ ॥२४७॥

उक्त सात स्थानों में पंचानवे, एक सौ इक्यासी, दो सौ सतासी, पाँच हजार दो सौ तीन, अट्ठाईस, उनहत्तर और उनचास ये सात गुणकार तथा चार, चार का वर्ग (१६), बारह, अड़तालीस, तीन, चार और चौबीस ये सात भागहार हैं ॥२४८-२४९॥

विशेषार्थ—मन्दराकृति अधोलोक के सात खण्ड किये गये हैं, इन सातों खण्डों का पृथक्-पृथक् घनफल इस प्रकार है—

प्रथम खण्ड—भूमि ७ राजू, मुख $\frac{९२}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{१}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{७}{१}+\frac{९२}{१४})=\frac{१९०}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{९५}{४}$ घनराजू प्रथम खण्ड का घनफल है।

द्वितीय खण्ड—इसकी भूमि $\frac{९२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{८९}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{१}{४}$ राजू, वेध ७ राजू है, अतः $(\frac{९२}{१४}+\frac{८९}{१४})=\frac{१८१}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}\times\frac{७}{१}=\frac{१८१}{१६}$ घनराजू द्वितीय खण्ड का घनफल है।

तृतीय खण्ड—इसकी भूमि $\frac{८२}{१४}$ राजू मुख $\frac{८२}{१४}$ राजू ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{८२}{१४}+\frac{८२}{१४})=\frac{१६४}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{२८७}{१२}$ घनराजू तृतीय खण्ड का घनफल है।

चतुर्थ खण्ड—इसकी भूमि $\frac{८२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{३९}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{४३}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{८२}{१४}+\frac{३९}{१४})=\frac{१२१}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{४३}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{५२०३}{४८}$ घनराजू चतुर्थ खण्ड का घनफल है।

पंचम खण्ड—इसकी भूमि $\frac{३२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{३२}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $(\frac{३२}{१४}+\frac{३२}{१४})=\frac{६४}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{२८}{३}$ घनराजू पञ्चम खण्ड का घनफल है।

नोट तृतीय और पंचम खण्ड की भूमि क्रमशः $\frac{८९}{१४}$ राजू और $\frac{३९}{१४}$ राजू थी; किन्तु चार त्रिकोण कट जाने के कारण $\frac{८२}{१४}$ और $\frac{३२}{१४}$ राजू ही ग्रहण किये गये हैं।

षष्ठ खण्ड—इसकी भूमि $\frac{३२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{१४}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{३}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{३२}{१४}+\frac{१४}{१४})=\frac{४६}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{६९}{४}$ घनराजू षष्ठं खण्ड का घनफल है।

सप्तम खण्ड—इसकी भूमि $\frac{२१}{२८}$ राजू, मुख $\frac{७}{२८}$ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{२१}{२८}+\frac{७}{२८})=\frac{२८}{२८}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{२४}$ घनराजू सप्तम खण्ड अर्थात् चूलिका का घनफल है।

इस प्रकार—$\frac{९५}{२}+\frac{१८१}{८}+\frac{२८७}{६}+\frac{५२०३}{२४}+\frac{५६}{३}+\frac{६९}{२}+\frac{४९}{१२}$

$=\frac{११४०+५४३+११४८+५२०३+४४८+८२८+९८}{}=\frac{४७०४}{२४}$

अर्थात् १९६ घनराजू सम्पूर्ण मन्दरमेरु अधोलोक का घनफल है।

दूष्य अधोलोक की आकृति

७. दूष्य अधोलोक का घनफल—दूष्य का अर्थ डेरा [TENT] होता है, अधोलोक के मध्यक्षेत्र में डेरों की रचना करके घनफल निकालने को दूष्य घनफल कहते हैं। इसकी आकृति इस प्रकार है—

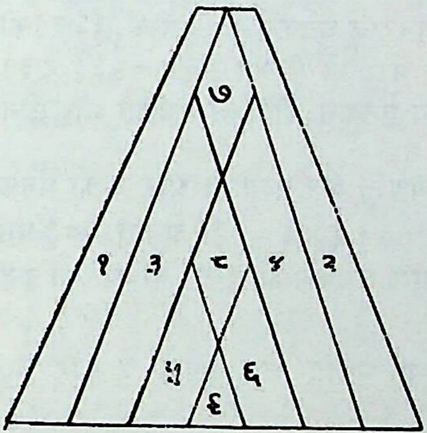

दूष्य अधोलोक का घनफल

चोद्दस-भजिदो [1]ति-गुणो, विंदफलं बाहिरुभय-बाहूणं।
लोओ पंच-विहत्तो[2], दूसस्सब्भंतरोभय-भुजाणं ॥२५०॥

$\left|\frac{\equiv}{१४}\,३\,\right|\equiv ५\,\right|$

[3]तस्साइं लहु-बाहू, ति-गुणिय लोओ य पंचतीस-हिदो।
विंदफलं जव-खेत्ते, चोद्दस-भजिदो हवे लोओ ॥२५१॥

$\left|\frac{\equiv}{३५}\,३\,\right|\frac{\equiv}{१४}\right|$

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. वियदि। [2] द. ब. ज. ठ. एक-विहत्त। [3] ब. क. ज. ठ. सत्ताइं।

अर्थ—दूष्य क्षेत्र में १४ से भाजित और ३ से गुणित लोकप्रमाण बाह्य उभय बाहुओं का और पाँच से विभक्त लोकप्रमाण अभ्यन्तर दोनों बाहुओं का घनफल है ।।२५०।।

इसी क्षेत्र में लघु बाहुओं का घनफल तीन से गुणित और पैंतीस से भाजित लोकप्रमाण तथा यवक्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित लोकप्रमाण है ।।२५१।।

विशेषार्थ- इस दूष्य क्षेत्र की बाह्य भुजा अर्थात् संख्या १ और २ का घनफल निम्न-प्रकार है—

भूमि १ राजू, मुख $\frac{१}{२}$ राजू ऊँचाई ७ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{१}{१}+\frac{१}{२})=\frac{३}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{१४७}{२}$ अर्थात् ७३$\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल है। लोक (३४३) को १४ से भाजित कर जो लब्ध आवे उसको ३ से गुणित कर देने पर भी (३४३ ÷ १४ = २४$\frac{१}{२}$ × ३) = ७३$\frac{१}{२}$ घनराजू ही आते हैं इसलिए गाथा में बाह्य बाहुओं का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित (७३$\frac{१}{२}$) कहा है।

अभ्यन्तर दोनों बाहुओं अर्थात् क्षेत्र संख्या ३ और ४ का घनफल इस प्रकार है—(ऊँचाई में भूमि $\frac{२८}{५}+\frac{२१}{५}$ मुख $=\frac{४९}{५})\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{३४३}{५}$ अर्थात् ६८$\frac{३}{५}$ घनराजू घनफल है। इसीलिए गाथा में पाँच से भाजित लोकप्रमाण घनफल अभ्यन्तर बाहुओं का कहा है।

अभ्यन्तर दोनों लघु-बाहुओं अर्थात् क्षेत्र संख्या ५ और ६ का घनफल इस प्रकार है—(ऊँचाई में भूमि $\frac{१४}{५}+\frac{७}{५}$ मुख $=\frac{२१}{५})\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{१४७}{५}=$ २९$\frac{२}{५}$ घनराजू घनफल है। लोक (३४३) को तीन से गुणित करके लब्ध में ३५ का भाग देने पर भी (३४३ × ३ = १०२९ ÷ ३५) = २९$\frac{२}{५}$ घनराजू ही प्राप्त होते हैं इसलिए गाथा में तीन से गुणित और ३५ से भाजित अभ्यन्तर दोनों लघु-बाहुओं का घनफल कहा गया है।

२$\frac{१}{२}$ यवों अर्थात् क्षेत्र संख्या ७, ८ और ९ का घनफल इस प्रकार है—एक यव की भूमि १ राजू, मुख० ऊँचाई $\frac{१४}{५}$ और वेध ७ है, तथा ऐसे यव $\frac{५}{२}$ हैं, अतः $(\frac{१}{१}+० =\frac{१}{१})\times\frac{१}{२}\times\frac{१४}{५}\times\frac{७}{१}\times\frac{५}{२}=\frac{४९}{२}$ अर्थात् २४$\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल २$\frac{१}{२}$ यवों का है। लोक को चौदह से भाजित करने पर भी (३४३ ÷ १४) = २४$\frac{१}{२}$ घनराजू ही आते हैं इसीलिए गाथा में चौदह से भाजित लोक कहा है। इस प्रकार ७३$\frac{१}{२}$ + ६८$\frac{३}{५}$ + २९$\frac{२}{५}$ + २४$\frac{१}{२}$ = १९६ घनराजू घनफल सम्पूर्ण दूष्य अधोलोक का है।

८. गिरि-कटक अधोलोक का घनफल—

गिरि (पहाड़ी) नीचे चौड़ी और ऊपर सँकरी अर्थात् चोटी युक्त होती है किन्तु कटक इससे विपरीत अर्थात् नीचे सँकरा और ऊपर चौड़ा होता है। अधोलोक में गिरि-कटक की रचना करने से २७ गिरि और २१ कटक प्राप्त होते हैं। यथा—

गिरिकटक अधोलोक की आकृति

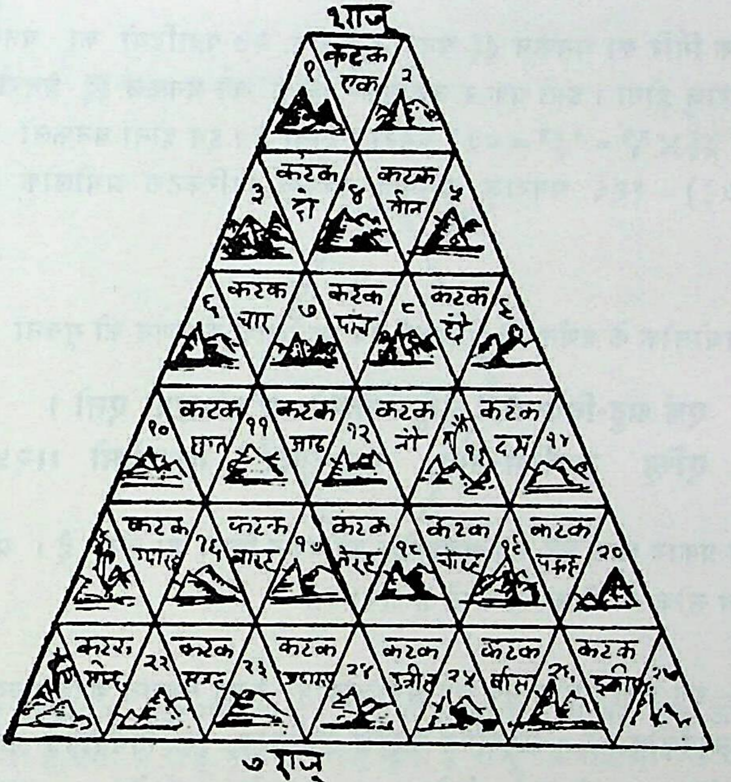
१ राजू
कटक एक
१
२
कटक दो
३
४
कटक तीन
५
कटक चार
६
७
कटक पांच
८
कटक छै
९
कटक सात
१०
११
कटक आठ
१२
कटक नौ
१३
कटक दस
१४
कटक ग्यारह
१६
कटक बारह
१७
कटक तेरह
१८
कटक चौदह
१९
कटक पन्द्रह
२०
कटक सोलह
२२
कटक सत्रह
२३
कटक अठारह
२४
कटक उन्नीस
२५
कटक बीस
२६
कटक इक्कीस
२७
७ राजू

गिरिकटक अधोलोक का घनफल

एक्कस्सि गिरिगडए,[1] चउसीदी-भाजिदो हवे लोओ।
तं [2]अट्ठतालपहदं, विंदफलं तम्मि खेत्तम्मि ॥२५२॥

$$\Big| \frac{\equiv}{\text{८४}} \Big| \frac{\equiv}{\text{८४}}\ \text{४८} \Big|$$

अर्थ—एक गिरिकटक (अर्धयव) क्षेत्र का घनफल चौरासी से भाजित लोकप्रमाण है। इसको अड़तालीस से गुणा करने पर कुल गिरिकटक क्षेत्र का घनफल होता है ॥२५२॥

---

[1] द. ब. गिरिविडए। क. ज. ठ. गिरिविदए। [2] क. अट्ठमाल।

विशेषार्थ– उपर्युक्त आकृति में प्रत्येक गिरि एवं कटक की भूमि १ राजू, मुख ०, उत्सेध $\frac{७}{६}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{१}{१}+०=\frac{१}{१})\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{६}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{१२}$ घनराजू प्राप्त है। लोक (३४३) को ८४ से भाजित करने पर भी $(३४३\div८४)=\frac{४९}{१२}$ प्राप्त होते हैं, इसीलिए गाथा में लोक को चौरासी से भाजित करने को कहा गया है।

क्योंकि एक गिरि का घनफल $\frac{४९}{१२}$ घनराजू है अतः २७ पहाड़ियों का घनफल $\frac{४९}{१२}\times\frac{२७}{१}=\frac{४४१}{४}=११०\frac{१}{४}$ घनराजू होगा। इसी प्रकार जब एक कटक का घनफल $\frac{४९}{१२}$ घनराजू है, तब २१ कटकों का घनफल $\frac{४९}{१२}\times\frac{२१}{१}=\frac{३४३}{४}=८५\frac{३}{४}$ घनराजू होता है। इन दोनों घनफलों का योग कर देने पर $(११०\frac{१}{४}+८५\frac{३}{४})=१९६$ घनराजू घनफल सम्पूर्ण गिरिकटक अधोलोक क्षेत्र का प्राप्त होता है।

अधोलोक के वर्णन की समाप्ति एवं ऊर्ध्वलोक के वर्णन की सूचना

एवं अट्ठ-वियप्पो,[1] हेट्ठिम-लोओ य वण्णिदो एसो।
एण्हि उवरिम-लोयं, अट्ठ-पयारं णिरूवेमो ॥२५३॥

अर्थ–इस प्रकार आठ भेद रूप अधोलोक का वर्णन किया जा चुका है। अब यहाँ से आगे आठ प्रकार के ऊर्ध्व लोक का निरूपण करते हैं ॥२५३॥

विशेषार्थ—इस प्रकार आठ भेद रूप अधोलोक का वर्णन समाप्त करके पूज्य यतिवृषभाचार्य आगे १. सामान्य ऊर्ध्वलोक, २. ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक, ३. तिर्यगायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक, ४. यवमुरज ऊर्ध्वलोक, ५. यवमध्य ऊर्ध्वलोक, ६. मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक, ७. दूष्य ऊर्ध्वलोक और ८. गिरिकटक ऊर्ध्वलोक के भेद से ऊर्ध्वलोक का घनफल आठ प्रकार से कहते हैं।

सामान्य तथा ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक के घनफल एवं आकृतियाँ

सामण्णे विदफलं, सत्त-हिदो होइ ति-गुणिदो[2] लोओ।
विदिए वेद-भुजाए,[3] सेढी कोडी ति-रज्जूओ ॥२५४॥

$$\left| \frac{\equiv}{७}\,३ \;\middle|\; \underset{\cdot}{-} \;\middle|\; - \;\middle|\; \frac{-}{७}\,३ \right|$$

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. वियप्पा हेट्ठिम-लोउए। [2] द. ब. तिगुणिदा। [3] द. ब. क. ज. ठ. भुजासे।

अर्थ—सामान्य ऊर्ध्वलोक का घनफल सात से भाजित और तीन से गुणित लोक के प्रमाण अर्थात् एक सौ सैंतालीस राजू मात्र है।

द्वितीय ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र में वेध और भुजा जगच्छ्रेणी प्रमाण तथा कोटि तीन राजू मात्र है ॥२५४॥

विशेषार्थ—१. सामान्य ऊर्ध्वलोक की आकृति

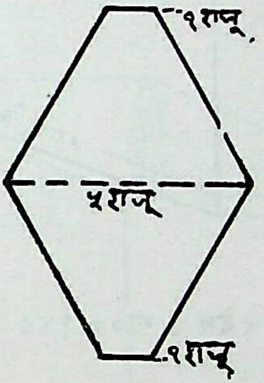

सामान्य ऊर्ध्वलोक ब्रह्म स्वर्ग के समीप ५ राजू विस्तार वाला एवं ऊपर नीचे एक-एक राजू विस्तार वाला है अतः ५ राजू भूमि, १ राजू मुख, $\frac{७}{२}$ राजू ऊँचाई और ७ राजू वेध वाले इस ऊर्ध्वलोक के दो भाग कर लेने पर इसका घनफल इस प्रकार होता है—

(भूमि ५ + १ मुख = $\frac{६}{१}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{७}{२}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{२}{१}$ · १४७ घनराजू सामान्य ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

२. ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक का घनफल—

ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र की भुजा जगच्छ्रेणी (७ राजू), वेध ७ राजू और कोटि ३ राजू प्रमाण है। यथा—

(चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये)

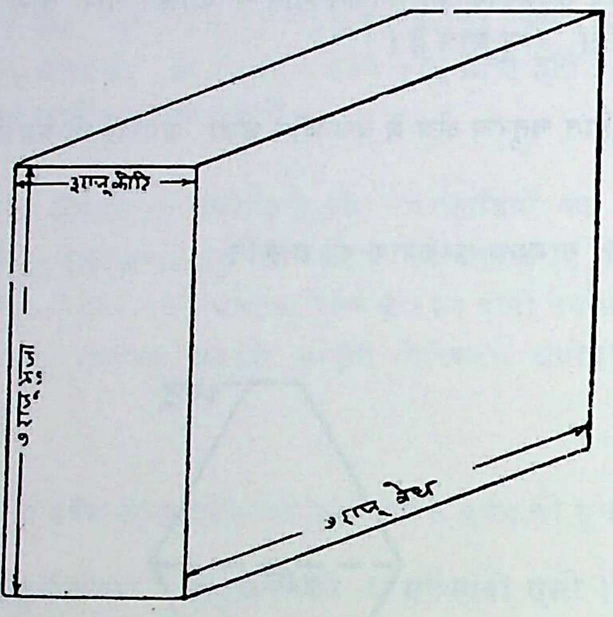

भुजा ७ राजू × कोटि ३ रा० × वेध ७ रा० = १४७ घनराजू ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र का घनफल है ।

नोट—ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त करते समय सामान्य ऊर्ध्वलोक को छोड़कर शेष आकृतियों में ऊर्ध्वलोक की मूल आकृति से प्रयोजन नहीं रखा गया है ।

तिर्यगायत चतुरस्र तथा यवमुरज ऊर्ध्वलोक एवं आकृतियाँ

तदिए [1]भुय-कोडीओ, सेढी वेदो[2] वि तिण्णि रज्जूओ ।
बहु-जव-मध्ये मुरये[3], जव-मुरयं होदि तक्खेत्तं ॥२५५॥

। ∸ १ । – १ । ७ ३ ।

तम्मि जवे विंदफलं, लोओ सत्तेहि भाजिदो होदि ।
मुरयम्मि य विंदफलं, सत्त-हिदो दु-गुणिदो लोओ ॥२५६॥

| $\frac{\equiv}{७}$ | $\frac{\equiv}{७}$ २ |

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. भुविकोडीओ । [2] [वेधो] । [3] द. ब. क. ज. ठ. मुरयं ।

अर्थ—तीसरे तिर्यगायत चतुरस्र क्षेत्र में भुजा और कोटि जगच्छ्रेणी प्रमाण तथा वेध तीन राजू मात्र है। बहुत से यवों युक्त मुरज-क्षेत्र में वह क्षेत्र यव और मुरज रूप होता है। इसमें से यव-क्षेत्र का सात से भाजित लोकप्रमाण और मुरज-क्षेत्र का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोक के प्रमाण होता है ॥२५५-२५६॥

विशेषार्थ—३. तिर्यगायत चतुरस्र क्षेत्र में भुजा और कोटि श्रेणी (७ रा०) प्रमाण तथा वेध (मोटाई) तीन राजू प्रमाण है। यथा—

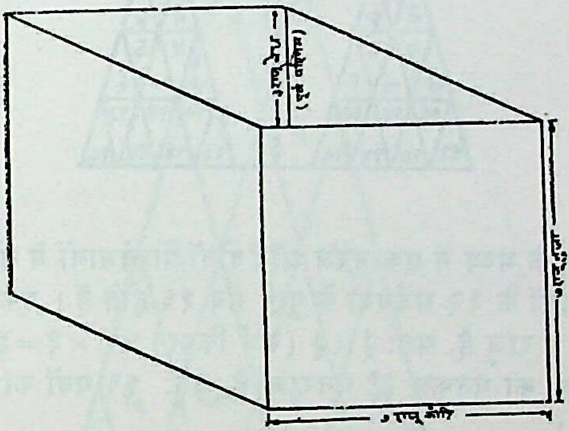

घनफल—यहाँ भुजा अर्थात् ऊँचाई ७ राजू है, उत्तर-दक्षिण कोटि ७ राजू और पूर्व-पश्चिम वेध ३ राजू है, अतः ७ × ७ × ३ = १४७ घनराजू तिर्यगायत ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त होता है।

४. यवमुरज ऊर्ध्वलोक का घनफल—इस यवमुरज क्षेत्र की भूमि ५ राजू, मुख १ राजू और ऊँचाई ७ राजू है। यथा—

(चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये)

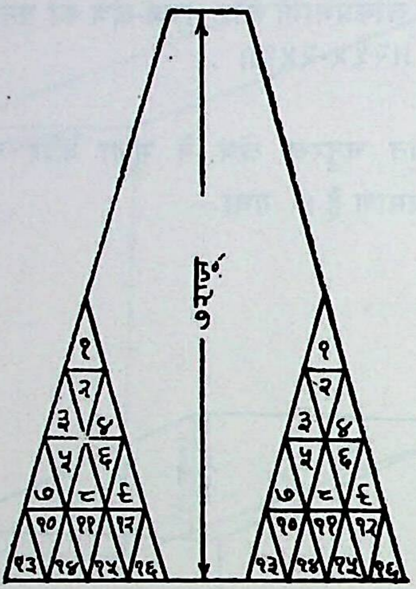

उपर्युक्त आकृति के मध्य में एक मुरज और दोनों पार्श्वभागों में सोलह-सोलह अर्धयव प्राप्त होते हैं। दोनों पार्श्वभागों के ३२ अर्धयवों के पूर्ण यव १६ होते हैं। एक यव का विस्तार $\frac{१}{२}$ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{४}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$ (अर्ध किया) $\times \frac{७}{४} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{१६}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है। यतः एक यव का घनफल $\frac{४९}{१६}$ घनराजू है, अतः १६ यवों का $(\frac{४९}{१६} \times \frac{१६}{१}) = ४९$ घनराजू घनफल प्राप्त हुआ।

मुरज के बीच से दो भाग करने पर अर्धमुरज की भूमि ३ राजू, मुख १ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है, इस प्रकार के अर्धमुरज दो हैं, अतः $(३+१=\frac{४}{१}) \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{२} \times \frac{७}{१} \times \frac{२}{१} = ९८$ घनराजू पूर्ण मुरज का घनफल होता है और दोनों का योग कर देने पर $(४९+९८) = १४७$ घनराजू घनफल यवमुरज ऊर्ध्वलोक का प्राप्त होता है। लोक (३४३) को ७ से भाजित करने पर ४९ और उसी लोक (३४३) को ७ से भाजित कर दो से गुणित कर देने से ९८ घनफल प्राप्त हो जाता है। यही बात गाथा में दर्शायी गयी है।

यवमध्य ऊर्ध्वलोक का घनफल एवं आकृति

घणफलमेक्कम्मि जवे, अट्ठावीसेहिं भाजिदो लोओ।
तं बारसेहि गुणिदं, जव-खेत्ते होदि विदफलं ॥२५७॥

$$\left| \frac{\equiv}{२८} \middle| \frac{\equiv}{७}\ ३ \right|$$

अर्थ—यवमध्य क्षेत्र में एक यव का घनफल अट्ठाईस से भाजित लोकप्रमाण है। इसको बारह से गुणा करने पर सम्पूर्ण यवमध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है ॥२५७॥

विशेषार्थ—५. यवमध्य ऊर्ध्वलोक का घनफल—

५ राजू भूमि, १ राजू मुख और ७ राजू ऊँचाई वाले सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक क्षेत्र में यवों की रचना इस प्रकार है—

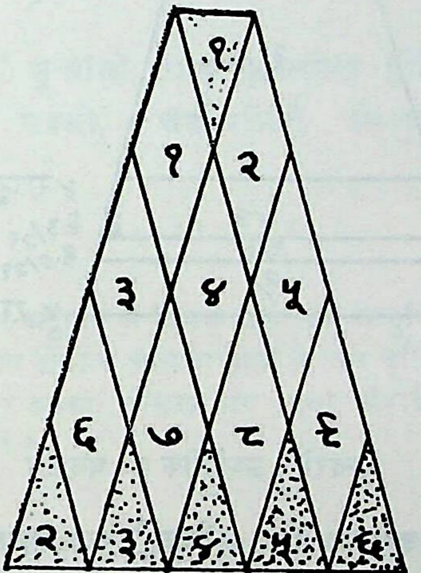

इस आकृति में पूर्ण यव ९ और अर्धयव ६ हैं। ६ अर्धयवों के पूर्ण यव बनाकर पूर्ण यवों में जोड़ देने पर (९+३)=१२ पूर्ण यव प्राप्त हो जाते हैं। एक यव का विस्तार १ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $\frac{१}{१}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{४}$ घनराजू एक यव का घनफल प्राप्त होता है। क्योंकि एक यव का घनफल $\frac{४९}{४}$ घनराजू है अतः १२ यवों का $\frac{४९}{४}\times\frac{१२}{१}=$ १४७ घनराजू सम्पूर्ण यवमध्य ऊर्ध्वलोक क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है। लोक (३४३) को २८ से भाजित कर १२ से गुणित करने पर भी ($\frac{३४३}{२८}\times\frac{१२}{१}$)=१४७ घनराजू ही प्राप्त होता है। इसीलिए गाथा में लोक को अट्ठाईस से भाजित कर बारह से गुणा करने को कहा गया है।

६. मन्दर-ऊर्ध्वलोक का घनफल—५ राजू भूमि, १ राजू मुख और ७ राजू ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक मन्दर (मेरु) की रचना करके घनफल निकाला जायेगा। यथा—

मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक की आकृति

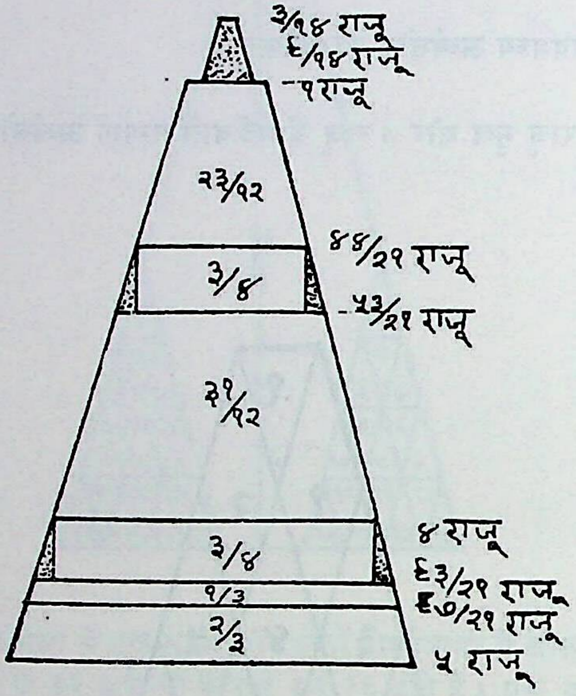
३/१४ राजू
६/१४ राजू
१ राजू
२३/१२
४४/२१ राजू
३/४
५३/२१ राजू
३१/१२
४ राजू
३/४
६३/२१ राजू
१/३
६७/२१ राजू
२/३
५ राजू

मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक का घनफल

ति-हिदो दु-गुणिद-रज्जू, तिय-भजिदा[1] चउ-हिदा ति-गुण-रज्जू ।
एक्कतीसं च रज्जू, बारस - भजिदा हवंति उड्ढुड्ढं ।।२५८।।

चउ - हिद-ति - गुणिद - रज्जू, तेवीसं ताम्रो बार - पडिहत्ता ।
मंदर - सरिसायारे[2], उस्सेहो उड्ढ - खेत्तम्मि ।।२५९।।

३३२ । ३३१ । ३८३ । ८४३१ । ३८३ । ८४२३ ।

अर्थ—मन्दर सदृश आकार वाले ऊर्ध्व क्षेत्र में ऊपर-ऊपर ऊँचाई क्रम से तीन से भाजित दो राजू, तीन से भाजित एक राजू, चार से भाजित तीन राजू, बारह से भाजित इकतीस राजू, चार से भाजित तीन राजू और बारह से भाजित तेईस राजू मात्र है ।।२५८-२५९।।

---

[1] ज. ठ. भणिदा । [2] द. सरिसायारो ।

विशेषार्थ—उपर्युक्त आकृति में $\frac{२}{३}$ राजू पृथिवी में सुदर्शन मेरु की जड़ अर्थात् १००० योजन का, $\frac{१}{३}$ राजू भद्रशालवन से नन्दनवन पर्यन्त की ऊँचाई अर्थात् ५०० योजन का, $\frac{३}{४}$ राजू नन्दनवन से समविस्तार क्षेत्र अर्थात् ११००० योजन का, $\frac{३१}{१२}$ राजू समविस्तार क्षेत्र से सौमनस वन अर्थात् ५१५०० योजन का, $\frac{३}{४}$ राजू सौमनस वन से समविस्तार क्षेत्र अर्थात् ११००० योजन का और उसके ऊपर $\frac{२३}{१२}$ राजू समविस्तार से पाण्डुकवन अर्थात् २५००० योजन का प्रतीक है।

अट्ठाणवदि-विहत्ता, ति-गुणा सेढी तडाण[1] वित्थारो[2] ।
[3]चउतड - करणक्खंडिद - खेत्तेणं चूलिया होदि ।।२६०।।

$\frac{-३}{९८}$

तिण्णि तडा[4] भू-वासो, ताण ति-भागेण होदि मुह-रुंदं ।
तच्चूलियाए उदओ, चउ-भजिदो ति-गुणिदो रज्जू ।।२६१।।

$\frac{-३}{९८}$ । $\frac{-९}{९८}$ ।

अर्थ—तटों का विस्तार अट्ठानवे से विभक्त और तीन से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। ऐसे चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों से चूलिका होती है, उस चूलिका की भूमि का विस्तार तीन-तटों के प्रमाण, मुख का विस्तार इसका तीसरा भाग तथा ऊँचाई चार से भाजित और तीन से गुणित, राजू मात्र है ।।२६०-२६१।।

विशेषार्थ—मन्दराकृति में नन्दन और सौमनस वनों के ऊपरी भाग को समविस्तार करने के लिए दोनों पार्श्वभागों में चार त्रिकोण काटे गये हैं, उनमें प्रत्येक का विस्तार ($\frac{७\times३}{९८} = \frac{२१}{९८} =$) $\frac{३}{१४}$ राजू और ऊँचाई $\frac{३}{४}$ राजू है। इन चारों त्रिकोणों में से तीन त्रिकोणों को सीधा और एक त्रिकोण को पलटकर उलटा रखने से पाण्डुकवन के ऊपर चूलिका बन जाती है, जिसका भूमि-विस्तार $\frac{९}{१४}$ राजू, मुख $\frac{३}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{३}{४}$ राजू और वेध ७ राजू है।

सत्तट्ठाणे रज्जू, उड्ढुड्ढं एक्कवीस-पविभत्तं ।
ठविदूण वास-हेदुं, गुणगारं तेसु साहेमि ।।२६२।।

---

[1] द. ब. तदाण । [2] द. विहत्ता रिरे तिण्णि गुणा । [3] द. क. ज. ठ. चउतदकारणखंडिद, ब. चउदत्तकारणखंडिद । [4] द. ब. तदा ।

[1]पंचुत्तर-एक्कसयं, सत्ताणउदी तियधिय-णउदीओ ।
चउसीदी तेवण्णा, चउदालं एक्कवीस गुणगारा ।।२६३।।

$१४७^{१०५}$ । $१४७^{९७}$ । $१४७^{९३}$ । $१४७^{८४}$ । $१४७^{५३}$ । $१४७^{४४}$ । $१४७^{२१}$ ।

अर्थ—सातों स्थानों में ऊपर-ऊपर इक्कीस से विभक्त राजू रखकर उनमें विस्तार के निमित्तभूत गुणाकार कहता हूँ ।।२६२।।

अर्थ —एक सौ पाँच, सत्तानवे, तेरानवे, चौरासी, तिरेपन, चवालीस और इक्कीस उपर्युक्त सात स्थानों में ये सात गुणकार हैं ।।२६३।।

विशेषार्थ —इस मन्दराकृति क्षेत्र का भूमि-विस्तार ५ राजू, मुख विस्तार १ राजू और ऊँचाई ७ राजू है। भूमि में से मुख घटा देने पर (५—१) = ४ राजू हानि ७ राजू ऊँचाई पर होती है अर्थात् प्रत्येक एक-एक राजू की ऊँचाई पर $\frac{४}{७}$ राजू की हानि प्राप्त होती है। इस हानि-चय को अपनी-अपनी ऊँचाई से गुणित करने पर हानि का प्रमाण प्राप्त हो जाता है। उस हानि को पूर्व-पूर्व विस्तार में से घटा देने पर ऊपर-ऊपर का विस्तार प्राप्त होता जाता है। यथा—

तलभाग ५ राजू अर्थात् $\frac{१०५}{२१}$ राजू, $\frac{२}{३}$ राजू की ऊँचाई पर $\frac{९७}{२१}$ राजू, $\frac{१}{३}$ राजू की ऊँचाई पर $\frac{९३}{२१}$ राजू, $\frac{३}{४}$ राजू की ऊँचाई पर $\frac{८४}{२१}$ राजू, $\frac{३१}{१२}$ राजू की ऊँचाई पर $\frac{५३}{२१}$ राजू, $\frac{३}{४}$ राजू की ऊँचाई पर $\frac{४४}{२१}$ राजू और $\frac{२३}{१२}$ राजू की ऊँचाई पर $\frac{२१}{२१}$ र.जू विस्तार है।

उड्ढुड्ढं रज्जु - घणं, सत्तसु ठाणेसु ठविय हेट्ठादो ।
विंदफल - जाणणट्ठं, वोच्छं गुणगार - हाराणि ।।२६४।।

दुजुदाणि दुसयाणि, पंचाणउदी य एक्कवीसं च ।
सत्तत्तालजुदाणि, बादाल - सयाणि एक्करसं ।।२६५।।

पणणवदियधिय-चउदस-सयाणि णव इय हवंति गुणगारा ।
हारा णव णव एक्कं, बाहत्तरि इगि विहत्तरी चउरो ।।२६६।।

$\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{२०२}{९}$ | $\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{९५}{९}$ | $\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{२१}{१}$ | $\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{४२४७}{७२}$ | $\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{११}{१}$ |

$\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{१४९५}{७२}$ | $\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{९}{४}$

---

[1] ज. क. ठ. ब. पंचुत्तं एक्कसयं ।

अर्थ—सात स्थानों में नीचे से ऊपर-ऊपर घनराजू को रख कर घनफल जानने के लिए गुणकार और भागहार कहता हूँ ।।२६४।।

अर्थ—इन सात स्थानों में क्रमशः दो सौ दो, पंचानवे, इक्कीस, बयालीस सौ सैंतालीस, ग्यारह, चौदह सौ पंचानवे और नौ, ये सात गुणकार हैं तथा भागहार यहाँ नौ, नौ, एक, बहत्तर, एक, बहत्तर और चार हैं ।।२६५-२६६।।

विशेषार्थ—"मुखभूमिजोगदले-पद-हदे" सूत्रानुसार प्रत्येक खण्ड की भूमि और मुख को जोड़कर, आधा करके उसमें अपनी-अपनी ऊँचाई और ७ र.जू वेध से गुणित करने पर प्रत्येक खण्ड का घनफल प्राप्त हो जाता है। यथा—

खण्ड	भूमि +	मुख =	योग ×	अर्धकिया ×	ऊँ. ×	मोटाई =	घनफल
प्रथम खण्ड	$\frac{१०५}{२१}$ +	$\frac{९७}{२१}$ =	$\frac{२०२}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{२}{३}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{२०२}{९}$ घनराजू घनफल
द्वितीय खण्ड	$\frac{९७}{२१}$ +	$\frac{९३}{२१}$ =	$\frac{१९०}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{१}{३}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{९५}{९}$ घनराजू घनफल
तृतीय खण्ड	$\frac{८४}{२१}$ +	$\frac{८४}{२१}$ =	$\frac{१६८}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३}{४}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{२१}{१}$ घनराजू घनफल
चतुर्थ खण्ड	$\frac{८४}{२१}$ +	$\frac{५३}{२१}$ =	$\frac{१३७}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३१}{१२}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{४२४७}{७२}$ घनराजू घनफल
पंचम खण्ड	$\frac{४४}{२१}$ +	$\frac{४४}{२१}$ =	$\frac{८८}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३}{४}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{११}{१}$ घनराजू घनफल
षष्ठ खण्ड	$\frac{४४}{२१}$ +	$\frac{२१}{२१}$	$\frac{६५}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{२३}{१२}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{१४९५}{७२}$ घनराजू घनफल
सप्तम खण्ड (चूलिका)	$\frac{९}{१४}$ +	$\frac{३}{१४}$ =	$\frac{१२}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३}{४}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{९}{४}$ घनराजू घनफल

सर्वयोग—$\frac{२०२}{९}+\frac{९५}{९}+\frac{२१}{१}+\frac{४२४७}{७२}+\frac{११}{१}+\frac{१४९५}{७२}+\frac{९}{४}=$

$$\frac{१६१६+७६०+१५१२+४२४७+७९२+१४९५+१६२}{७२}=\frac{१०५८४}{७२}=१४७$$

घनराज मन्दर-ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

७. दूष्य ऊर्ध्वलोक का घनफल—

५ राजू भूमि, १ राजू मुख और ७ राजू ऊँचाई प्रमाण वाले ऊर्ध्वलोक में दूष्य की रचना कर घनफल प्राप्त करना है, जिसकी आकृति इस प्रकार है। यथा—

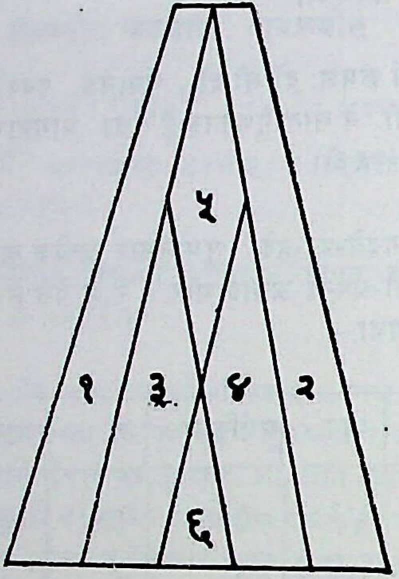

दूष्य क्षेत्र का घनफल एवं गिरि-कटक क्षेत्र कहने की प्रतिज्ञा

चोदस-भजिदो तिगुणो, विंदफलं बाहिरोभय-भुजाणं ।
लोओ दुगुणो चोद्दस-हिदो य अब्भंतरम्मि दूसस्स ।।२६७।।

$\left| \frac{\equiv}{१४} ३ \right| \frac{\equiv}{१४} २ \Big|$

तस्स य जव-खेत्ताणं, लोओ चोद्दस-हिदो-दु-विंदफलं ।
एत्तो [1]गिरिगड - खंडं, वोच्छामो आणुपुव्वीए ।।२६८।।

$\left| \frac{\equiv}{१४} \right|$

अर्थ—दूष्य क्षेत्र की बाहरी उभय भुजाओं का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोकप्रमाण; तथा अभ्यन्तर दोनों भुजाओं का घनफल चौदह से भाजित और दो से गुणित लोकप्रमाण है ।।२६७।।

---

[1] १. द. ब. ज. क. ठ. गिरिविडखंडं ।

अर्थ—इस दूष्य क्षेत्र के यव-क्षेत्रों का घनफल चौदह से भाजित लोकप्रमाण है। अब यहाँ से आगे अनुक्रम से गिरिकटक खण्ड का वर्णन करते हैं ।।२६८।।

विशेषार्थ—इस दूष्य क्षेत्र की बाहरी उभय भुजाओं अर्थात् क्षेत्र संख्या १ और २ का घनफल—[(भूमि १ राजू + मुख $\frac{१}{२}$ रा० = $\frac{३}{२}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{२}{१}$] = $\frac{१४७}{२}$ घनराजू है । अभ्यन्तर उभय भुजाओं अर्थात् क्षेत्र संख्या ३ और ४ का घनफल [ऊँचाई में भूमि ($\frac{१४}{३}$ + $\frac{७}{३}$ मुख = $\frac{२१}{३}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१}{१}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{२}{१}$] = ४९ घनराजू है। डेढ़ यवों अर्थात् क्षेत्र संख्या ५ और ६ का घनफल[(भूमि १ रा० + मुख० = $\frac{१}{१}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१४}{३}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{३}{२}$] = $\frac{४९}{२}$ घनराजू है। इस प्रकार सम्पूर्ण $\frac{१४७}{२}$ + $\frac{४९}{१}$ + $\frac{४९}{२}$ = $\frac{१४७+९८+४९}{२}$ = $\frac{२९४}{२}$ = १४७ घनराजू दूष्य ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

८. गिरि-कटक ऊर्ध्वलोक का घनफल—

भूमि ५ राजू, मुख १ राजू और ७ राजू ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक में गिरिकटक की रचना करके घनफल निकाला गया है। इसकी आकृति इस प्रकार है—

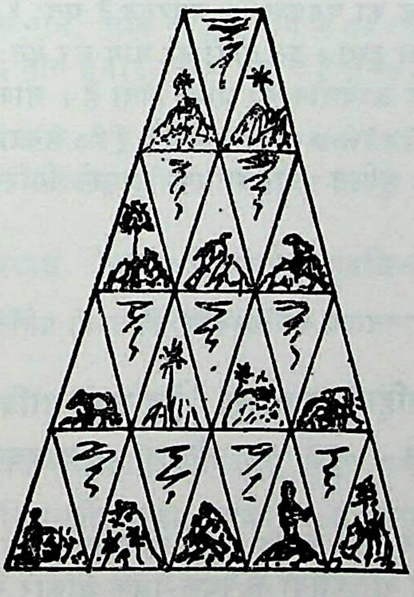

गिरि-कटक ऊर्ध्वलोक का घनफल

छप्पण्ण-हिदो लोम्रो, एक्कस्सि [1]गिरिगडम्मि विंदफलं ।
तं चउवीसप्पहदं, सत्त - हिदो ति-गुणिदो लोम्रो ॥२६९॥

$$\left| \frac{\equiv}{५६} \middle| \frac{\equiv}{७}\ ३ \right|$$

अर्थ—एक गिरि-कटक का घनफल छप्पन से भाजित लोकप्रमाण है। इसको चौबीस से गुणा करने पर सात से भाजित और तीन से गुणित लोकप्रमाण सम्पूर्ण गिरि-कटक क्षेत्र का घनफल आता है ॥२६९॥

विशेषार्थ—उपर्युक्त आकृति में १४ गिरि और १० कटक बने हैं, जिसमें से प्रत्येक गिरि एवं कटक की भूमि १ राजू, मुख ०, उत्सेध $\frac{७}{४}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $[(१+०)=\frac{१}{१}]\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{४}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{८}$ घनराजू घनफल एक गिरि या एक कटक का है। लोक को ५६ से भाजित करने पर भी $(\frac{३४३}{५६})$ $\frac{४९}{८}$ ही प्राप्त होता है, इसलिए गाथा में एक गिरि या कटक का घनफल छप्पन से भाजित लोकप्रमाण कहा है। क्योंकि एक गिरि का घनफल $\frac{४९}{८}$ घनराजू है अतः १४ गिरि का $(\frac{४९}{८}\times\frac{१४}{१})=\frac{३४३}{४}$ अर्थात् ८५$\frac{३}{४}$ घनराजू घनफल हुआ।

इसी प्रकार जब एक कटक का घनफल $\frac{४९}{८}$ घनराजू है अतः १० कटकों का $(\frac{४९}{८}\times\frac{१०}{१})=\frac{२४५}{४}$ अर्थात् ६१$\frac{१}{४}$ घनराजू घनफल हुआ। इन दोनों का योग कर देने पर (८५$\frac{३}{४}$ + ६१$\frac{१}{४}$) = १४७ घनराजू घनफल सम्पूर्ण गिरिकटक ऊर्ध्वलोक का प्राप्त होता है। लोक (३४३) को ७ से भाजित कर तीन से गुणा करने पर भी (३४३ ÷ ७ = ४९) × ३ = १४७ घनराजू ही आते हैं, इसीलिए गाथा में सात से भाजित और तीन से गुणित लोकप्रमाण सम्पूर्ण गिरिकटक क्षेत्र का घनफल कहा गया है।

वातवलय का आकार कहने की प्रतिज्ञा

अट्ठ-विहप्पं साहिय, सामण्णं हेट्ठ-उड्ढ-होदि जयं ।
एण्हि साहेमि पुढं, संठाणं वादवलयाणं ॥२७०॥

अर्थ—सामान्य, अधः और ऊर्ध्व के भेद से जो तीन प्रकार का जग अर्थात् लोक कहा गया है, उसे आठ प्रकार से कहकर अब वातवलयों के पृथक्-पृथक् आकार का वर्णन करता हूँ ॥२७०॥

---

[1] ज. क. ठ. गिरिगदम्मि ।

लोक को परिवेष्टित करने वाली वायु का स्वरूप

गोमुत्त-मुग्ग-वण्णा, [1]घणोदधी तह घणाणिलो वाऊ।
तणु-वादो बहु-वण्णो, रुक्खस्स तयं व वलय-तियं ।।२७१।।

पढमो लोयाधारो, घणोवही इह घणाणिलो तत्तो।
तप्परदो तणुवादो, अंतम्मि णहं णिआधारं ।।२७२।।

अर्थ– गोमूत्र के सदृश वर्णवाला घनोदधि, मूँग के सदृश वर्णवाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात इस प्रकार के ये तीनों वातवलय वृक्ष की त्वचा के सदृश (लोक को घेरे हुए) हैं। इनमें से प्रथम घनोदधिवातवलय लोक का आधारभूत है। उसके पश्चात् घनवातवलय, उसके पश्चात् तनुवातवलय और फिर अन्त में निजाधार आकाश है ।।२७१-२७२।।

वातवलयों के बाहल्य (मोटाई) का प्रमाण

जोयण-वीस-सहस्सा, बहलं तम्मारुदाण पत्तेक्कं।
अट्ठ-खिदीणं हेट्ठे, लोअ-तले उवरि जाव इगि-रज्जू ।।२७३।।

२०००० । २०००० । २०००० ।

अर्थ—आठ पृथ्वियों के नीचे, लोक के तल-भाग में एवं एक राजू की ऊँचाई तक उन वायु-मण्डलों में से प्रत्येक की मोटाई बीस हजार योजन प्रमाण है ।।२७३।।

विशेषार्थ—आठों भूमियों के नीचे, लोकाकाश के अधोभाग में एवं दोनों पार्श्वभागों में नीचे से एक राजू ऊँचाई पर्यन्त तीनों वातवलय बीस-बीस हजार योजन मोटे हैं।

सग-पण-चउ-जोयणयं, [2]सत्तम-णारयम्मि पुहवि-पणधीए[3]।
पंच-चउ-तिय-पमाणं, तिरीय-खेत्तस्स पणिधीए ।।२७४।।

। ७ । ५ । ४ । ५ । ४ । ३ ।

सग-पंच-चउ-समाणा, पणिधीए होंति बम्ह-कप्पस्स।
पण-चउ-तिय-जोयणया, उवरिम-लोयस्स अंतम्मि ।।२७५।।

। ७ । ५ । ४ । ५ । ४ । ३ ।

---

[1] द. ज. ठ. घणदधि। [2] द. ज. सत्तमणयमि, ब. सत्तभसारयम्मि। [3] द. पणदीए, ब. पणघीए।

अर्थ—सातवें नरक में पृथिवी के पार्श्वभाग में क्रमशः इन तीनों वातवलयों की मोटाई सात, पाँच और चार योजन तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मध्यलोक) के पार्श्वभाग में पाँच, चार और तीन योजन प्रमाण है ॥२७४॥

अर्थ—इसके आगे तीनों वायुओं की मोटाई ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्वभाग में क्रमशः सात, पाँच और चार योजन प्रमाण तथा ऊर्ध्वलोक के अन्त (पार्श्वभाग) में पाँच, चार और तीन योजन प्रमाण है ॥२७५॥

विशेषार्थ--दोनों पार्श्वभागों में एक राजू के ऊपर सप्तम पृथिवी के निकट घनोदधिवातवलय सात योजन, घनवातवलय पाँच योजन और तनुवातवलय चार योजन मोटाई वाले हैं। इस सप्तम पृथिवी के ऊपर क्रमशः घटते हुए तिर्यग्लोक के समीप तीनों वातवलय क्रमशः पाँच, चार और तीन योजन बाहल्य वाले तथा यहाँ से ब्रह्मलोक पर्यन्त क्रमशः बढ़ते हुए सात, पाँच और चार योजन बाहल्य वाले हो जाते हैं तथा ब्रह्मलोक से क्रमानुसार हीन होते हुए तीनों वातवलय ऊर्ध्वलोक के निकट तिर्यग्लोक सदृश पाँच, चार और तीन योजन बाहल्य वाले हो जाते हैं।

कोस-दुगमेक्क-कोसं, किंचूणेक्कं च लोय-सिहरम्मि ।
ऊण-पमाणं दंडा, चउस्सया पंच-वीस-जुदा ॥२७६॥

। २ को० । १ को० । १५७५ दंड ।

अर्थ—लोक के शिखर पर उक्त तीनों वातवलयों का बाहल्य क्रमशः दो कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस है। यहाँ तनुवातवलय की मोटाई जो एक कोस से कुछ कम बतलाई है, उस कमी का प्रमाण चार सौ पच्चीस धनुष है ॥२७६॥

विशेषार्थ—लोक के अग्रभाग पर घनोदधिवातवलय की मोटाई २ कोस, घनवातवलय की एक कोस और तनुवातवलय की ४२५ धनुष कम एक कोस अर्थात् १५७५ धनुष प्रमाण है।

लोक के सम्पूर्ण वातवलयों को प्रदर्शित करने वाला चित्र

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

लोक के सम्पूर्ण वातवलयों को प्रदर्शित करने वाला चित्र :-

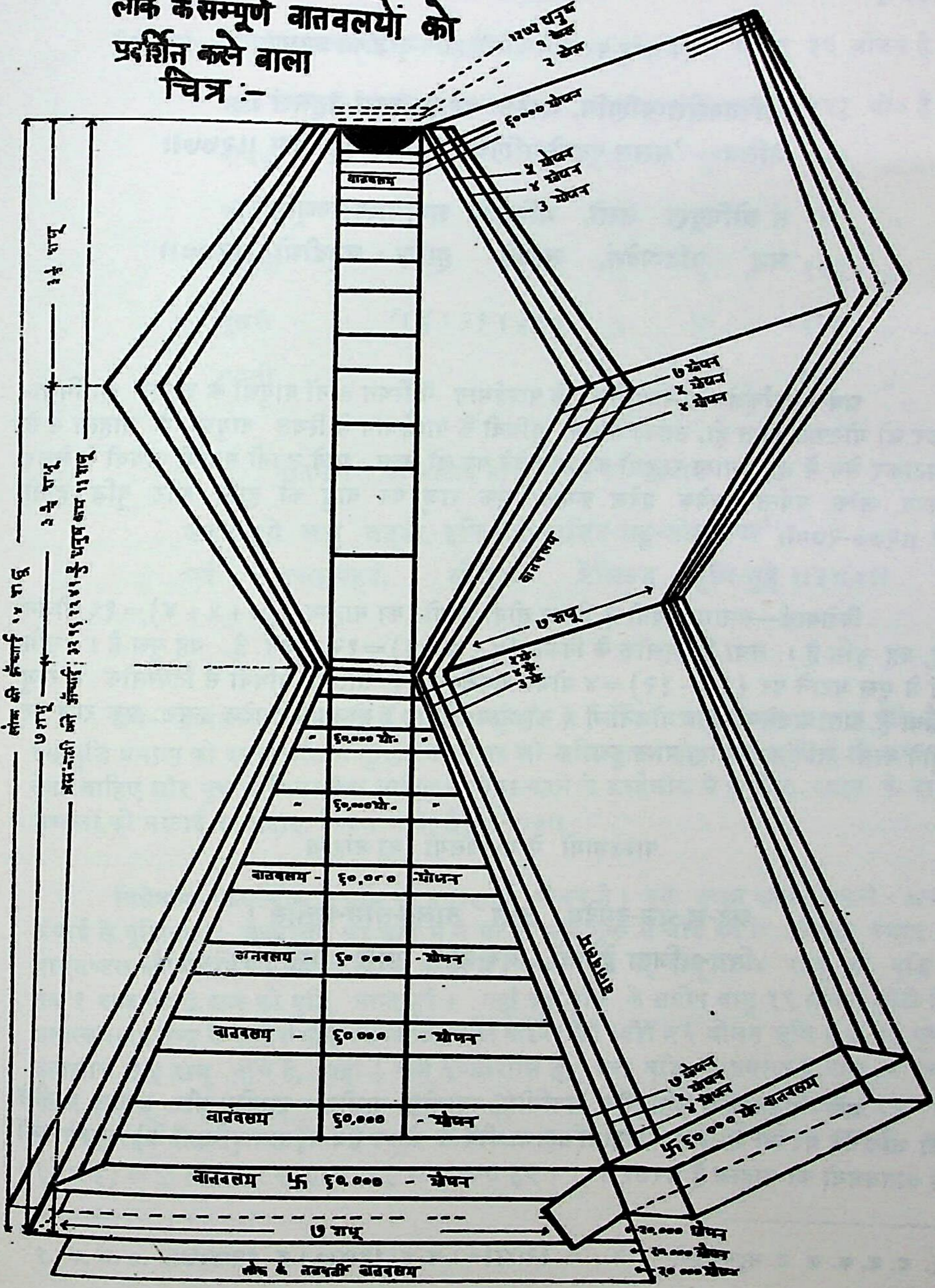
१५७५ धनुष
१ कोस
२ कोस
६०००० योजन
५ योजन
४ योजन
3 योजन
वातवलय
७ योजन
५ योजन
४ योजन
वातवलय
७ राजू
५ यो.
४ यो.
3 यो.
६०,००० यो.
६०,००० यो.
वातवलय - ६०,००० योजन
घनवलय - ६० ००० - योजन
वातवलय - ६०००० - योजन
वातवलय ६०,००० - योजन
वातवलय 卐 ६०,००० - योजन
वातवलय
७ योजन
५ योजन
४ योजन
卐 ६० ००० यो. वातवलय
७ राजू
२०,००० योजन
२०,००० योजन
२०,००० योजन
लोक के तलवर्ती वातवलय
३½ राजू
३½ राजू
७ राजू
लोक की ऊँचाई १४ राजू
त्रसनाली की ऊँचाई : ३२१६२२४१⅔ धनुष कम १३ राजू

एक राजू पर होने वाली हानि-वृद्धि का प्रमाण

तिरियक्खेत्तप्पणिधिं, गदस्स पवणत्तयस्स बहलत्तं ।
मेलिय [1]सत्तम-पुढवी-पणिधीगय-मरुद-बहलम्मि ॥२७७॥

तं सोधिदूण तत्तो, भजिदव्वं छप्पमाण-रज्जूहिं ।
लद्धं पडिप्पदेसं, जायंते हाणि - वड्ढीओ ॥२७८॥

। १६ । १२ । $\frac{४}{६}$ ।[2]

अर्थ—तिर्यक्क्षेत्र (मध्यलोक) के पार्श्वभाग में स्थित तीनों वायुओं के बाहल्य को मिलाकर जो योगफल प्राप्त हो, उसको सातवीं पृथिवी के पार्श्वभाग में स्थित वायुओं के बाहल्य में से घटाकर शेष में छह प्रमाण राजुओं का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतनी सातवीं पृथिवी से लेकर मध्य लोक पर्यन्त प्रत्येक प्रदेश क्रमशः एक राजू पर वायु की हानि और वृद्धि होती है ॥२७७-२७८॥

विशेषार्थ—सप्तम पृथिवी के निकट तीनों पवनों का बाहल्य (७ + ५ + ४) = १६ योजन है, यह भूमि है। तथा तिर्यग्लोक के निकट (५ + ४ + ३) = १२ योजन है, यह मुख है। भूमि में से मुख घटाने पर (१६ — १२) = ४ योजन अवशेष रहे। सातवीं पृथिवी से तिर्यग्लोक ६ राजू ऊँचा है, अतः अवशेष रहे ४ योजनों में ६ का भाग देने पर $\frac{४}{६}$ योजन प्रतिप्रदेश क्रमशः एक राजू पर होने वाली हानि का प्रमाण प्राप्त हुआ।

पार्श्वभागों में वातवलयों का बाहल्य

अट्ठ-छ-चउ-दुगदेयं, तालं तालट्ठ-तीस-छत्तीसं ।
तिय-भजिदा हेट्ठादो, मरु-बहलं सयल - पासेसु ॥२७९॥

। $\frac{४८}{3}$ । $\frac{४६}{3}$ । $\frac{४४}{3}$ । $\frac{४२}{3}$ । $\frac{४०}{3}$ । $\frac{३८}{3}$ । $\frac{३६}{3}$ ।

अर्थ—अड़तालीस, छ्यालीस, चवालीस, वयालीस, चालीस, अड़तीस और छत्तीस में तीन का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना क्रमशः नीचे से लेकर सब (सात पृथ्वियों के) पार्श्वभागों में वातवलयों का बाहल्य है ॥२७९॥

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. सट्ठमपोढवी° । [2] द. १२।४।१० । ज. ठ. १२।४।७ । क. १२।४।६।

विशेषार्थ—सातवीं पृथिवी के समीप तीनों पवनों का बाहल्य $\frac{४८}{३}$ अर्थात् १६ योजन है।

छठी पृथिवी के समीप तीनों पवनों का बाहल्य $\frac{४६}{३}$ अर्थात् १५$\frac{१}{३}$ यो० है।

पाँचवीं " " " " $\frac{४४}{३}$ " १४$\frac{२}{३}$ " "

चौथी " " " " $\frac{४२}{३}$ " १४ " "

तीसरी " " " " $\frac{४०}{३}$ " १३$\frac{१}{३}$ " "

दूसरी " " " " $\frac{३८}{३}$ " १२$\frac{२}{३}$ " "

पहली " " " " $\frac{३६}{३}$ " १२ " "

वातमण्डल की मोटाई प्राप्त करने का विधान

उड्ढ-जगे खलु वड्ढी, इगि-सेढी-भजिद-अट्ठ-जोयणया[1]।
एदं इच्छप्पहदं, सोहिय मेलिज्ज भूमि-मुहे ॥२८०॥

८

अर्थ—ऊर्ध्वलोक में निश्चय से एक जगच्छ्रेणी से भाजित आठ योजन प्रमाण वृद्धि है। इस वृद्धि प्रमाण को इच्छाराशि से गुणित करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसे भूमि में से कम कर देना चाहिए और मुख में मिला देना चाहिए। (ऐसा करने से ऊर्ध्वलोक में अभीष्ट स्थान के वायुमण्डलों की मोटाई का प्रमाण निकल आता है) ॥२८०॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक में वृद्धि का प्रमाण $\frac{८}{७}$ योजन है। इसे इच्छा अर्थात् अपनी - अपनी ऊँचाई से गुणितकर, लब्धराशि को भूमि में से घटाने और मुख में जोड़ देने से इच्छित स्थान के वायुमण्डल की मोटाई का प्रमाण निकल आता है। यथा—जब ३$\frac{१}{२}$ राजू पर ४ राजू की वृद्धि है, तब १ राजू पर $\frac{८}{७}$ राजू की वृद्धि प्राप्त हुई। यहाँ ब्रह्मलोक के समीप वायु १६ योजन मोटी है। सानत्कुमारमाहेन्द्र के समीप वायु की मोटाई प्राप्त करना है। यहाँ १६ योजन भूमि है। यह युगल ब्रह्मलोक से $\frac{१}{२}$ राजू नीचे है, यहाँ $\frac{१}{२}$ राजू इच्छाराशि है, अतः वृद्धि के प्रमाण $\frac{८}{७}$ राजू में इच्छा राशि $\frac{१}{२}$ राजू का गुणा कर, गुणनफल ($\frac{८}{७}\times\frac{१}{२}=\frac{४}{७}$) को १६ राजू भूमि में से घटाने पर (१६—$\frac{४}{७}$) =१५$\frac{३}{७}$ राजू मोटाई प्राप्त होती है। मुख की अपेक्षा दूसरे युगल की ऊँचाई ३ राजू है, अतः ($\frac{८}{७}\times\frac{३}{१}$)=$\frac{२४}{७}$ तथा १२+$\frac{२४}{७}$=१५$\frac{३}{७}$ राजू प्राप्त हुए।

---

[1] द. ज. ठ. जोयणसया।

मेरुतल से ऊपर वातवलयों की मोटाई का प्रमाण

मेरु-तलादो उर्वारि, कप्पाणं सिद्ध-खेत्त-पणिधीए ।
चउसीदी छण्णउदी, अडजुद-सय बारसुत्तरं च सयं ।।२८१।।

एत्तो चउ-चउ-हीणं, सत्तसु ठाणेसु ठविय पत्तेक्कं ।
सत्त-विहत्ते होदि हु, मारुद - वलयाण बहलत्तं ।।२८२।।

८४	९६	१०८	११२	१०८	१०४	१००	९६	९२	८८	८४
७	७	७	७	७	७	७	७	७	७	७

अर्थ—मेरुतल से ऊपर सर्वकल्प तथा सिद्धक्षेत्र के पार्श्वभाग में चौरासी, छ्यानबे, एक-सौ आठ, एक सौ बारह और फिर इसके आगे सात स्थानों में उक्त एक सौ बारह में से उत्तरोत्तर चार-चार कम संख्या को रखकर प्रत्येक में सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना वातवलयों की मोटाई का प्रमाण है ।।२८१-२८२।।

विशेषार्थ—जब $३\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई पर ४ राजू की वृद्धि है तब $१\frac{१}{२}$ राजू और $\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई पर कितनी वृद्धि होगी ? इस प्रकार दो त्रैराशिक करने पर वृद्धि का प्रमाण क्रमशः $\frac{१२}{७}$ राजू और $\frac{४}{७}$ राजू प्राप्त होता है ।

मेरुतल से ऊपर सौधर्म युगल के अधोभाग में वायु का बाहल्य $\frac{८४}{७}$ योजन, सौधर्मैशान के उपरिम भाग में $\frac{८४}{७}+\frac{१२}{७}=\frac{९६}{७}$ योजन और सानत्कुमार-माहेन्द्र के निकट $\frac{९६}{७}+\frac{१२}{७}=\frac{१०८}{७}$ योजन है । अब प्रत्येक युगल की ऊँचाई आधा-आधा राजू है, जिसकी वृद्धि एवं हानि का प्रमाण $\frac{४}{७}$ राजू है, अतः ब्र० ब्रह्मो० के निकट $\frac{१०८}{७}+\frac{४}{७}=\frac{११२}{७}$ योजन, लां०का० के निकट $\frac{११२}{७}-\frac{४}{७}=\frac{१०८}{७}$ योजन, शु० महाशुक्र के समीप $\frac{१०८}{७}-\frac{४}{७}=\frac{१०४}{७}$ यो०, शतार सह० के समीप $\frac{१०४}{७}-\frac{४}{७}=\frac{१००}{७}$ योजन, आ० प्रा० के समीप $\frac{१००}{७}-\frac{४}{७}=\frac{९६}{७}$ योजन, आ० अ० के समीप $\frac{९६}{७}-\frac{४}{७}=\frac{९२}{७}$ यो०, ग्रैवेयकादिके समीप $\frac{९२}{७}-\frac{४}{७}=\frac{८८}{७}$ योजन और सिद्धक्षेत्र के समीप $\frac{८८}{७}-\frac{४}{७}=\frac{८४}{७}$ अर्थात् १२ योजन की मोटाई है ।

पार्श्वभागों में तथा लोकशिखर पर पवनों की मोटाई

तीसं इगिदाल-दलं, कोसा तिय-भाजिदा य उणवण्णा ।
सत्तम-खिदि - पणिधीए, बम्हजुगे वाउ - बहलत्तं ।।२८३।।

घनो०	घ०	तनु०
३०	$\frac{४१}{२}$	$\frac{४९}{३}$

दोछब्बारसभागब्भहिओ कोसो कमेण वाउ-घणं ।
लोय-उवरिम्मि एवं, लोय-विभायम्मि पण्णत्तं ।।२८४।।

। $१\frac{१}{२}$ । $१\frac{१}{६}$ । $१\frac{१}{१२}$ । पाठान्तरं[1]

अर्थ—सातवीं पृथिवी और ब्रह्मयुगल के पार्श्वभाग में तीनों वायुओं की मोटाई क्रमशः तीस, इकतालीस के आधे और तीन से भाजित उनचास कोस है ।।२८३।।

अर्थ—लोक के ऊपर अर्थात् लोकशिखर पर तीनों वातवलयों की मोटाई क्रमशः दूसरे भाग से अधिक एक कोस, छठे भाग से अधिक एक कोस और बारहवें भाग से अधिक एक कोस है, ऐसा 'लोकविभाग' में कहा गया है ।।२८४।। पाठान्तर

विशेषार्थ—लोकविभागानुसार सप्तम पृथिवी और ब्रह्मयुगल के समीप घनोदधिवात ३० कोस, घनवात $\frac{४१}{२}$ कोस और तनुवात $\frac{४९}{३}$ कोस है तथा लोकशिखर पर घनोदधिवात की मोटाई $१\frac{१}{२}$ कोस, घनवात की $१\frac{१}{६}$ कोस और तनुवात की मोटाई $१\frac{१}{१२}$ कोस है।

वायुरुद्धक्षेत्र आदि के घनफलों के निरूपण की प्रतिज्ञा

[2]वादवरुद्धक्खेत्ते, विंदफलं तह य अट्ठ-पुढवीए ।
सुद्धायास-खिदीणं[3], लव-मेत्तं वत्तइस्सामो ।।२८५।।

अर्थ—यहाँ वायु से रोके गये क्षेत्र, आठ पृथिवियाँ और शुद्ध-आकाश-प्रदेश के घनफल को लवमात्र (संक्षेप में) कहते हैं ।।२८५।।

वातावरुद्ध क्षेत्र निकालने का विधान एवं घनफल

संपहि लोग-पेरंत-ट्ठिद-वादवलय[4]-रुद्ध-खेत्ताणं आणयण[5] विधाणं उच्चदे—

लोगस्स तले [6]तिण्णि-वादाणं बहलं पत्तेक्कं वीस-सहस्सा य जोयणमेत्तं । [7]तं सव्वमेगट्ठं कदे सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्लं जगपदरं होदि ।

---

[1] द. ब. प्रत्योः 'पाठान्तर' इति पद २८०-२८१ गाथयोर्मध्य उपलभ्यते । [2] द. वादरुद्धं, ब वादवरुद्धं । [3] द. ब. खिदिणं । [4] द. ब. क. ज. ठ. वादंवलयरुंधचित्ताणं । [5] द. ब. क. ज. ठ. याणयण । [6] द. तिण्ण । [7] द. क. ज. ठ. तं सम्मेगट्ठं, कदेगसट्ठि, ब. तेसमेगट्ठं कदे वासट्ठि ।

णवरि दोसु वि अंतेसु सट्ठि-जोयण-सहस्स-उस्सेह-परिहाणि[1]-खेत्तेण ऊणं एदमजोएदूणं सट्ठि-सहस्स बाहल्लं जगपदरमिदि संकप्पिय तच्छेदूण पुढं ठवेदव्वं[2] । = ६०००० ।

अर्थ—अब लोक-पर्यन्त में स्थित वातवलयों से रोके गये क्षेत्रों को निकालने का विधान कहते हैं—

लोक के नीचे तीनों पवनों में प्रत्येक का बाहल्य (मोटाई) बीस हज़ार योजन प्रमाण है। इन तीनों पवनों के बाहल्य को इकट्ठा करने पर साठ हज़ार योजन बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

यहाँ मात्र इतनी विशेषता है कि लोक के दोनों ही अन्तों (पूर्व-पश्चिम के अन्तिम भागों) में साठ हज़ार योजन की ऊँचाई पर्यन्त क्षेत्र यद्यपि हानि-रूप है, फिर भी उसे न छोड़कर 'साठ हज़ार योजन बाहल्य वाला जगत्प्रतर है' इस प्रकार संकलपपूर्वक उसको छेदकर पृथक् स्थापित करना चाहिए। यो० ६००००×४६।

विशेषार्थ—लोक के नीचे तीनों पवनों का बाहल्य (२०+२०+२०)=६० हज़ार योजन है। इनकी लम्बाई, चौड़ाई जगच्छ्रेणी प्रमाण है, अतः जगच्छ्रेणी में जगच्छ्रेणी का परस्पर गुणा करने से (जगच्छ्रेणी×जगच्छ्रेणी)=जगत्प्रतर की प्राप्ति होती है।

लोक की दक्षिणोत्तर चौड़ाई सर्वत्र जगच्छ्रेणी (७ राजू) प्रमाण है, किन्तु पूर्व-पश्चिम चौड़ाई ७ राजू से कुछ कम है, फिर भी उसे गौण कर लोक के नीचे तीनों-पवनों से अवरुद्ध क्षेत्र का घनफल=[७×७=४६ वर्ग राजू अर्थात् जगत्प्रतर]×६०००० योजन कहा गया है। यथा—

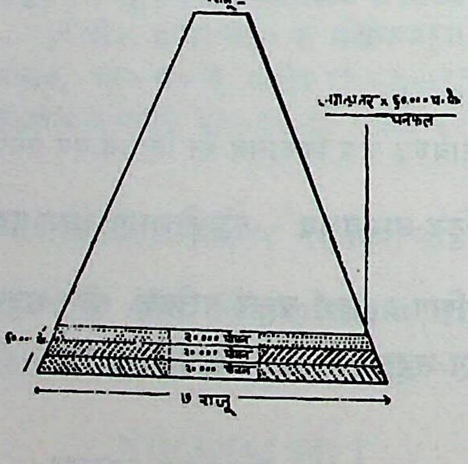

---

[1] [परिहीण], [2] द. ब. क. ज. ठ. पुढं ति दव्वं।

पुणो एग-रज्जूस्सेधेण सत्त-रज्जू-आयामेण सट्ठिजोयण सहस्स-बाहल्लेण दोसु पासेसुं ठिद-वाद-खेत्तं बुद्धीए[1] पुध करिय जग-पदर-पमाणेण णिबद्धे वीससहस्साहिय-जोयण-लक्खस्स सत्त-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि । $= \frac{१,२००००}{७}$ ।

अर्थ—अनन्तर एक ($\frac{१}{७}$) राजू उत्सेध, सात राजू आयाम और साठ हजार योजन बाहल्य वाले वातवलय की अपेक्षा दोनों पार्श्व-भागों में स्थित वातक्षेत्र को बुद्धि से अलग करके जगत्प्रतर प्रमाण से सम्बद्ध करने पर सात से भाजित एक लाख बीस हजार योजन जगत्प्रतर होता है ।

विशेषार्थ—अधोलोक के एक राजू ऊपर के पार्श्वभागों तक तीनों पवनों की ऊँचाई एक-राजू, आयाम ७ राजू और मोटाई ६० हजार योजन है। इनका परस्पर गुणा करने से ($\frac{१}{७} \times \frac{७}{१} \times$ ६०००० योजन) $= \frac{४९}{७} \times \frac{\text{६० हजार योजन}}{१}$ एक पार्श्वभाग का घनफल प्राप्त होता है। दोनों पार्श्वभागों का घनफल निकालने हेतु दो से गुणित करने पर ($\frac{४९}{७} \times \frac{\text{६० हजार}}{१} \times \frac{२}{१}$) $=$ ($\frac{४९}{७}$ अर्थात् $\frac{\text{जगत्प्रतर}}{७}$) $\times \frac{१,२००००}{१}$ योजन घनफल प्राप्त होता है। यथा—

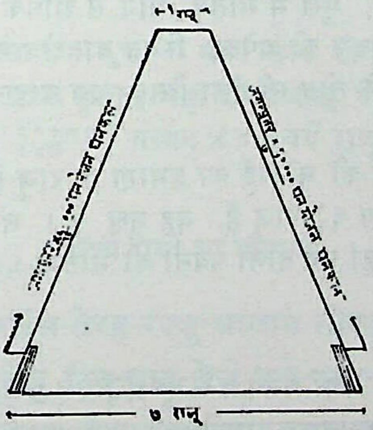

तं पुव्विल्लक्खेत्तस्सुवरि ठिदे चालीस-जोयण-सहस्साहिय-पंचण्हं लक्खाणं सत्त-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि । $= \frac{५,४००००}{७}$ ।

---

१. द. क. ज. ठ. बुधि पुदक्करिय, ब. वुड्डि पुदक्करिय ।

अर्थ—इसको पूर्वोक्त क्षेत्र के ऊपर स्थापित करने पर पाँच लाख चालीस हजार योजन के सातवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—लोक के नीचे वातवलय का घनफल ४९ वर्ग राजू × ६०००० योजन था और दोनों पार्श्व भागों का ४९ वर्ग राजू × $\frac{१,२००००}{७}$ योजन है। इन दोनों का योग करने के लिए जगत्प्रतर के स्थानीय ४९ को छोड़कर $\frac{६००००}{१} + \frac{१,२००००}{७} = \frac{४,२०००० + १,२००००}{७} = \frac{५,४००००}{७}$ योजन प्राप्त हुआ। इसे जगत्प्रतर से युक्त करने पर $\frac{४९ \times ५,४००००}{७}$ योगफल प्राप्त हुआ।

पुणो अवरासु दोसु दिसासु एग-रज्जूस्सेधेण तले सत्त-रज्जू-आयामेण[1] मुहे सत्त-भागाहिय-छ-रज्जु-रुंदत्तेण सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्लेण [2]ठिद-वाद-खेत्ते जग-पदर-पमाणेण कदे वीस-जोयण-सहस्साहिय-पंच-पंचासज्जोयण-लक्खाणं तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि। $= \frac{५५२००००}{३४३}$

अर्थ—इसके आगे इतर दो दिशाओं (दक्षिण और उत्तर) की अपेक्षा एक राजू उत्सेधरूप, तलभाग में सात राजू आयामरूप, मुख में सातवें भाग से अधिक छह राजू विस्ताररूप और साठ हजार योजन बाहल्य रूप वायुमण्डल की अपेक्षा स्थित वातक्षेत्र के जगत्प्रतर प्रमाण से करने पर पचपन लाख बीस हजार योजन के तीन सौ तैंतालीसवें-भाग बाहल्यप्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—लोक के नीचे की चौड़ाई का प्रमाण ७ राजू है, यह भूमि है, सातवीं-पृथिवी के निकट लोक की चौड़ाई का प्रमाण ६$\frac{१}{७}$ राजू है, यह मुख है। लोक के नीचे सप्तम-पृथिवी-पर्यन्त ऊँचाई $\frac{४९}{४९}$ (१ राजू) है, तथा यहाँ पर तीनों पवनों की मोटाई ६० हजार योजन है। इन सबका घनफल इस प्रकार है—

भूमि $\frac{७}{१} + \frac{४३}{७}$ मुख $= \frac{९२}{७}$, तथा घनफल $= \frac{९२}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{२}{१} \times \frac{४९}{४९}$ वर्ग राजू × $\frac{६००००}{१}$ योजन = ४९ वर्ग राजू × $\frac{५५,२००००}{३४३}$ योजन घनफल प्राप्त हुआ। यथा—

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

---

१. द. आलियामेण। ज. ठ. आलियमण। २. द. ब. क. ज. ठ. ठिदवादखेत्तेण।

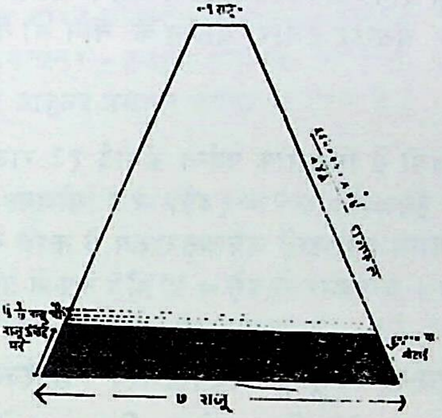

एदे[1] पुव्विल्ल-खेत्तस्सुवरिं पक्खित्ते एगूणवीस-लक्ख-असीदि-सहस्स-जोयणाहिय-तिण्हं कोडीणं तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि । $= \frac{३१९८००००}{३४३}$ ।

अर्थ—इस उपर्युक्त घनफल के प्रमाण को पूर्वोक्त क्षेत्र के ऊपर रखने पर तीन करोड़, उन्नीस लाख, अस्सी हजार योजन के तीन सौ तैंतालीसवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त योगफल $\frac{४९ \times ५४००००}{७}$ था। लोक की एक राजू ऊँचाई पर दोनों पार्श्व-भागों का घनफल $\frac{५५२०००० \times ४९}{३४३}$ प्राप्त हुआ। यहाँ दोनों जगह ४९ जगत्प्रतर के स्थानीय हैं, अतः $\left[\left(\frac{५४००००}{७} + \frac{५५२००००}{३४३} \right) = \frac{३१९८००००}{३४३} \right]$ योजन × ४९ वर्ग राजू अर्थात् जगत्प्रतर × $\frac{३१९८००००}{३४३}$ घनफल प्राप्त हुआ।

पार्श्वभागों का घनफल

पुणो सत्त-रज्जु-विक्खंभ-तेरह-रज्जु-आयाम-सोलह[2] -बारह-[-सोलसबारह-] जोयण-बाहल्लेण दोसु वि पासेसु ठिद-वाद-खेत्ते जग-पदर-पमाणेण कदे चउ-सट्ठि-सद-जोयणूण-अट्ठारह-सहस्स-जोयणाणं तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जग-पदरमुप्पज्जदि । $\frac{१७८३६}{३४३}$ ।

अर्थ—इसके अनन्तर सात राजू विष्कम्भ, तेरह राजू आयाम तथा सोलह, बारह (सोलह एवं बारह) योजन बाहल्य रूप अर्थात् सातवीं पृथिवी के पार्श्वभाग में सोलह, मध्यलोक के

---

[1] एदं पुव्विल्लं। [2] द. सोलस।

पार्श्वभाग में बारह (ब्रह्मस्वर्ग के पाश्वभाग में सोलह और सिद्धलोक के पार्श्वभाग में बारह) योजन बाहल्यरूप वातवलय की अपेक्षा दोनों ही पार्श्वभागों में स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर प्रमाण से करने पर एक सौ चौंसठ योजन कम अठारह हजार योजन के तीन सौ तैंतालीसवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ--सप्तम पृथिवी से सिद्धलोक पर्यन्त ऊँचाई १३ राजू, विष्कम्भ ७ राजू वातवलयों की मोटाई का औसत (१६ + १२ = २८ ÷ २ = १४), १४ योजन तथा पार्श्वभाग दो हैं, अतः १३ × ७ × १४ × २ = २५४८ प्राप्त हुए, इन्हें जगत्प्रतर रूप से करने के लिए $\frac{२५४८}{१} \times \frac{३४३}{३४३}$ अर्थात् $\frac{१७८३६ \times ४९}{३४३}$ घनफल प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार ने इसे $= \frac{१७८३६}{३४३}$ रूप में प्रस्तुत किया है।

पुणो सत्त-भागाहिय-छ-रज्जु-मूल-विक्खंभेण छ-रज्जूच्छेहेण एग-रज्जु-मुहेण सोलह-बारह-जोयण-बाहल्लेण दोसु वि पासेसु ठिद-वाद-खेत्तं जगपदर-पमाणेण कदे बादालीस जोयण-सदस्स[1] [2]तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{४२००}{३४३}$[3]।

अर्थ—पुनः सातवें भाग से अधिक छह राजू मूल में विस्ताररूप, छह राजू उत्सेधरूप, मुख में एक राजू विस्तार रूप और सोलह-बारह योजन बाहल्य रूप (सातवीं पृथिवी और मध्यलोक के पार्श्वभाग में) वातवलय की अपेक्षा दोनों ही पार्श्वभागों में स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर प्रमाण से करने पर बयालीस सौ योजन के तीन सौ तैंतालीसवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—सप्तम पृथ्वी के निकट पवनों की चौड़ाई $६\frac{१}{७}$ अर्थात् $\frac{४३}{७}$ राजू है, यह भूमि है। तिर्यग्लोक के निकट पवनों की चौड़ाई १ राजू अर्थात् $\frac{७}{७}$ राजू है, यह मुख है। सप्तम पृथिवी से मध्यलोक पर्यन्त पवनों की ऊँचाई ६ राजू, मोटाई (१६ + १४ = २८ ÷ २) = १४ राजू है तथा पार्श्वभाग दो हैं, अतः $[\frac{४३}{७} + \frac{७}{७} = \frac{५०}{७}] \times \frac{१}{२} \times \frac{२}{१} \times \frac{१४}{१} \times \frac{६}{१} = ६००$ प्राप्त हुए, इन्हें जगत्प्रतर स्वरूप बनाने हेतु ३४३ से गुणित किया और ३४३ से ही भाजित किया। यथा—$\frac{६०० \times ३४३}{३४३}$ अर्थात् $= \frac{४२०० \times ४९}{३४३}$ घनफल प्राप्त हुआ। इसे ४९ वर्गराजू × $\frac{४२००}{३४३}$ योजन रूप में प्राप्त किया जाने से ग्रन्थकार ने $= \frac{४२००}{३४३}$ रूप में प्रस्तुत किया है।

पुणो एग-पंच-एग-रज्जु-विक्खंभेण सत्त-रज्जूच्छेहेण बारह-सोलह-बारह-जोयण-बाहल्लेण उवरिम-दोसु वि पासेसु ठिद-वाद-खेत्तं [4]जगपदर-पमाणेण कदे अट्ठासीदि-समहिय-पंच-जोयण-सदाणं एगूणवण्णासभाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{५८८}{४९}$।

---

१. द. ब. मदा। २. द. जोयणलक्खतेदालीससदभागहिबाहल्ल। ३. ब. ४२०००। ४. द. जगदपदर°।

अर्थ· अनन्तर एक, पाँच एवं एक राजू विष्कम्भ रूप (क्रम से मध्यलोक, ब्रह्मस्वर्ग और सिद्धक्षेत्र के पार्श्वभाग में), सात राजू उत्सेध रूप और क्रमशः मध्यलोक, ब्रह्मस्वर्ग एवं सिद्धलोक के पार्श्वभाग में बारह, सोलह और बारह योजन बाहल्यरूप वातवलय की अपेक्षा ऊपर दोनों ही पार्श्व-भागों में स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर - प्रमाण से करने पर पाँच सौ अठासी योजन के एक कम पचासवें अर्थात् उनचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक ब्रह्मस्वर्ग के समीप पाँच राजू चौड़ा है, यही भूमि है। तिर्यग्लोक एवं सिद्धलोक के समीप १ योजन चौड़ा है, यही मुख है। उत्सेध ७ राजू, तीनों पवनों का औसत १४ योजन और पार्श्वभाग दो हैं, अतः भूमि ५ + १ मुख = ६ ÷ २ = ३ × ७ × १४ × २ = ५८८ इसे जगत्प्रतर प्रमाण करने पर $\frac{५८८ \times ४९}{४९}$ घनफल प्राप्त होता है। यह ४९ वर्ग राजू × $\frac{५८८}{४९}$ योजन रूप में होने से ग्रन्थकार ने $=\frac{५८८}{४९}$ संदृष्टि रूप में लिखा है।

लोक के शिखर पर वायुरुद्ध क्षेत्र का घनफल

उवरि रज्जु-विक्खंभेण सत्त-रज्जु-आयामेण किंचूण-जोयण-बाहल्लेण ठिद-वाद-खेत्तं जगपदर-पमाणेण कदे ति-उत्तर-तिसदाणं बे-सहस्स-विसद-चालीस-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $=\frac{३०३}{२२४०}$ ।

अर्थ—ऊपर एक राजू विस्ताररूप, सात राजू आयामरूप और कुछ कम एक योजन बाहल्यरूप वातवलय की अपेक्षा स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर प्रमाण से करने पर तीन सौ तीन योजन के दो हजार, दो सौ चालीसवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—लोक के अग्रभाग पर पूर्व-पश्चिम अपेक्षा वातवलय का व्यास १ राजू, ऊँचाई $\frac{३०३}{२२४०}$ योजन और दक्षिणोत्तर चौड़ाई ७ राजू है। इनका परस्पर गुणा कर जगत्प्रतर स्वरूप करने से $\frac{१}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{३०३}{२२४०} \times \frac{४९}{४९} = \frac{३०३ \times ४९}{२२४०}$ घनफल प्राप्त होता है। यह ४९ वर्ग राजू × $\frac{३०३}{२२४०}$ योजन होने से ग्रन्थकार ने संदृष्टि रूप में $=\frac{३०३}{२२४०}$ लिखा है।

यहाँ $\frac{३०३}{२२४०}$ कैसे प्राप्त होते हैं, इसका बीज कहते हैं—

८००० धनुष का एक योजन और २००० धनुष का एक कोस होता है। लोक के अग्रभाग पर घनोदधिवातवलय दो कोस मोटा है, जिसके ४००० धनुष हुए। घनवात एक कोस मोटा है जिसके २००० धनुष हुए और तनुवात १५७५ धनुष मोटा है। इन तीनों का योग (४००० + २००० + १५७५) ७५७५ धनुष होता है। जब ८००० धनुष का एक योजन होता है तब ७५७५ धनुष के

कितने योजन होंगे ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{१}{८०००} \times \frac{७५७५}{१} = \frac{३०३}{३२०}$ योजन मोटाई लोक के अग्रभाग में कही गई है। (त्रिलोकसार गाथा १३८)

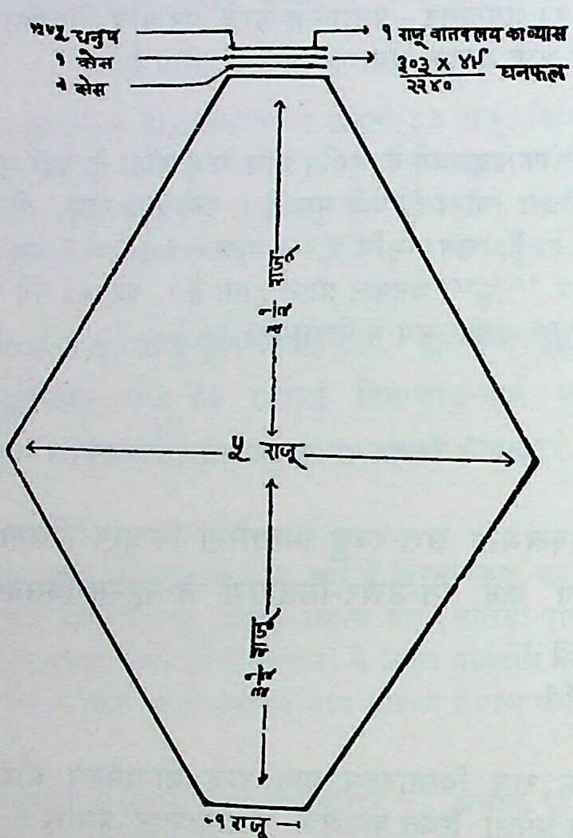
१५७५ धनुष
१ कोस
२ कोस
१ राजू वातवलय का व्यास
$\frac{३०३ \times ४५}{२२४०}$ घनफल
३½ राजू
५ राजू
३½ राजू
१ राजू

पवनों से रुद्ध समस्त क्षेत्र के घनफलों का योग

एदं [1]सव्वमेगत्थ मेलाविदे चउवीस-कोडि-समहिय-सहस्स-कोडीओ एगूणवीस-लक्ख-तेसीदि-सहस्स-चउसद-सत्तासीदि-जोयणाणं णव-सहस्स-सत्त-सय-सट्ठि-रूवाहिय-लक्खाए अवहिदेग-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०}$ ।

अर्थ—इन सबको इकट्ठा करके मिला देने पर एक हजार चौबीस करोड़, उन्नीस लाख, तयासी हजार, चार सौ सत्तासी योजनों में एक लाख नौ हजार सात सौ साठ का भाग देने पर लब्ध एक भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

---

१. ब. सव्वमगं पथमेलाविदे, द. ज. ठ.. सव्वमेगं पमेलाविदे।

विशेषार्थ— १. लोक के नीचे तीनों पवनों से अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

२. लोक के एक राजू ऊपर पूर्व-पश्चिम में अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

३. लोक के एक राजू ऊपर दक्षिणोत्तर में अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

४. सप्तम पृथिवी से सिद्धलोक पर्यन्त अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

५. सप्तम पृथिवी से मध्यलोक पर्यन्त दक्षिणोत्तर में अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

६. ऊर्ध्वलोक के अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल को और ७. लोक के अग्र भाग पर वातवलयों से अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल को एकत्र करने पर योग इस प्रकार होगा—

(जगत्प्रतर अथवा $४९ \times \frac{३,१९,८००००}{३४३}$) + (जगत्प्रतर या $४९ \times \frac{१७८३६}{३४३}$) + (जगत्प्रतर या $४९ \times \frac{४२००}{३४३}$) + (जगत्प्रतर या $४९ \times \frac{५८८}{४९}$) + (जगत्प्रतर या $४९ \times \frac{३०३}{२२४०}$)। इनको जोड़ने की प्रक्रिया—

$$\text{जगत्प्रतर} \times \left[\frac{३,१९,८००००}{३४३} + \frac{१७८३६}{३४३} + \frac{४२००}{३४३} + \frac{५८८}{४९} + \frac{३०३}{२२४०} \right]$$

$$= \text{जगत्प्रतर} \times \left[\frac{१०२३,३६,००००० + ५७,०७५२० + १३,४४००० + १३,१७१२० + १४८४७}{१,०९७६०} \right]$$

= जगत्प्रतर × $\frac{१०२४,१९,८३४८७}{१,०९७६०}$ अथवा = $\frac{१०२४,१९,८३४८७}{१,०९७६०}$ पवनों से रुद्ध समस्त क्षेत्र का घनफल प्राप्त हुआ।

पृथिवियों के नीचे पवन से रुद्ध क्षेत्रों का घनफल

पुणो अट्ठण्हं पुढवीणं हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं वत्तइस्सामो—

तत्थ पढम-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं एक-रज्जु-विक्खंभ-सत्त-रज्जु-दीहा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्लं एसा अप्पणो बाहल्लस्स सत्तम-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{६००००}{७}$ ।

अर्थ—इसके बाद आठों पृथिवियों के अधस्तन भाग में वायु से अवरुद्ध क्षेत्र का घनफल कहते हैं—

इन आठों पृथिवियों में से प्रथम पृथिवी के अधस्तन भाग में अवरुद्ध वायु के क्षेत्र का घनफल कहते हैं—एक राजू विष्कम्भ, सात राजू लम्बाई और साठ हजार योजन बाहल्य वाला प्रथम पृथिवी

का वातरुद्ध क्षेत्र होता है। इसका घनफल अपने बाहल्य अर्थात् साठ हजार योजन के सातवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवी अर्थात् मध्यलोक के समीप पवनों की चौड़ाई एक राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने पर इस प्रकार होता है—

$=\frac{१×७×६००००×४९}{४९}=\frac{४९×६००००×७}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

विदिय-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घण-फलं सत्त-भागूण-बे रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला असीदि-सहस्साहिय-सत्तण्हं लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $=\frac{७८००००}{४९}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के अधस्तन भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र का घनफल कहते हैं—सातवें भाग कम दो राजू विष्कम्भ वाला, सात राजू आयत और ६० हजार योजन बाहल्य वाला दूसरी पृथिवी का वातरुद्ध क्षेत्र है। उनका घनफल सात लाख, अस्सी हजार, योजन के उनचासवें भाग बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—अधोलोक की भूमि सात राजू और मुख एक राजू है। भूमि में से मुख घटाने पर (७—१)=६ राजू अवशेष रहा। क्योंकि ७ राजू ऊँचाई पर ६ राजू घटते हैं, अतः एक राजू पर $\frac{६}{७}$ राजू घटेगा, इस प्रकार प्रत्येक एक राजू ऊपर-ऊपर जाने पर घटेगा। प्रत्येक एक राजू पर $\frac{६}{७}$ राजू घटाते जाने से नीचे से क्रमशः $\frac{४३}{७}$, $\frac{३७}{७}$, $\frac{३१}{७}$, $\frac{२५}{७}$, $\frac{१९}{७}$, $\frac{१३}{७}$, और $\frac{७}{७}$ राजू व्यास प्राप्त होता है। इसीलिए गाथा में दूसरी पृथिवी का व्यास $\frac{१३}{७}$ राजू कहा गया है। $=\frac{७}{१}\times\frac{१३}{७}\times\frac{६००००}{१}$ $=\frac{७×७,८००००×७}{७×७}=\frac{४९×७,८००००}{४९}$ घनफल दूसरी पृथिवी के वातरुद्ध क्षेत्र का प्राप्त हुआ।

तदिय-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं बे-सत्तम-भाग-हीण-तिण्णि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला चालीस-सहस्साधिय-एक्कारस-लक्ख-जोयणाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $=\frac{११४००००}{४९}$ ।

अर्थ— तीसरी पृथिवी के अधस्तन-भाग में वातरुद्ध क्षेत्र का घनफल कहते हैं—दो बटे सात भाग ($\frac{२}{७}$) कम तीन राजू विष्कम्भ युक्त, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन बाहल्य-वाला तीसरी पृथिवी का वातरुद्ध क्षेत्र है। इसका घनफल ग्यारह लाख चालीस हजार योजन के उनचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—तीसरी पृथिवी के अधस्तन पवनों का विष्कम्भ $\frac{१९}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अतः $\frac{७}{१} \times \frac{१९}{७} \times \frac{६००००}{१} = \frac{७ \times ११४०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{४९ \times ११,४००००}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

चउत्थ-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं तिण्णि-सत्तम-भागूण-चतारि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला पण्णरस-लक्ख-जोयणाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $=\frac{१५०००००}{४९}$ **।**

अर्थ—चौथी पृथिवी के अधस्तन भाग में वातरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—

चौथी पृथिवी का वातरुद्ध क्षेत्र तीन बटे सात ($\frac{३}{७}$) भाग कम चार राजू विस्तार वाला, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल पन्द्रह लाख योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—चौथी पृथिवी के अधस्तन पवनों का विष्कम्भ $\frac{२५}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अतः $\frac{२५}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{७ \times १५,००००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{१५,००००० \times ४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

पंचम-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं चत्तारि-सत्तम-भागूण[1] **-पंच-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला सट्ठि-सहस्साहिय-अट्ठारस-लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि ।** $=\frac{१८६००००}{४९}$ **।**

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी के अधस्तन भाग में अवरुद्ध वातक्षेत्र का घनफल कहते हैं—

पाँचवीं पृथिवी के अधोभाग में वातावरुद्ध क्षेत्र चार बटे सात ($\frac{४}{७}$) भाग कम पांच राजू विस्तार रूप, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल अठारह लाख, साठ हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—पाँचवीं पृथिवी के अधस्तन पवनों का विष्कम्भ $\frac{३१}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अतः $\frac{३१}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{७ \times १८,६०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{१८,६०००० \times ४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

---

[1] द. भागूणछरज्जु।

छट्ठ-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं[1] पंच-सत्तम-भागूण-छ-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला वीस-सहस्साहिय-बावीस-लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{२२२००००}{४९}$ ।

अर्थ– छठी पृथिवी के अधस्तन भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—पाँच बटे सात ($\frac{५}{७}$) भाग कम छह राजू विस्तार वाला, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन बाहल्य वाला छठी पृथिवी के नीचे वातरुद्ध क्षेत्र है; इसका घनफल बाईस लाख, बीस हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—छठी पृथिवी के अधस्तन पवनों का विष्कम्भ $\frac{३७}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अत: $\frac{३७}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{२२,२०००० \times ७ \times ७}{७ \times ७} = \frac{२२,२०००० \times ४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

सत्तम-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं छ-सत्तम-भागूण-सत्त-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला सीदि-सहस्साधिय-पंचवीस-लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{२५८००००}{४९}$ ।

अर्थ—सातवीं पृथिवी के अधोभाग में वातरुद्धक्षेत्र के घनफल को कहते हैं—सातवीं पृथिवी के नीचे वातावरुद्ध क्षेत्र छह बटे सात ($\frac{६}{७}$) भाग कम सात राजू विस्तार वाला, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल पच्चीस लाख, अस्सी हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—सातवीं पृथिवी के अधस्तन पवनों का विष्कम्भ $\frac{४३}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन प्रमाण है। अत: $\frac{४३}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{७ \times २५,८०००० \times ७}{७ \times ७} = \frac{२५,८०००० \times ४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

अट्ठम-पुढवीए हेट्ठिम-भाग-वादावरुद्ध-खेत्त-घणफलं सत्त-रज्जु-आयदा एग-रज्जु-विक्खंभा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला एसा अप्पणो बाहल्लस्स[2] सत्त-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{६००००}{७}$ ।

---

१. द. हेट्ठिमागा। २. द. ब. बाहल्ल से।

अर्थ—आठवीं पृथिवी के अधस्तन-भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—आठवीं पृथिवी के अधस्तन-भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र ७ राजू लम्बा, एक राजू विस्तार-युक्त और साठ हजार योजन बाहल्य वाला है। इसका घनफल अपने बाहल्य के सातवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—आठवीं पृथिवी के अधस्तन-पवनों का विस्तार एक राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अतः $\frac{१}{१}×\frac{७}{१}×\frac{६००००}{१}=\frac{७×६००००×४९}{४९}$ अर्थात् $\frac{४,२००००×४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

आठों पृथिवियों के सम्पूर्ण घनफलों का योग

एदं [1]सव्वमेगट्ठ मेलाविदे येत्तियं होदि। $=\frac{१०९२००००}{४९}$।

॥ एवं वादावरुद्ध-खेत्त-घणफलं समत्तं ॥

अर्थ—इन सबको इकट्ठा मिलाने पर कुल घनफल इस प्रकार होता है :—

$\frac{४९×६००००×७}{४९}+\frac{४९×७,८००००}{४९}+\frac{४९×११,४००००}{४९}+\frac{४९×१५,०००००}{४९}+\frac{४९×१८,६००००}{४९}+$
$\frac{४९×२२,२००००}{४९}+\frac{४९×२५,८००००}{४९}+\frac{४९×४,२००००}{४९}$।

नोट—आठों पृथिवियों के उपर्युक्त (घनफल निकालते समय) घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने हेतु सर्वत्र $\frac{४९}{४९}$ का गुणा किया गया है।

उपर्युक्त घनफलों में अंश का (ऊपर वाला) ४९ जगत्प्रतर स्वरूप है, अतः उसे अन्यत्र स्थापित कर देने पर घनफलों का स्वरूप इस प्रकार बनता है।

$४९×\left[\frac{४.२००००}{४९}+\frac{७.८००००}{४९}+\frac{११,४००००}{४९}+\frac{१५,०००००}{४९}+\frac{१८,६००००}{४९}+\frac{२२,२००००}{४९}+\right.$
$\left.\frac{२५,८००००}{४९}+\frac{४२०००००}{४९}\right]=४९×\frac{१०९२००००}{४९}$ अर्थात् जगत्प्रतर × $\frac{१,०९,२००००}{४९}$ या $=\frac{१०९,२००००}{४९}$ घनफल सम्पूर्ण (आठों) पृथिवियों के अधस्तन भाग का प्राप्त हुआ।

इस प्रकार वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल का वर्णन समाप्त हुआ।

लोक स्थित आठों पृथिवियों के वायुमण्डल का चित्रण इस प्रकार है—

---

[1] द. ब. सव्वमेगं पमेलाविदे।

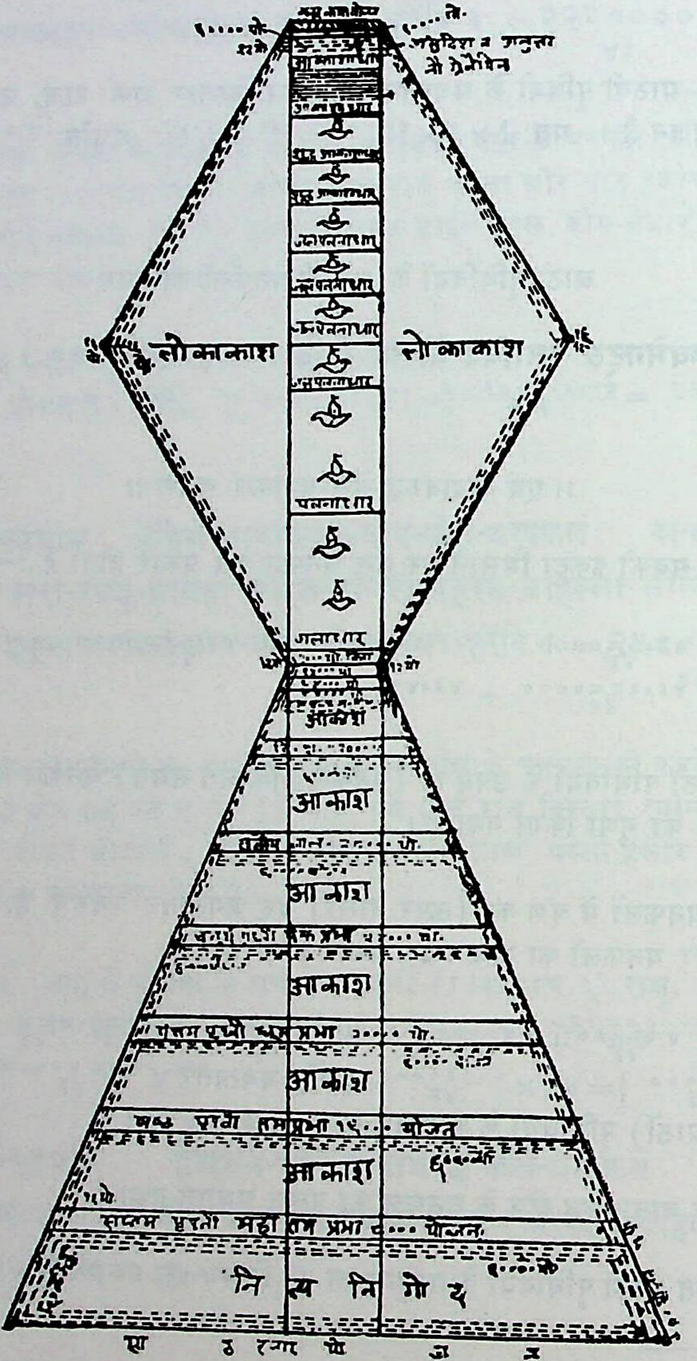
अनुदिश व अनुत्तर
औ ग्रैवेयक
लोकाकाश
लोकाकाश
आकाश
आकाश
आकाश
आकाश
आकाश
आकाश
पंचम पृथ्वी धूम प्रभा २०…. यो.
षष्ठ पृथ्वी तमप्रभा १६… योजन
सप्तम पृथ्वी महा तम प्रभा ८…. योजन
नि त्य नि गो द

प्रत्येक पृथिवी के घनफल-कथन का निर्देश

संपहि अट्ठण्हं पुढवीणं पत्तेक्कं विदफलं थोरुच्चएण वत्तइस्सामो—

तत्थ पढम-पुढवीए एग-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-दीहा वीस-सहस्सूण-बे-जोयण-लक्ख-बाहल्ला एसा अप्पणो बाहल्लस्स सत्तम-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि ।

$= \frac{१८००००}{७}$ ।

अर्थ—अब आठों पृथिवियों में से प्रत्येक पृथिवी के घनफल को संक्षेप में कहते हैं—

इन आठों पृथिवियों में से पहली पृथिवी एक राजू विस्तृत, सात राजू लम्बी और बीस हजार कम दो लाख योजन मोटी है। इसका घनफल अपने बाहल्य के सातवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी एक राजू चौड़ी, ७ राजू लम्बी और १,८०००० योजन मोटी है, इनको परस्पर गुणित कर घनफल को जगत्प्रतर करने हेतु $\frac{७}{७}$ से पुनः गुणा किया गया है। यथा—

$\frac{१}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{१८००००}{१} = \frac{७ \times १,८०००० \times ७}{७} = ४९$ वर्ग राजू $\times \frac{१८००००}{७}$ योजन घनफल प्रथम रत्नप्रभा पृथिवी का प्राप्त हुआ।

दूसरी पृथिवी का घनफल

बिदिय-पुढवीए सत्त-भागूण-बे-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु आयदा बत्तीस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला सोलस-सहस्साहिय-चदुण्हं[1] लक्खाणमेगूण[2] पण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{४१६०००}{४९}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी सातवें भाग कम दो राजू विस्तृत, सात राजू आयत और बत्तीस-हजार योजन मोटी है, इसका घनफल चार लाख सोलह हजार योजन के उनचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

---

१. ब. क. चउण्हं । २. द. लक्खाण एगुण° ।

विशेषार्थ—दूसरी शर्करापृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{१३}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और ३२००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतरस्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{१३}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{३२०००}{१} = \frac{७ \times ४,१६००० \times ७}{७ \times ७} = ४९$ वर्ग राजू $\times \frac{४,१६०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

तोसरी पृथिवी का घनफल

तदिय-पुढवीए बे-सत्तम-भाग-हीण-तिण्णि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा अट्ठावीस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला बत्तीस-सहस्साहिय-पंच-लक्ख-जोयणाणं एगूण-पण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{५३२०००}{४९}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी दो बटे सात ($\frac{२}{७}$) भाग कम तीन राजू विस्तृत, सात राजू आयत और अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल पाँच लाख, बत्तीस हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है ।

विशेषार्थ—तीसरी बालुका पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{१९}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और २८००० याजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{१९}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{२८०००}{१} = \frac{७ \times ५,३२००० \times ७}{७ \times ७} = ४९$ वर्ग राजू $\times \frac{५,३२०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

चतुर्थ पृथिवी का घनफल

चउत्थ-पुढवीए तिण्णि-सत्तम-भागूण चत्तारि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु आयदा चउवीस-जोयण-सहस्स बाहल्ला छ-जोयण-लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{६०००००}{४९}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी तीन बटे सात ($\frac{३}{७}$) भाग कम चार राजू विस्तृत, सात राजू आयत और चौबीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल छह लाख योजन के उनचासवें-भाग प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—चौथी पंकप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{२५}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और २४००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{२५}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{२४०००}{१} = \frac{७ \times ६००००००}{७ \times ७} = ४९$ वर्ग राजू $\times \frac{६,०००००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त हुआ।

पाँचवीं पृथिवी का घनफल

पंचम-पुढवीए चत्तारि-सत्त-भागूण-पंच-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा बीस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला बीस-सहस्साहिय-छण्णं लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि ।$==\frac{६२००००}{४९}$ ।

अर्थ पाँचवीं पृथिवी चार बटे सात ($\frac{४}{७}$) भाग कम पाँच राजू विस्तृत, सात राजू आयत और बीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल छह लाख, बीस हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ--पाँचवीं धूमप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{३१}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और २०००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतरस्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{३१}{७}\times\frac{७}{१}\times\frac{२००००}{१}=\frac{७\times६,२००००\times७}{७\times७}=४९$ वर्ग राजू $\times\frac{६,२००००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त हुआ।

छठी पृथिवी का घनफल

छट्ठम-पुढवीए पंच-सत्त-भागूण-छ-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सोलस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला बाणउदि-सहस्साहिय-पंचण्हं लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि ।$=\frac{५९२०००}{४९}$ ।

अर्थ - छठी पृथिवी पाँच बटे सात ($\frac{५}{७}$) भाग कम छह राजू विस्तृत, सात राजू आयत और सोलह हजार योजन बाहल्यवाली है। इसका घनफल पाँच लाख, बानवे हजार योजन के उनचासवें भाग बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—छठी तमःप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{३७}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और १६००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर करने के लिए $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{३७}{७}\times\frac{७}{१}\times\frac{१६०००}{१}=\frac{७\times५,९२०००\times७}{७\times७}=४९$ वर्ग राजू $\times\frac{५,९२०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

सातवीं पृथिवी का घनफल

सत्तम-पुढवीए छ-[1]सत्तम-भागूण-सत्त-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा अट्ठ-

---

[1] १. द. ससत्तभागूण० ।

जोयण-सहस्स-बाहल्ला चउदाल-सहस्साहिय-तिण्णं लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{३४४०००}{४९}$ ।

अर्थ—सातवीं पृथिवी छह बटे सात ($\frac{६}{७}$) भाग कम सात राजू विस्तृत, सात राजू आयत और आठ हजार योजन बाहल्य वाली है। इसका घनफल तीन लाख चवालीस हजार योजन के उनचासवें-भाग-बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—सातवीं महातमःप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{४३}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और ८००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने के लिए $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{४३}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{८०००}{१} = \frac{७ \times ३,४४००० \times ७}{७ \times ७} = ४९$ वर्ग राजू $\times \frac{३,४४०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

आठवीं पृथिवी का घनफल

अट्ठम-पुढवीए सत्त-रज्जु-आयदा [1]एक्क-रज्जु-रुंदा अट्ठ-जोयण[2]-बाहल्ला सत्तम-[3]भागाहियएगज्जोयण-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{८}{७}$ ।

अर्थ—आठवीं पृथिवी सात राजू आयत, एक राजू विस्तृत और आठ योजन मोटी है। इसका घनफल सातवें-भाग सहित एक योजन बाहल्ल प्रमाण जग-प्रतर होता है।

विशेषार्थ—आठवीं ईषत्-प्राग्भार पृथिवी पूर्व-पश्चिम एक राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और ८ योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतरस्वरूप करने के लिए $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $१ \times ७ \times ८ = \frac{७ \times ८ \times ७}{७} = ४९$ वर्गराजू $\times \frac{८}{७}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण घनफलों का योग

एदाणि सव्व-मेलिदे एत्तियं होदि । $\frac{४३६४०५६}{४९}$ ।

अर्थ—इन सब घनफलों को मिलाने पर निम्नलिखित प्रमाण होता है—

$(४९ \times \frac{१,८००००}{७}$ या $४९ \times \frac{१२,६००००}{४९}) + (४९ \times \frac{४,१६०००}{४९}) + (४९ \times \frac{५,३२०००}{४९}) + (४९ \times \frac{६,०००००}{४९}) + (४९ \times \frac{६,२००००}{४९}) + (४९ \times \frac{५,६२०००}{४९}) + (४९ \times \frac{३,४४०००}{४९}) + (४९ \times \frac{८}{७}$ या $४९ \times \frac{५६}{४९})$ । यहाँ अंश के ४९ जगत्प्रतर स्वरूप हैं। अतः—

---

१. द. एगरज्जु° । २. द. अट्ठसहस्सजोयण° । ३. द. भागाहिययेयज्जो° ।

$$४९ \times \left[\frac{१२,६०००० + ४,१६००० + ५,३२००० + ६,००००० + ६,२०००० + ५,९२००० + ३,४४००० + ५६}{४९}\right] = ४९ \text{ वर्गराजू } \times \frac{४३,६४०५६}{४९} \text{ योजन या जगत्प्रतर} \times \frac{४३,६४०५६}{४९} \text{ योजन घनफल}$$

प्राप्त होता है ।

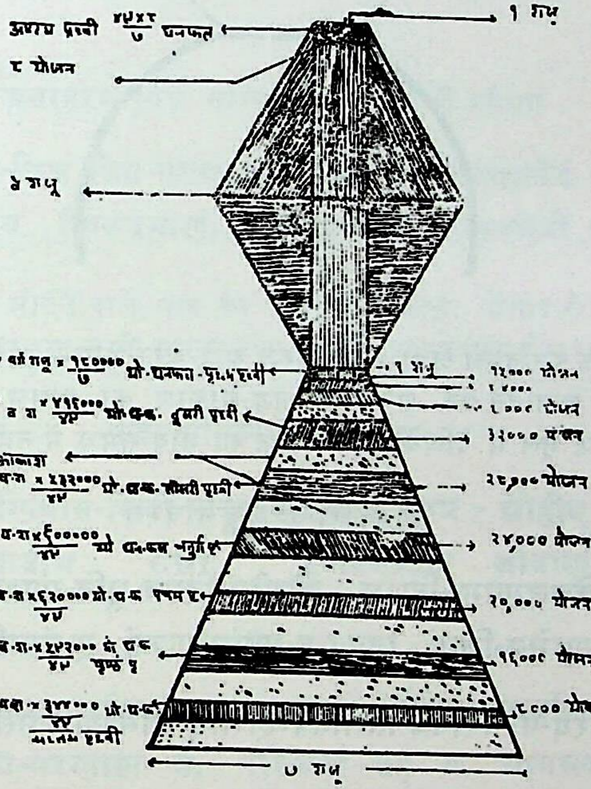
अष्टम पृथ्वी ४९×८/७ घनफल
१ राजू
८ योजन
५ राजू
४९ वर्ग राजू × १८००००/७ यो० घनफल प्र० पृथ्वी
१ राजू
४९ व० रा० × ४१६०००/४९ यो० घ० फ० दूसरी पृथ्वी
३२००० योजन
आकाश
तीसरी पृथ्वी
२८,००० योजन
चतुर्थ पृ०
२४,००० योजन
पंचम पृ०
२०,००० योजन
पृथ्वी
१६,००० योजन
८००० योजन
सप्तम पृथ्वी
७ राजू

लोक के शुद्धाकाश का प्रमाण

एदेहिं दोहिं खेत्ताणं विदफलं संमेलिय सयल-लोयम्मि अवणीदे अवसेसं सुद्धायास-पमाणं होदि ।

तस्स ठवणा–

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

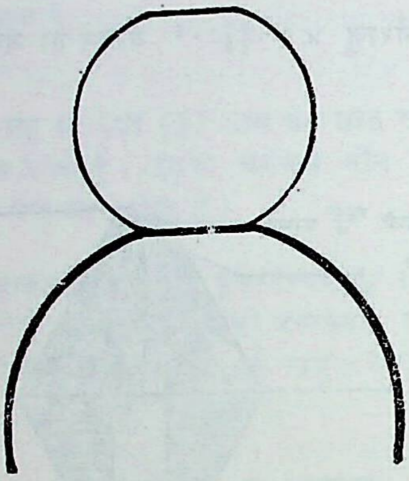

अर्थ—उपर्युक्त इन दोनों क्षेत्रों (वातावरुद्ध और आठ भूमियों) के घनफल को मिलाकर उसे सम्पूर्ण लोक में से घटा देने पर अवशिष्ट शुद्ध-आकाश का प्रमाण प्राप्त होता है। उसकी स्थापना यह है—संदृष्टि मूल में देखिये (इस संदृष्टि का भाव समझ में नहीं आया)।

अधिकारान्त मङ्गलाचरण

केवलणाण-तिणेत्तं, चोत्तीसादिसय-भूदि-संपण्णं ।
णाभेय-जिणं तिहुवण-णमंसणिज्जं णमंसामि ।।२८६।।

एवमाइरिय-परंपरागय-तिलोयपण्णत्तीए सामण्ण-जगसरूव-णिरूवण-पण्णत्ती णाम ।

पढमो महाहियारो सम्मत्तो ।।१।।

अर्थ—केवलज्ञान रूपी तीसरे नेत्र के धारक, चौंनीस अतिशय रूपी विभूति से सम्पन्न और तीनों लोकों के द्वारा नमस्करणीय, ऐसे नाभेय जिन अर्थात् ऋषभ जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ।।२८६।।

इस प्रकार आचार्य-परम्परागत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में सामान्य
जगत्स्वरूप निरूपण-प्रज्ञप्ति नामक
प्रथम महाधिकार समाप्त हुआ

विदुओ महाहियारो

मङ्गलाचरण पूर्वक नारक लोक-कथन की प्रतिज्ञा

अजिय-जिणं जिय-मयणं, दुरित-हरं आजवंजवातीदं ।
पणमिय णिरूवमाणं, णारय-लोयं णिरूवेमो ।।१।।

अर्थ—कामदेव को जीतने वाले, पाप को नष्ट करने वाले, संसार से अतीत और अनुपम अजितनाथ भगवान को नमस्कार करके नारक लोक का निरूपण करता हूँ ।।१।।

पन्द्रह अधिकारों का निर्देश

[1]णेरइय-णिवास-खिदी-परिमाणं आउ-उदय - ओहीए ।
गुणठाणादीणं संखा, उप्पज्जमाण जीवाणं ।।२।।

७ ।

जम्मण-मरणाणंतर-काल-पमाणादि एक्क समयम्मि ।
उप्पज्जय-मरणाण य, परिमाणं तह य आगमणं ।।३।।

३ ।

णिरय-गदि-आउबंधण-परिणामा तह य जम्म-भूमीओ ।
णाणादुक्ख - सरूवं, दंसण-गहणस्स हेदु जोणीओ ।।४।।

५ ।

एवं पण्णरस - विहा, अहियारा वण्णिदा समासेण ।
तित्थयर - वयण-णिग्गय - णारय-पण्णत्ति - णामाए ।।५।।

---

[1] द. क. ब. णिढइ ।

अर्थ—नारकियों की १ निवास-भूमि, २ परिमाण (संख्या), ३ आयु, ४ उत्सेध, ५ अवधिज्ञान, ६ गुणस्थानादिकों का वर्णन, ७ उत्पद्यमान जीवों की संख्या, ८ जन्म-मरण के अन्तर-काल का प्रमाण, ९ एक समय में उत्पन्न होने वाले और मरने वाले जीवों का प्रमाण, १० नरक से निकलने वाले जीवों का वर्णन, ११ नरक गति के आयु-बन्धक परिणाम, १२ जन्मभूमि, १३ नाना दुःखोंका स्वरूप, १४ सम्यक्त्व-ग्रहण के कारण और १५ नारकी जीवों की योनियों का कथन, तीर्थङ्कर के वचन से निकले हुए इस प्रकार ये पन्द्रह अधिकार इस नारक-प्रज्ञप्ति नामक महाधिकार में संक्षेप मे कहे गये हैं ॥२-५॥

त्रसनाली का स्वरूप एवं ऊँचाई

लोय-बहु-मज्झ-देसे, तरुम्मि सारं व रज्जु-पदर-जुदा ।
तेरस रज्जुच्छेहा, किंचूणा होदि तस - णाली ॥६॥

ऊण-पमाणं दंडा, कोडि-तियं एक्कवीस-लक्खाणं ।
बासट्ठिं च सहस्सा, दुसया इगिदाल दुतिभाया ॥७॥

। ३२१६२२४१ । $\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—वृक्ष में (स्थित) सार की तरह, लोक के बहुमध्य भाग में एक राजू लम्बी-चौड़ी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है। त्रसनाली की कमी का प्रमाण तीन करोड़, इक्कीस लाख, बासठ हजार, दो सौ इकतालीस धनुष एव एक धनुष के तीन-भागों में से दो ($\frac{२}{३}$) भाग है ॥६-७॥

विशेषार्थ—त्रसनाली की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। इसमें सातवें नरक के नीचे एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावर लोक है, यहाँ त्रस जीव नहीं रहते अत: उसे (१४—१) = १३ राजू कहा गया है। इसमें भी सप्तम नरक के मध्य भाग में ही नारकी (त्रस) हैं। नीचे के ३९९९$\frac{९}{५}$ योजन (३१९९४६६६$\frac{२}{३}$ धनुष) में नहीं हैं।

इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक में सर्वार्थसिद्धि से ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथिवी के मध्य १२ योजन (९६००० धनुष) का अन्तराल है, आठवीं पृथिवी की मोटाई ८ योजन (६४००० धनुष) है और इसके ऊपर दो कोस (४००० धनुष), एक कोस (२००० धनुष) एवं १५७५ धनुष मोटाई वाले तीन वातवलय हैं। इस सम्पूर्ण क्षेत्र में भी त्रस जीव नहीं हैं इसलिए गाथा में १३ राजू ऊँची त्रसनाली में से (३१९९४६६६$\frac{२}{३}$ धनुष + ९६००० धनुष + ६४००० धनुष + ४००० धनुष + २००० धनुष और + १५७५ धनुष) = ३२१६२२४१$\frac{२}{३}$ धनुष कम करने को कहा गया है।

सर्वलोक को त्रसनालीपने की विवक्षा

ग्रहवा---

उववाद-मारणंतिय-परिणद-तस-लोय-पूरणेण गदो ।
केवलिणो अवलंबिय, सव्व-जगो होदि तस-णाली ।।८।।

अर्थ—अथवा उपपाद और मारणांतिक समुद्घात में परिणत त्रस तथा लोकपूरणसमुद्घात को प्राप्त केवली का आश्रय करके सारा लोक त्रस-नाली है ।।८।।

विशेषार्थ—जीव का अपनी पूर्व पर्याय को छोड़कर नवीन पर्यायजन्य आयु के प्रथम समय को उपपाद कहते हैं। पर्याय के अन्त में मरण के निकट होने पर बद्धायु के अनुसार जहाँ उत्पन्न होना है, वहाँ के क्षेत्र को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना मारणान्तिक समुद्घात है। १३ वें गुणस्थान के अन्त में आयुकर्म के अतिरिक्त शेष तीन अघातिया कर्मों के स्थितिक्षय के लिए केवली के (दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण आकार से) आत्मप्रदेशों का शरीर से बाहर निकलना केवली-समुद्घात है, इन तीनों अवस्थाओं में त्रस जीव त्रस-नाली के बाहर भी पाये जाते हैं।

रत्नप्रभा-पृथिवी के तीन भाग एवं उनका बाहल्य

खर-पंकप्पब्बहुला, भागा [1]रयणप्पहाए पुढवीए ।
बहलत्तणं सहस्सा, [2]सोलस चउसीदि सीदी य ।।९।।

१६००० । ८४००० । ८०००० ।

अर्थ—रत्नप्रभापृथिवी के खर, पंक और अब्बहुलभाग क्रमशः सोलह हजार, चौरासी हजार और अस्सी हजार योजन प्रमाण बाहल्य वाले हैं ।।९।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभापृथिवी का—(१)खरभाग १६००० योजन, (२) पंकभाग ८४००० योजन और (३) अब्बहुलभाग ८०००० योजन मोटा है।

खरभाग के एवं चित्रापृथिवी के भेद

खरभागो णादव्वो, सोलस-भेदेहिं संजुदो णियमा ।
चित्तादीओ खिदिओ, तेसिं चित्ता बहु-वियप्पा ।।१०।।

---

[1] द. रयणप्पहायि पुढवीए, ब. रयणप्पहा य पुढवीणं । [2] द. ब सोल ।

अर्थ—इन तीनों में खर भाग नियम से सोलह भेदों सहित जानना चाहिए। ये सोलह भेद चित्रादिक सोलह पृथिवी रूप हैं। इनमें से चित्रा पृथिवी अनेक प्रकार है ॥१०॥

'चित्रा' नाम की सार्थकता

णाणाविह-वण्णाओ, मट्टीओ तह सिलातला उवला[1] ।
वालुव - सक्कर - सीसय - रुप्प - सुवण्णाण वइरं च ॥११॥

अय-दंब-तउर-सासय-मणिस्सिला-हिंगुलाणि [2]हरिदालं ।
अंजण-पवाल-गोमज्जगाणि रुजगं कअब्भ-पदराणि ॥१२॥

तह अब्भवालुकाओ, फलिहं जलकंत - सूरकंताणि ।
चंदप्पह - वेलुरियं, गेरुव - चंदणय - लोहिदंकाणि ॥१३॥

बंबय-वय-मोय - सारग्ग - पहुदीणि विविह - वण्णाणि ।
जा होंति त्ति एत्तेणं, चित्तेत्ति [3]पवण्णिदा एसा ॥१४॥

अर्थ—यहाँ पर अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त मिट्टी, शिलातल, उपल, वालु, शक्कर, शीशा, चांदी, स्वर्ण तथा वज्र, अयस् (लोहा), तांबा, त्रपु (रांगा), सस्यक (सीसा), मणिशिला, हिंगुल (सिंगरफ), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूंगा), गोमेदक (कर्केतनमणि), रुचक (राजावर्त मणि), कदंब (धातुविशेष), प्रतर (धातुविशेष), अभ्रवालुका (लालरेत), स्फटिकमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभ (चन्द्रकान्तमणि), वैडूर्यमणि, गेरु, चन्द्राश्म (रत्नविशेष), लोहितांक (पद्मरागमणि), वंबय (मरकतमणि), वय (पुष्परागमणि), मोय (कदलीपत्र के वर्ण की नीलमणि) और सारंग इत्यादि विविध वर्णवाली धातुएँ हैं, इसीलिए इस पृथिवी का 'चित्रा' इस नाम से वर्णन किया गया है ॥११-१४॥

चित्रा-पृथिवी की मोटाई

एदाए[4] बहलत्तं, एक्क-सहस्सा हवंति[5] जोयणया ।
तीए हेट्ठा कमसो, चोद्दस रयणा[6] य खंड मही ॥१५॥

अर्थ—इस चित्रा पृथिवी की मोटाई एक हजार योजन है। इसके नीचे क्रमशः चौदह रत्नमयी पृथिवीखण्ड (पृथिवियाँ) स्थित हैं ॥१५॥

---

१. ब. सिलातला ओववादा। २. द. अरिदालं। ३. द. ब. वण्णिदो एसो। ४. ब. एदाव ! ५. द. हुवंति।
६. ब. द. क. ठ. रण्णा य खिदमही।

अन्य १४ पृथिवियों के नाम एवं उनका बाहल्य

तण्णामा वेरुलियं, लोहिययंक[1] असारगल्लं च ।
गोमेज्जयं पवालं, जोदिरसं अंजणं णाम ॥१६॥

अंजणमूलं अंकं, फलिहचंदणं च [2]बच्चगयं ।
बउलं सेला[3] एदा, पत्तेक्कं इगि-सहस्स-बहलाइं ॥१७॥

अर्थ—वैडूर्य, लोहितांक (लोहिताक्ष), असारगल्ल (मसारकल्पा), गोमेदक, प्रवाल, ज्योतिरस, अंजन, अंजनमूल, अंक, स्फटिक, चन्दन, वर्चगत (सर्वार्थका), बकुल और शैला ये उन उपर्युक्त चौदह पृथिवियों के नाम हैं। इनमें से प्रत्येक की मोटाई एक-एक हजार योजन है ॥१६-१७॥

सोलहवीं पृथिवी का नाम, स्वरूप एवं बाहल्य

ताण खिदीणं हेट्ठा, पासाणं णाम [4]रयण-सेल-समा ।
जोयण-सहस्स-बहलं, वेत्तासण - सण्णिहाउ[5] संठाओ[6] ॥१८॥

अर्थ—उन (१५) पृथिवियों के नीचे पाषाण नाम की एक (सोलहवीं) पृथिवी है, जो रत्नपाषाण सदृश है। इसकी मोटाई भी एक हजार योजन प्रमाण है। ये सब पृथिवियाँ वेत्रासन के सदृश स्थित हैं ॥१८॥

पंकभाग एवं अब्बहुल भाग का स्वरूप

पंकाजिरो य [7]दीसदि, एवं पंक-बहुल-भागो वि ।
अप्पबहुलो वि भागो, सलिल - सरूवस्सवो होदि ॥१९॥

अर्थ—इसी प्रकार पंकबहुलभाग भी पंक से परिपूर्ण देखा जाता है। उसी प्रकार अब्बहुल भाग जलस्वरूप के आश्रय से है ॥१९॥

---

१. [लोहिययक्खं मसार] । २. ठ. चचब्बगयं । ३. द. क. ब. सेलं इय एदाइं । ४. ब. क. ठ. रयणसोलसम । ५. द. ब. सण्णिहो । ६. क. ठ. संबओ । ७. द. क. ठ. दिसदि एदा एवं, ब. दिसदि एवं ।

रत्नप्रभा नाम की सार्थकता

एवं बहुविह-रयणप्पयार - भरिदो विराजदे जम्हा ।
रयणप्पहो[1] त्ति तम्हा, भणिदा णिउणेहि गुणणामा ।।२०।।

अर्थ—इस प्रकार क्योंकि यह पृथिवी बहुत प्रकार के रत्नों से भरी हुई शोभायमान होती है, इसीलिए निपुण-पुरुषों ने इसका 'रत्नप्रभा' यह सार्थक नाम कहा है ।।२०।।

शेष छह पृथिवियों के नाम एवं उनकी सार्थकता

सक्कर-वालुव-पंका, धूमतमा तमतमा हि सहचरिया ।
जाओ[2] अवसेसावो[3], छप्पुढवीओ वि गुणणामा ।।२१।।

अर्थ—शेष छह पृथिवियाँ क्रमशः शक्कर, वालू, कीचड़, धूम, अन्धकार और महान्धकार की प्रभा से सहचरित हैं, इसीलिए इनके भी उपर्युक्त नाम सार्थक हैं ।।२१।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभापृथिवी के नीचे शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और तमस्तमःप्रभा (महातमःप्रभा) ये छह पृथिवियाँ क्रमशः शर्करा आदि की प्रभासदृश सार्थक नाम वाली हैं ।

शर्करा-आदि पृथिवियों का बाहल्य

बत्तीसट्ठावीसं, चउवीसं वीस-सोलसट्ठं च ।
हेट्ठिम-छप्पुढवीणं, बहलत्तं जोयण-सहस्सा ।।२२।।

३२००० । २८००० । २४००० । २०००० । १६००० । ८००० ।

अर्थ—इन छह अधस्तन पृथिवियों की मोटाई क्रमशः बत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन प्रमाण है ।।२२।।

विशेषार्थ—शर्करा पृथिवी की मोटाई ३२००० योजन, बालुका की २८००० योजन, पंकप्रभा की २४००० योजन, धूमप्रभा की २०००० योजन, तमःप्रभा की १६००० योजन और महातमःप्रभा की ८००० योजन मोटाई है ।

---

१. [रयणप्पह त्ति], ठ. रयणप्पह होंति । २. द. ब. क. ठ. जेतं । ३. ठ. अवसेवासो ।

प्रकारान्तर से पृथिवियों का बाहल्य

वि-गुणिय-छ-च्चउ-सट्ठी-सट्ठी-उणसट्ठी-अट्ठ[1] -चउवण्णा ।
बहलत्तणं सहस्सा, हेट्ठिम - पुढवीण - छण्णं पि ।।२३।।
पाठान्तरम् ।

१३२००० । १२८००० । १२०००० । ११८००० । ११६००० । १०८००० ।

अर्थ—छ्यासठ, चौंसठ, साठ, उनसठ, अट्ठावन और चौवन इनके दुगुने हजार योजन प्रमाण उन अधस्तन छह पृथिवियों की मोटाई है ।।२३।।

विशेषार्थ—शर्करा पृथिवी की मोटाई (६६ हजार×२=) १,३२००० योजन बालुका की (६४ हज़ार×२)=१,२८००० यो०, पंकप्रभा की (६० हजार×२)=१,२०००० यो०, धूमप्रभा की (५९ ह०×२)=१,१८००० यो०, तमःप्रभा की (५८ ह०×२)=१,१६००० यो० और महातमःप्रभा की (५४ ह०×२)=१,०८००० योजन प्रमाण है ।

पृथिवियों से घनोदधि वायु की संलग्नता एवं आकार

सत्तच्चिय भूमीओ, णव-दिस-भाएण घणोवहि-विलग्गा[2] ।
अट्ठम-भूमी दस-दिस-भागेसु घणोवहिं[3] छिवदि ।।२४।।

पुव्वावर-दिब्भाए, वेत्तासण-संणिहाओ संठाओ ।
उत्तर-दक्खिण-दीहा, अणादि-णिहणा य पुढवीओ ।।२५।।

अर्थ—सातों पृथिवियाँ (ऊर्ध्वदिशा को छोड़कर शेष) नौ दिशाओं के भाग से घनोदधि वातवलय से लगी हुई हैं परन्तु आठवीं पृथिवी दसों दिशाओं के सभी भागों में घनोदधि वातवलय को छूती है । ये पृथिवियाँ पूर्व और पश्चिम दिशा के अन्तराल में वेत्रासन के सदृश आकारवाली तथा उत्तर और दक्षिण में समान रूप से दीर्घ एवं अनादिनिधन हैं ।।२४-२५ ।।

नरक बिलों का प्रमाण

चुलसीदी [4]लक्खाणं, णिरय-बिला होंति सव्व-पुढवीसुं ।
पुढविं पडि पत्तेक्कं, ताण पमाणं परूवेमो ।।२६।।

८४००००० ।

---

१. द. क. ब. दुविसट्ठि । ठ. छचउट्ठि सट्ठिदविसट्ठि । २. ठ. पुणवहीण । ३. ठ. पुणोवहि । ४. क. ठ. लक्खाणि ।

अर्थ—सर्व पृथिवियों में नारकियों के बिल कुल चौरासी लाख (८४,००००००) हैं। अब इनमें से प्रत्येक पृथिवी का आश्रय करके उन बिलों के प्रमाण का निरूपण करता हूँ ॥२६॥

पृथिवीक्रम से बिलों की संख्या

तीसं [1]पणवीसं पण्णरसं दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पण-रहिदेक्कं लक्खं, पंच य [2]रयणादि - पुढवीणं ॥२७॥

३०,००००० । २५,००००० । १५,००००० । १०,००००० । ३,००००० । ९९९९५ । ५ ।

अर्थ—रत्नप्रभा आदिक पृथिवियों में क्रमशः तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और केवल पाँच ही बिल हैं ॥२७॥

विशेषार्थ—प्रथम नरक में ३०,०००००, दूसरे में २५,०००००, तीसरे में १५,०००००, चौथे में १०,०००००, पाँचवें में ३,०००००, छठे में ९९९९५ और सातवें नरक में ५ बिल हैं।

सातों नरक पृथिवियों की प्रभा, बाहल्य एवं बिल संख्या
गा० ९, २१-२३ और २७

क्रमांक	नाम	प्रभा	बाहल्य योजनों में	मतान्तर से बाहल्य योजनों में	बिलों की संख्या
१	रत्नप्रभा	रत्नों सदृश	१,८००००	१,८००००	३०,०००००
२	शर्कराप्रभा	शक्कर ,,	३२०००	१,३२०००	२५,०००००
३	वालुकाप्रभा	बालू ,,	२८०००	१,२८०००	१५,०००००
४	पंकप्रभा	कीचड़ ,,	२४०००	१,२४०००	१०,०००००
५	धूमप्रभा	धूम ,,	२००००	१,२००००	३,०००००
६	तमप्रभा	अन्धकार ,,	१६०००	१,१६०००	९९९९५
७	महातमप्रभा	महान्धकार ,,	८०००	१,०८०००	५

---

[1] द. पणुवीसं। [2] द. ब. क. रयणेइ।

बिलों का स्थान

सत्तम-खिदि-बहु-मज्झे, [1]बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलंतं ।
उवरिं हेट्ठे जोयण-सहस्समुज्झिय हवंति [2]पडल-कमे ।।२८।।

अर्थ– सातवीं पृथिवी के तो ठीक मध्यभाग में बिल हैं, परन्तु अब्बहुलभाग पर्यन्त शेष छह पृथिवियों में नीचे एवं ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़कर पटलों के क्रम से नारकियों के बिल होते हैं ।।२८।।

विशेषार्थ—सातवीं पृथिवी आठ हजार योजन मोटी है । इसमें ऊपर और नीचे बहुत मोटाई छोड़कर मात्र बीच में एक बिल है, किन्तु अन्य पाँच पृथिवियों में और प्रथम पृथिवी के अब्बहुलभाग में नीचे ऊपर की एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर बीच में जितने-जितने पटल बने हैं, उनमें अनुक्रम से बिल पाये जाते हैं ।

नरकबिलों में उष्णता का विभाग

पढमादि-बि-ति-चउक्के, पंचम-पुढवीए[3] ति-चउक्क-भागंतं ।
अदि-उण्हा णिरय-बिला, तट्ठिय-जीवाण तिव्व-दाघ-करा ।।२९।।

अर्थ—पहली पृथिवी से लेकर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पृथिवी के चार भागों में से तीन ($\frac{3}{4}$) भागों में स्थित नारकियों के बिल अत्यन्त उष्ण होने से वहाँ रहने वाले जीवों को गर्मी की तीव्र वेदना पहुँचाने वाले हैं ।।२९।।

नरक बिलों में शीतताका विभाग

पंचमि-खिदिए तुरिमे, भागे छट्ठीअ सत्तमे महिए[4] ।
अदि-सीदा णिरय-बिला, तट्ठिय जीवाण-घोर-सीद-करा ।।३०।।

अर्थ--पाँचवीं पृथिवी के अवशिष्ट चतुर्थभाग में तथा छठी और सातवीं पृथिवी में स्थित नारकियों के बिल अत्यन्त शीत होने से वहाँ रहने वाले जीवों को भयानक शीत की वेदना उत्पन्न करने वाले हैं ।।३०।।

---

[1] द. ब. क. ठ. बिलाण । [2] ब. पडालकमे । [3] द. पुढवीय । [4] ब. क. महीए ।

उष्ण एवं शीत बिलों की संख्या

वासीदीलक्खाणं, उण्ह-बिला पंचवीसदि-सहस्सा ।
पणहत्तरिं सहस्सा, अदि-[1]सीद-बिलाणि इगिलक्खं ।।३१।।

८२२५००० । १७५०००

अर्थ—नारकियों के उपर्युक्त चौरासी लाख बिलों में से बयासी लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण और एक लाख पचहत्तर हजार बिल अत्यन्त शीत हैं ।।३१।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के बिलों से चतुर्थ पृथिवी पर्यन्त के सम्पूर्ण बिल एवं पाँचवीं धूमप्रभा पृथिवी की बिल राशि के तीन बटे चार भाग ($\frac{३००००० \times ३}{४}$) बिल अर्थात् ३० लाख + २५ लाख + १५ लाख + १० लाख + २२५००० = ८२,२५००० बिलों पर्यन्त अति उष्ण वेदना है। पाँचवीं पृथिवी के शेष एक बटे चार भाग बिलों ($\frac{३००००० \times १}{४}$) से सातवीं पृथिवी पर्यन्त बिल अर्थात् ७५००० + ९९९९५ + ५ = १७५००० बिलों में अत्यन्त शीत वेदना है।

बिलों की अति उष्णता का वर्णन

मेरु-सम-लोह-पिंडं, सीदं उण्हे बिलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे मयण-खंडं व ।।३२।।

अर्थ—उष्ण बिलों में मेरु के बराबर लोहे का शीतल पिण्ड डाल दिया जाय, तो वह तल-प्रदेश तक न पहुँचकर बीच में ही मैण (मोम) के टुकड़े के सदृश पिघल कर नष्ट हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि इन बिलों में उष्णता की वेदना अत्यधिक है ।।३२।।

बिलों की अति-शीतलता का वर्णन

मेरु-सम-लोह-पिंडं, उण्हं सीदे बिलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे लवण-खंडं व ।।३३।।

अर्थ—इसी प्रकार, यदि मेरु पर्वत के बराबर लोहे का उष्ण पिण्ड उन शीतल बिलों में डाल दिया जाय, तो वह भी तल-प्रदेश तक नहीं पहुँचकर बीच में ही नमक के टुकड़े के समान विलीन हो जावेगा ।।३३।।

---

[1] द. ब. अदिसीदि ।

बिलों की अति-दुर्गन्धता का वर्णन

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ठ-मज्जार-अहि-णरादीणं ।
कुहिदाणं गंधादो, णिरय-बिला ते अणंत - गुणा ।।३४।।

अर्थ--नारकियों के वे बिल वकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प और मनुष्यादिक के सड़े हुए शरीरों के गंध की अपेक्षा अनन्तगुणी दुर्गन्ध से युक्त हैं ।।३४।।

बिलों की अति-भयानकता का वर्णन

करवत्तकं छुरीदो[1], [2]खइरिंगालाति-तिक्ख-सूईए ।
कुंजर-चिक्कारादो, णिरय-बिला दारुण-तम-सहावा ।।३५।।

अर्थ--स्वभावतः अन्धकार से परिपूर्ण नारकियों के ये बिल करोंत या आरी, छुरिका, खदिर (खैर) के अंगार, अतितीक्ष्ण सुई और हाथियों की चिंघाड़ से अत्यन्त भयानक हैं ।।३५।।

बिलों के भेद

इंदय-सेढीबद्धा, पइण्णयाइ य हवंति [3]तिवियप्पा ।
ते सव्वे णिरय-बिला, दारुण-दुक्खाण संजणणा ।।३६।।

अर्थ--इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार के ये सभी नरकबिल नारकियों को भयानक दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं ।।३६।।

विशेषार्थ--सातों नरक पृथिवियों में जीवों की उत्पत्ति - स्थानों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक--ये तीन नाम हैं । जो अपने पटल के सर्व बिलों के ठीक मध्य में होता है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं । इन्द्रक बिल की चारों दिशाओं एवं विदिशाओं में जो बिल पंक्ति रूप से स्थित हैं उन्हें श्रेणीबद्ध तथा जो श्रेणीबद्ध बिलों के बीच में बिखरे हुए पुष्पों के समान यत्र-तत्र स्थित हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं ।

रत्नप्रभा-आदिक पृथिवियों के इन्द्रक-बिलों की संख्या

तेरस-एक्कारस-णव-सग-पंच-ति-एक्क-इंदया होंति ।
रयणप्पह - पहुदीसुं; पुढवीसुं आणु - पुव्वीए ।।३७।।

---

[1] द. ठ. करवकवछरीदो । क. कुरवकवधुरीदो । [कक्खककवाणछुरिदो] । [2] द. ब. खइरिंगालातिक्ख-सूईए । [3] द. ब. हवंति वियप्पा ।

१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ३ । १ ।

अर्थ - रत्नप्रभा आदिक पृथिवियों में क्रमशः तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन और एक, इस प्रकार कुल उनचास इन्द्रक बिल हैं ।।३७।।

विशेषार्थ—प्रथम नरक में १३, दूसरे में ११, तीसरे में ९, चौथे में ७, पाँचवे में ५, छठे में ३ और सातवें नरक में एक इन्द्रक बिल है । एक-एक पटल में एक-एक इन्द्रक बिल हैं, अतः पटल भी ४९ ही हैं ।

इन्द्रक बिलों के आश्रित श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या

पढमम्हि इंदयम्हि य, दिसासु उणवण्ण-सेढिबद्धा य ।
अडदालं विदिसासु, विदियादिसु एक्क - परिहीणा ।।३८।।

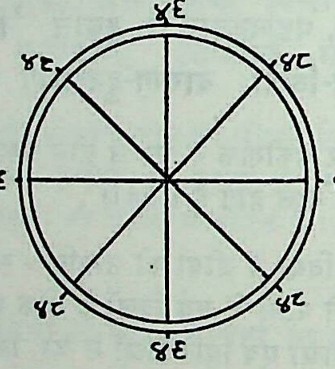

अर्थ—पहले इन्द्रक बिल की आश्रित दिशाओं में उनचास और विदिशाओं में अड़तालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं । इसके आगे द्वितीयादि इन्द्रक बिलों के आश्रित रहने वाले श्रेणीबद्ध बिलों में से एक-एक बिल कम होता गया है ।।३८।।

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

-- प्रथम नरक के --

प्रथम पटलस्थित इन्द्रादि बिल

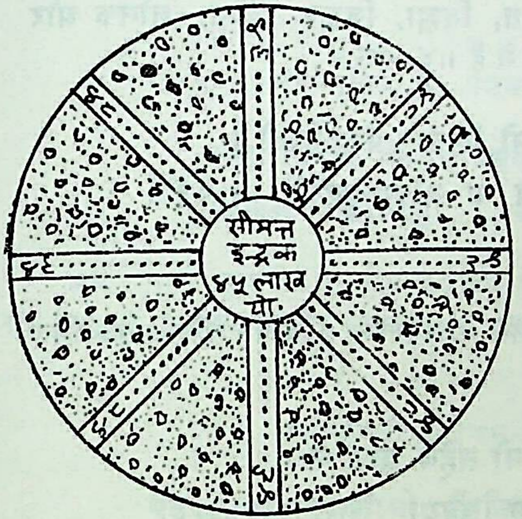
सीमन्त
इन्द्रक
४५ लाख
यो.
४९
४८
४९
४८
४९
४८
४९
४८

अन्तिम पटलस्थित इन्द्रादि बिल

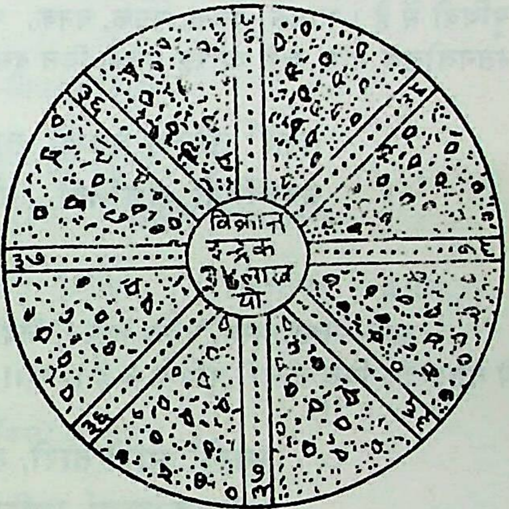
विभ्रान्त
इन्द्रक
३४ लाख
यो.
३७
३६
३७
३६
३७
३६
३७
३६

सात-पृथिवियों के इन्द्रक बिलों की संख्या

एक्कंत-तेरसादी, सत्तसु ठाणेसु [1]मिलिद-परिसंखा ।
उणवण्णा पढमादो, इंदय-णामा इमा होंति ।।३९।।

अर्थ –प्रथम पृथिवी से सातों पृथिवियों में तेरह को आदि लेकर एक पर्यन्त कुल मिलाकर उनचास संख्या वाले इन्द्रक नाम के बिल होते हैं ।।३९।।

पृथिवीक्रम से इन्द्रक बिलों के नाम

सीमंतगो य पढमो, णिरयो रोरुग य भंत - उब्भंत्ता ।
संभंत - असंभंता, विब्भंता [2]तत्त तसिदा य ।।४०।।
वक्कंत अवक्कंता, विक्कंतो होंति पढम - पुढवीए ।
[3]थणगो तणगो मणगो, वणगो घाडो[4] य संघाडो ।।४१।।
जिब्भा-जिब्भग-लोला, लोलय- [5]थणलोलुगाभिहाणा य ।
एदे बिदिय खिदीए, एक्कारस इंदया होंति ।।४२।।
१३ । ११ ।

---

१. क. मिलदि । २. ब. तध । ३. द. धलगो । ४. ब. दाघो । क. दाघो । ५. द. लोलयघण । ठ. लोलयघण ।

अर्थ—प्रथम सीमन्तक तथा द्वितीयादि निरय, रौरुक, भ्रान्त, उद्भ्रान्त, संभ्रान्त, असंभ्रान्त, विभ्रान्त, तप्त, त्रसित, वक्रान्त, अवक्रान्त और विक्रान्त इस प्रकार ये तेरह इन्द्रक बिल प्रथम पृथिवी में हैं। स्तनक, तनक, मनक, वनक, घात, संघात, जिह्वा, जिह्वक, लोल, लोलक और स्तनलोलुक नाम वाले ग्यारह इन्द्रक बिल दूसरी पृथिवी में हैं ॥४०-४२॥

तत्तो[1] तसिदो तवणो, तावण-णामो णिदाह-पज्जलिदो ।
उज्जलिदो संजलिदो, संपज्जलिदो य तदिय-पुढवीए ॥४३॥

९

अर्थ—तप्त, त्रस्त, तपन, तापन, निदाघ, प्रज्वलित, उज्ज्वलित, संज्वलित और संप्रज्वलित ये नौ इन्द्रक बिल तीसरी पृथिवी में हैं ॥४३॥

आरो[2] मारो तारो, तच्चो तमगो तहेव खाडे य ।
खडखड-णामा तुरिमक्खोणीए इंदया [3]सत्त ॥४४॥

७

अर्थ—आर, मार, तार, तत्त्व (चर्चा), तमक, खाड़ और खड़खड़ नामक सात इन्द्रक बिल चौथी पृथिवी में हैं ॥४४॥

तम-भम-झस-अद्धाविय-तिमिसो धूम-पहाए[4] छट्ठीए ।
हिम वद्दल-लल्लंका, सत्तम-अवणीए अवधिठाणो त्ति ॥४५॥

५ । ३ । १ ।

अर्थ—तमक, भ्रमक, झषक, अन्ध और तिमिस्र ये पाँच इन्द्रक बिल धूमप्रभा पृथिवी में हैं। छठी पृथिवी में हिम, वर्दल और लल्लक इस प्रकार तीन तथा सातवीं पृथिवी में केवल एक अवधिस्थान नाम का इन्द्रक बिल है ॥४५॥

दिशाक्रम से सातों पृथिवियों के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों के निरूपण की प्रतिज्ञा

घम्मादी-पुढवीणं, पढमिंदय-पढम-सेढिबद्धाणं ।
णामाणि णिरूवेमो, पुव्वादि - [5]पदाहिण-क्कमेण ॥४६॥

---

[1] द. ब. तेत्तो । [2] द. आरे, मारे, तारे । [3] द. ब. क. ठ. तस्स । [4] द. दुव्वुपहा, ब. दुच्चुपहा । [5] द. पहादिको कमेण, ब. पहादिको कमेण । क. ठ. पदाहिको कमेण ।

अर्थ—घर्मादिक सातों पृथिवियों सम्बन्धी प्रथम इन्द्रक बिलों के समीपवर्ती प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों के नामों का पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिण-क्रम से निरूपण करता हूँ ॥४६॥

घर्मा-पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध-बिलों के नाम

कंखा-पिपास-णामा, महकंखा अदिपिपास-णामा य ।
आदिम - सेढीबद्धा, चत्तारो होंति सीमंते ॥४७॥

अर्थ—घर्मा पृथिवी में सीमन्त-इन्द्रक बिल के समीप पूर्वादिक चारों दिशाओं में क्रमशः कांक्षा, पिपासा, महाकांक्षा और अतिपिपासा नामक चार प्रथम श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥४७॥

वंशापृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

पढमो अणिच्चणामो, बिदिओ विज्जो तहा [1]महाणिच्चो ।
महविज्जो य चउत्थो, पुव्वादिसु होंति [2]थणगम्हि ॥४८॥

अर्थ—वंशा पृथिवी में प्रथम अनिच्छ, दूसरा अविन्ध्य, तीसरा महानिच्छ और चतुर्थ महाविन्ध्य, ये चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक दिशाओं में स्तनक इन्द्रक बिल के समीप हैं ॥४८॥

मेघा-पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध-बिलों के नाम

दुक्खा य वेदणामा, महदुक्खा तुरिमया अ महवेदा ।
तत्तिदयस्स[3] एदे, पुव्वादिसु होंति चत्तारो ॥४९॥

अर्थ—मेघा पृथिवी में दुःखा, वेदा, महादुःखा और महावेदा, ये चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक दिशाओं में तप्त इन्द्रक के समीप हैं ॥४९॥

अंजना-पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

आरिंदए [4]णिसट्ठो, पढमो बिदिओ वि अंजण-णिरोधो ।
तदिओ [5]य अदिणिसत्तो, महणिरोधो चउत्थो त्ति ॥५०॥

---

[1] द. ब. महाणिज्जो । [2] द. घलगम्हि, ब. क. ठ. घणगम्हि । [3] ब. तत्तिदियस्स । [4] ठ. णिमटठो । [5] ब. ततिउ य ।

अर्थ—अंजना पृथिवी में आर इन्द्रक के समीप प्रथम निसृष्ट, द्वितीय निरोध, तृतीय अतिनिसृष्ट और चतुर्थ महानिरोध ये चार श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥५०॥

अरिष्टा-पृथिवी के प्रथम श्रेणीवद्ध बिलों के नाम

तमकिंदए[1] णिरुद्धो, विमद्दणो अदि- [2]णिरुद्ध-णामो य ।
तुरिमो महाविमद्दण - णामो पुव्वादिसु दिसासु ॥५१॥

अर्थ—अरिष्टा पृथ्वी में तमक इन्द्रक विल के समीप निरुद्ध, विमर्दन, अतिनिरुद्ध और चतुर्थ महामर्दन नामक चार श्रेणीवद्ध बिल पूर्वादिक चारों दिशाओं में विद्यमान हैं ॥५१॥

मघवी पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध-बिलों के नाम

हिम-इंदयम्हि होंति हु, णीला पंका य तह य महणीला ।
महपंका पुव्वादिसु, सेढीबद्धा इमे चउरो ॥५२॥

अर्थ—मघवी पृथ्वी में हिम इन्द्रक बिल के समीप नीला, पंका, महानीला और महापंका, ये चार श्रेणीबद्ध बिल क्रमशः पूर्वादिक दिशाओं में स्थित हैं ॥५२॥

माघवी-पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

कालो रोरव-णामो, महकालो पुव्व-पहुदि-दिब्भाए ।
महरोरओ चउत्थो, अवधी-ठाणस्स चिट्ठंदि ॥५३॥

अर्थ--माघवी पृथ्वी में अवधिस्थान इन्द्रक बिल के समीप पूर्वादिक चारों दिशाओं में काल, रौरव, महाकाल और चतुर्थ महारौरव ये चार श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥५३॥

अन्य बिलों के नामों के नष्ट होने की सूचना

अवसेस-इंदयाणं, पुव्वादि-दिसासु सेढिबद्धाणं ।
[3]णट्ठाइं णामाइं, पढमाणं बिदिय-पहुदि-सेढीणं ॥५४॥

अर्थ—शेष द्वितीयादिक इन्द्रक बिलों के समीप पूर्वादिक दिशाओं में स्थित श्रेणीबद्ध बिलों के नाम और पहले इन्द्रक बिलों के समीप स्थित द्वितीयादिक श्रेणीबद्ध बिलों के नाम नष्ट हो गये हैं ॥५४॥

---

[1] द. ब. ठ. तमकिंइये । [2] द. ब. क. ठ. यदिणिधुणामो । [3] द. ब. क. ठ. णत्ताइं ।

इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या

दिसि-विदिसाणं मिलिदा, अट्ठासीदी-जुदा य तिण्णि सया ।
सीमंतएण जुत्ता, उणणवदी समहिया होंति ।।५५।।

३८८ । ३८९ ।

अर्थ—सभी दिशाओं और विदिशाओं के कुल मिलाकर तीन सौ अठासी श्रेणीबद्ध बिल हैं। इनमें सीमन्त इन्द्रक बिल मिला देने पर सब तीन सौ नवासी होते हैं ।।५५।।

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवी में १३ पाथड़े (पटल) हैं, उनमें से प्रथम पाथड़े की दिशा और विदिशा के श्रेणीबद्ध बिलों को जोड़कर चार से गुणा करने पर सीमन्तक इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध बिल (४९+४८=९७×४)=३८८ प्राप्त होते हैं और इनमें सीमन्त इन्द्रक बिल और जोड़ देने से (३८८+१)=३८९ बिल प्राप्त होते हैं ।

क्रमशः श्रेणीबद्ध-बिलों की हानि

उणणवदी तिण्णि सया, पढमाए पढम-पत्थडे[1] होंति ।
बिदियादिसु हीयंते, माघवियाए पुढं पंच ।।५६।।

। ३८९ ।

अर्थ—इस प्रकार प्रथम पृथिवी के प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिल तीन सौ नवासी (३८९) हैं। इसके आगे द्वितीयादिक पृथिवियों में हीन होते-होते माघवी पृथिवी में मात्र पाँच ही बिल रह गये हैं ।।५६।।

अट्ठाणं पि दिसाणं, एक्केक्कं हीयदे जहा-कमसो ।
एक्केक्क-हीयमाणे, पंच [2]च्चिय होंति परिहाणे ।।५७।।

अर्थ—आठों ही दिशाओं में यथाक्रम एक-एक बिल कम होता गया है। इस प्रकार एक-एक बिल कम होने से अर्थात् सम्पूर्ण हानि के होने पर अन्त में पाँच ही बिल शेष रह जाते हैं ।।५७।।

विशेषार्थ—सातों पृथिवियों के ४९ पटल और ४९ ही इन्द्रक बिल हैं। प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल के प्रथम इन्द्रक की एक-एक दिशा में उनचास-उनचास श्रेणीबद्ध बिल और एक-एक

---

१. क. पंथडे । २. द. यंरजियं, ब. ठ. यंरज्जियं । क. जं रज्जियं ।

विदिशा में अड़तालीस-अड़तालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं तथा द्वितीयादि पटल से सप्तम पृथिवी के अन्तिम पटल पर्यन्त एक-एक दिशा एवं विदिशा में क्रमशः एक-एक घटते हुए श्रेणीबद्ध बिल हैं, अतः सप्तम पृथिवी के पटल की दिशाओं में तो एक-एक श्रेणीबद्ध है किन्तु विदिशाओं में उनका अभाव है इसीलिए सप्तम पृथिवी में (एक इन्द्रक और चार दिशाओं के चार श्रेणीबद्ध । इस प्रकार मात्र) पाँच बिल कहे गये हैं ।

श्रेणीबद्ध बिलों के प्रमाण निकालने की विधि

इट्ठिंदयप्पमाणं, रूऊणं [1]अट्ठ-ताडिया णियमा ।
उणणवदीतिसएसु, अवणिय सेसो [2]हवंति तप्पडला ।।५८।।

अर्थ—इष्ट इन्द्रक प्रमाण में से एक कम कर अवशिष्ट को आठ से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसे तीन सौ नवासी में से घटा देने पर नियम से शेष विवक्षित पाथड़े के श्रेणीबद्ध सहित इन्द्रक का प्रमाण होता है ।।५८।।

विशेषार्थ—मान लो—इष्ट इन्द्रक प्रमाण ४ है । इसमें से एक कम कर ८ से गुणित करें, पश्चात् गुणनफल को (प्रथम पृथिवी के प्रथम पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या) ३८९ में से घटा देने पर इष्ट प्रमाण प्राप्त होता है । यथा—इष्ट इन्द्रक प्रमाण (४—१=३)×८=२४ । ३८९—२४=३६५ चतुर्थ पाथड़े के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण प्राप्त हुआ । ऐसे अन्यत्र भी जानना चाहिए ।

प्रकारान्तर से प्रमाण निकालने की विधि

अहवा—

इच्छे[3] पदर-विहीणा, उणवण्णा अट्ठ-ताडिया णियमा ।
सा पंच-रूव - जुत्ता, इच्छिद-सेढिंदया होंति ।।५९।।

अर्थ--अथवा--इष्ट प्रतर के प्रमाण को उनचास में से कम कर देने पर जो अवशिष्ट रहे उसको नियमपूर्वक आठ से गुणा कर प्राप्त राशि में पाँच मिला दें । इस प्रकार अन्त में जो संख्या प्राप्त हो वही विवक्षित पटल के, इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण होता है ।।५९।।

विशेषार्थ—कुल प्रतर प्रमाण संख्या ४९ में से इष्ट प्रतर संख्या ४ को कम कर अवशेष को ८ से गुणित करें, पश्चात् ५ जोड़ दें । यथा—(४९—४=४५)×८=३६०+५=३६५ विवक्षित

---

[1] द. इट्ठतदिया । [2] द. ठ. हुवंति । [3] [इट्ठे] ।

(चतुर्थ) पाथड़े के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण प्राप्त हुआ। ऐसे अन्यत्र भी जानना चाहिए।

इन्द्रक-बिलों के प्रमाण निकालने की विधि

उद्दिट्ठं पंचोणं, भजिदं अट्ठेहि सोधए लद्धं।
एगुणवण्णाहितो[1], सेसा तत्थिदया होंति ।।६०।।

अर्थ—(किसी विवक्षित पटल के श्रेणीबद्ध सहित इन्द्रक के प्रमाण रूप) उद्दिष्ट संख्या में से पाँच कम करके आठ से भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसको उनचास में से कम कर देने पर अवशिष्ट संख्या के बराबर वहाँ के इन्द्रक का प्रमाण होता है ।।६०।।

विशेषार्थ--विवक्षित पटल के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्धों के प्रमाण को उद्दिष्ट कहते हैं। यहाँ चतुर्थ पटल की संख्या विवक्षित है, अतः उद्दिष्ट (३६५) में से ५ कम कर आठ से भाग दें। भागफल को सम्पूर्ण इन्द्रक पटल संख्या ४६ में से कम कर देवें। यथा—उद्दिष्ट (३६५—५=३६०)÷८=४५; ४९—४५=४ चतुर्थ पटल के इन्द्रक की प्रमाण संख्या प्राप्त होती है।

आदि (मुख), उत्तर (चय) और गच्छ का प्रमाण

आदीओ णिद्दिट्ठा, णिय-णिय-चरिमिंदयस्स[2] परिमाणं।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं, णिय-णिय-पदराणि गच्छाणि ।।६१।।

अर्थ—अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक का प्रमाण आदि कहा गया है, चय सर्वत्र आठ है और अपने-अपने पटलों का प्रमाण गच्छ या पद है ।।६१।।

विशेषार्थ---आदि और अन्त स्थान में जो हीन प्रमाण होता है उसे मुख (वदन) अथवा प्रभव तथा अधिक प्रमाण को भूमि कहते हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होने वाली वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को चय या उत्तर कहते हैं। स्थान को पद या गच्छ कहते हैं।

आदि का प्रमाण

तेणवदि-जुत्त-दुसया, पण-जुद-दुसया सयं च तेत्तीसं।
सत्तत्तरि सगतीसं, तेरस रयणप्पहादि-आदीओ ।।६२।।

। २९३ । २०५ । १३३ । ७७ । ३७ । १३ ।

---

१. ठ. द. ब. ऊणावण्णाहितो। क. ऊणाविणा। २. द. ठ. चरिमंदयस्य। क. ठ. सव्वत्थुत्तरमट्ठं।

अर्थ—दो सौ तेरानबै, दो सौ पाँच, एक सौ तैंतीस, सतहत्तर, सैंतीस और तेरह यह क्रमश: रत्नप्रभादिक छह पृथिवियों में आदि का प्रमाण है ।।६२।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभा से तम:प्रभा पर्यन्त छह पृथिवियों के अन्तिम पटल की दिशा-विदिशाओं के श्रेणीबद्ध एवं इन्द्रक सहित क्रमशः २९३, २०५, १३३, ७७, ३७ और १३ बिल प्राप्त होते हैं, अपनी-अपनी पृथिवी का यही आदि या मुख या प्रभव है।

गच्छ एवं चय का प्रमाण

तेरस-एक्कारस-णव-सग-पंच-तियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं[1], [2]रयणप्पह - पहुदि - पुढवीसु ।।६३।।

१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ३ सव्वत्थुत्तरमट्ठं[3] ८।

अर्थ—रत्नप्रभादिक पृथिवियों में क्रमशः तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच और तीन गच्छ हैं। उत्तर या चय सब जगह आठ होते हैं ।।६३।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभादि छह पृथिवियों में गच्छ का प्रमाण क्रमशः १३, ११, ९, ७, ५ और ३ है तथा सर्वत्र उत्तर या चय ८ है।

संकलित-धन निकालने का विधान

चय-हदमिच्छूण-पदं[4], रूवूणिच्छाए गुणिद-चय-जुत्तं ।
दुगुणिद[5] -वदणेण जुदं, पद-दल-गुणिदं हवेदि संकलिदं ।।६४।।

चय-हदमिच्छूण-पदं $\frac{१}{१३}$ । ८ ।
रूवूणिच्छाए[6] गुणिद-चयं $\frac{१}{१}$ । ८ । जुदं ९६ ।
दुगुणिद-वदणादि सुगमं ।

अर्थ—इच्छा से हीन गच्छ को चय से गुणा करके उसमें एक-कम इच्छा से गुणित चय को जोड़कर प्राप्त हुए योगफल में दुगुने मुख को जोड़ देने के पश्चात् उसको गच्छ के अर्धभाग से गुणा करने पर संकलित धन का प्रमाण आता है ।।६४।।

---

१. द. ब. क. ठ. सव्वट्ठुत्तरमंत । २. द. ब. क. रयणपहाए । ३. द. ब. सव्वदुट्ठर ४. द. ब. मिक्कूण-पदं । ५. द. ब. क. ठ. गुणिदं वदणेण । ६. द. ब. चय-पदमित्थूण-पदं १३३ । ८ रूउणिच्छाए गुणिद चयं $\frac{१}{३}$ । ८ । जूदं ९ । दुगुणि- देवादि सुगमं । इति पाठः ७६ तम-गाथायाः पश्चादुपलभ्यते ।

विशेषार्थ—संकलित धन निकालने का सूत्र—

संकलित धन=[{ गच्छ-इच्छा) × चय} + { (इच्छा—१) × चय } + (मुख × २)] × $\frac{\text{गच्छ}}{\text{२}}$

प्रथम पृथ्वी का संकलित धन=[(१३—१) × ८ + (१—१) × ८ + २९३ × २] × $\frac{\text{१३}}{\text{२}}$ = ४४३३ ।

दूसरी पृथ्वी का संकलित धन=[(११—२) × ८ + (२—१) × ८ + २०५ × २] × $\frac{\text{११}}{\text{२}}$ = २६९५ ।

तीसरी पृथ्वी का संकलित धन=[(९—३) × ८ + (३—१) × ८ + १३३ × २] × $\frac{\text{९}}{\text{२}}$ = १४८५ ।

चौथी पृथ्वी का संकलित धन=[(७—४) × ८ + (४—१) × ८ + ७७ × २] × $\frac{\text{७}}{\text{२}}$ = ७०७ ।

पाँचवीं पृ० का संकलित धन=[(५—५) × ८ + (५ — १) × ८ + ३७ × २] × $\frac{\text{५}}{\text{२}}$ = २६५ ।

छठी पृ० का संकलित धन=[(३—६) × ८ + (६—१) × ८ + १३ × २] × $\frac{\text{३}}{\text{२}}$ = ६३ ।

प्रकारान्तर से संकलित धन निकालने का प्रमाण

एक्कोणमवणि[1] -इंदयमद्धिय[2] वग्गेज्ज मूल-संजुत्तं ।
अट्ठ-गुणं पंच-जुदं, पुढविंदय-ताडिदम्मि पुढवि-धणं ॥६५॥

अर्थ—एक कम इष्ट पृथिवी के इन्द्रकप्रमाण को आधा करके उसका वर्ग करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो उसमें मूल को जोड़कर आठ से गुणा करें और पाँच जोड़ दें। पश्चात् विवक्षित पृथिवी के इन्द्रक का जो प्रमाण हो उससे गुणा करने पर विवक्षित पृथिवी का धन अर्थात् इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण निकलता है ॥६५॥

---

[1] द. ब. मण्ण । [2] ब. मद्धिय, द. मद्दिय ।

विशेषार्थ—जैसे--प्रथम पृ० के इन्द्रक १३- १=१२, १२÷२=६, ६×६=३६ वर्ग फल, ३६+६ मूलराशि=४२, ४२×८=३३६, ३३६+५=३४१, ३४१×१३ इन्द्रक संख्या=४४३३ प्रमाण प्रथम पृ० के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्राप्त हुआ।

समस्त पृथिवियों के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या

पढमा[1] इंदय-सेढी, चउदाल-सयाणि होंति तेत्तीसं ।
छस्सय-दुसहस्साणि, पणणउदी बिदिय-पुढवीए ।।६६।।

४४३३ । २६९५ ।

अर्थ– पहली पृथिवी में इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल चार हजार चार सौ तैंतीस हैं और दूसरी पृथिवी में दो हजार छह सौ पंचानवै (इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिल) हैं ।।६६।।

विशेषार्थ—(१३- १=१२)÷२=६ । (६×६=३६)+६=४२ । ४२×८=३३६ । (३३६+५=३४१)×१३=४४३३ पहली पृ० के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण है ।

(११—१=१०)÷२=५ । (५×५=२५)+५=३० । ३०×८=२४० ।

(२४०+५=२४५)×११=२६९५ दूसरी पृ० के इन्द्रक+श्रेणीबद्ध ।

तिय-पुढवीए इंदय-सेढी [2]चउदस-सयाणि पणसीदी ।
सत्तुत्तराणि सत्त य, सयाणि ते होंति तुरिमाए ।।६७।।

१४८५ । ७०७ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिल चौदह सौ पचासी और चौथी पृथिवी में सात सौ सात हैं ।।६७।।

विशेषार्थ—(९—१=८)÷२=४ । (४×४=१६)+४=२० । २०×८=१६०, (१६०+५)×९=१४८५ तीसरी पृ० के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध ।

पणसट्ठी दोण्णि सया, इंदय-सेढीए पचम-खिदीए ।
तेसट्ठी छट्ठीए, चरिमाए पंच णादव्वा ।।६८।।

२६५ । ६३ । ५ ।

---

[1] ब. पुढमा । [2] द. बद्धस्स ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में दो सौ पैंसठ, छठी में तिरेसठ और अन्तिम सातवीं पृथिवी में मात्र पाँच ही इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल हैं, ऐसा जानना चाहिए ।।६८।।

विशेषार्थ—(५—१=४) ÷ २=२, (२×२=४) + २=६। ६ × ८ = ४८, (४८+५=५३)×५=२६५ पाँचवीं पृ० के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध। (३—१=२)÷२=१। (१×१ १)+१=२। २×८=१६। (१६+५=२१)×३=६३ छठी पृथिवी के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण। (१—१=०)÷२=०, (०×०=०)+०=०। ०×८=०। (०+५=५)×१=५ सातवीं पृथिवी के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण।

सम्मिलित प्रमाण निकालने के लिए आदि चय एवं गच्छ का प्रमाण

पंचादी अट्ठ चयं, उणवण्णा होंति गच्छ-परिमाणं ।
सव्वाणं पुढवीणं, सेढीबद्धिंदयाण [1]इमं ।।६९।।

[2]चय-हदमिट्ठाधिय-पदमेक्काधिय-इट्ठ-गुणिद-चय - हीणं ।
दुगुणिद-वदणेण जुदं, पद-दल-गुणिदम्मि होदि संकलिदं ।।७०।।

अर्थ—सम्पूर्ण पृथिवियों के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों के प्रमाण को निकालने के लिए आदि पाँच, चय आठ और गच्छ का प्रमाण उनचास है ।।६९।।

इष्ट से अधिक पद को चय से गुणा करके उसमें से, एक अधिक इष्ट से गुणित चय को घटा देने पर जो शेष रहे उसमें दुगुने मुख को जोड़कर गच्छ के अर्धभाग से गुणा करने पर संकलित धन प्राप्त होता है ।।७०।।

विशेषार्थ—सातों पृथिवियों के इन्द्रक और श्रेणीबद्धों की सामूहिक संख्या निकालने हेतु आदि अर्थात् मुख ५, चय ८ और गच्छ या पद का प्रमाण ४९ है। यहाँ पर इष्ट ७ है अतः इष्ट से अधिक पद को अर्थात् (४९+७)=५६ को ८ (चय) से गुणा करने पर (५६×८)=४४८ प्राप्त हुए, इसमें से एक अधिक इष्ट से गुणितच य अर्थात् (७+१=८)×८=६४ घटा देने पर (४४८—६४)=३८४ शेष रहे, इसमें दुगुने मुख (५×२)=१० को जोड़कर जो ३९४ प्राप्त हुए उसमें $\frac{४९}{२}$ का गुणा कर देने पर ($\frac{३९४}{१} \times \frac{४९}{२}$)=९६५३ सातों पृथिवियों का संकलित धन अर्थात् इन्द्रक और श्रेणीबद्धों का प्रमाण प्राप्त हुआ।

---

[1] द. ब. इदम। [2] द. क. चयपदमिट्टादियपदमेक्कादिय, ब. चयहदमिट्ठदिय पदेमक्कादिय।

समस्त पृथिवियों का संकलित धन निकालने का विधान

अहवा–

अट्ठत्तालं दलिदं, गुणिदं अट्ठेहि पंच-रूव-जुदं ।
उणवण्णाए पहदं, सव्व-धणं होइ पुढवीणं ।।७१।।

अर्थ—अथवा—अड़तालीस के आधे को आठ से गुणा करके उसमें पाँच मिला देने पर प्राप्त हुई राशि को उनचास से गुणा करें तो सातों पृथिवियों का सर्वधन प्राप्त हो जाता है ।

विशेषार्थ—$\frac{४८}{२}$ × ८ = १९२, १९२ + ५ = १९७, १९७ × ४९ = ९६५३ सर्व पृथिवियों का संकलित धन ।

प्रकारान्तर से संकलित धन-निकालने का विधान

इंदय-सेढीबद्धा, णवय-सहस्साणि छस्सयाणं पि ।
तेवण्णं अधियाइं, सव्वासु वि होंति खोणीसु ।।७२।।

। ९६५३ ।

अर्थ—सम्पूर्ण पृथिवियों में कुल नौ हजार छह सौ तिरेपन (९६५३) इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल हैं ।।७२।।

समस्त पृथिवियों का श्रेणीधन निकालने के लिए आदि, गच्छ एवं चय का निर्देश

णिय-णिय-चरिमिंदय[1] -धणमेक्कोणं[2] होदि आदि-परिमाणं ।
णिय-णिय-पदरा गच्छा, पचया सव्वत्थ [3]अट्ठेव ।।७३।।

अर्थ—प्रत्येक पृथिवी के श्रेणीधन को निकालने के लिए एक कम अपने-अपने चरम इन्द्रक-का प्रमाण आदि, अपने-अपने पटल का प्रमाण गच्छ और चय सर्वत्र आठ ही है ।।७३।।

प्रथमादि पृथिवियों के श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए आदि, गच्छ एवं चय का निर्देश

बाणउदि-जुत्त-दुसया, [4]चउ-जुद दु-सया सयं च बत्तीसं ।
छावत्तरि छत्तीसं, बारस रयणप्पहादि-आदीओ ।।७४।।

---

[1] क. चरमिंद धय्र । [2] क. मेक्काणं । [3] ब. अलद्धेव, द. ठ. लट्ठेव । [4] क. चउअधियसय ।

२९२ । २०४ । १३२ । ७६ । ३६ । १२

अर्थ—दो सौ बानबै, दो सौ चार, एक सौ बत्तीस, छयत्तर, छत्तीस और बारह, इस प्रकार रत्नप्रभादि छह पृथिवियों में आदि का प्रमाण है ॥७४॥

विशेषार्थ—प्रत्येक पृथिवी के अन्तिम पटल की दिशा-विदिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण क्रमशः २९२, २०४, १३२, ७६, ३६ और १२ है। आदि (मुख) का प्रमाण भी यही है।

तेरस-एक्कारस-णव-सग-पंच-तियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं, सेढि-धणं सव्व-पुढवीणं ॥७५॥

अर्थ—सब पृथिवियों के (पृथक्-पृथक्) श्रेणी-धन को निकालने के लिए गच्छ का प्रमाण तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच और तीन है, चय सर्वत्र आठ ही है ॥७५॥

प्रथमादि-पृथिवियों के श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने का विधान

पद-वग्गं चय-पहदं[1] ,दुगुणिद-गच्छेण गुणिद-मुह[2] -जुत्तं ।
[3]वड्ढि-हद-पद-विहीणं, दलिदं जाणेज्ज संकलिदं ॥७६॥

अर्थ—पद के वर्ग को चय से गुणा करके उसमें दुगुने पद से गुणित मुख को जोड़ देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमें से चय से गुणित पदप्रमाण को घटा कर शेष को आधा करने पर प्राप्त हुई राशि के प्रमाण संकलित श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या जानना चाहिए ॥७६॥

प्रथमादि पृथिवियों में श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या

चत्तारि सहस्साणि, चउस्सया वीस होंति पढमाए ।
सेढि-गदा बिदियाए, दु सहस्सा [4]छस्सयाणि चुलसीदी ॥७७॥

४४२० । २६८४

अर्थ—पहली पृथिवी में चार हजार चार सौ बीस और दूसरी पृथिवी में दो हजार छह सौ चौरासी श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥७७॥

विशेषार्थ—$\frac{(१३^२ \times ८) + (१३ \times २ \times २९२) - (८ \times १३)}{२} = \frac{८८४०}{२} = ४४२०$

पहली पृथिवीगत श्रेणीबद्ध-बिलों का कुल प्रमाण।

---

[1] द. ब. चंयपहिदं। [2] द. ब. मुवजुत्तं। [3] ब. चट्टिहद। ठ. घडअधिय। [4] बं. छसयाए।

$$\frac{(११^{२}\times ८)+(११\times २\times २०४)-(८\times ११)}{२}=\frac{५३६८}{२}=२६८४$$

दूसरी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण । यहाँ गाथा ॥७६॥ के निम्न सूत्र का प्रयोग हुआ है—

$$\text{संकलित धन}=[\ \{\ (\text{पद})^{२}\times \text{चय}\ \}+(\text{२ पद}\times \text{मुख})-(\text{पद}\times \text{चय})\ ]\times \tfrac{१}{२}$$

चोद्दस-सयाणि छाहत्तरीय तदियाए तह य सत्त-सया ।
तुरिमाए सट्ठि-जुदं, दु-सयाणि पंचमीए[1] वि ॥७८॥

१४७६ । ७०० । २६० ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में चौदह सौ छयत्तर, चौथी में सात सौ और पाँचवीं पृथिवी में दो सौ साठ श्रेणीबद्ध बिल हैं, ऐसा जानना चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ—
$$\frac{(९^{२}\times ८)+(९\times २\times १३२)-(८\times ९)}{२}=\frac{२९५२}{२}=१४७६$$
तीसरी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण ।

$$\frac{(७^{२}\times ८)+(७\times २\times ७६)-(८\times ७)}{२}=\frac{१४००}{२}=७००$$
चौथी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण ।

$$\frac{(५^{२}\times ८)+(५\times २\times ३६)-(८\times ५)}{२}=\frac{५२०}{२}=२६०$$
पाँचवीं पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण ।

सट्ठी तमप्पहाए, चरिम-धरित्तीए होंति [2]चत्तारि ।
एवं सेढीबद्धा, पत्तेक्कं सत्त - खोणीसु[3] ॥७९॥

६० । ४ ।

अर्थ—तमःप्रभा पृथिवी में साठ और अन्तिम महातमःप्रभा पृथिवी में चार श्रेणीबद्ध बिल हैं । इस प्रकार सात पृथिवियों में से प्रत्येक में श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण समझना चाहिए ॥७९॥

---

[1] द. ब. क. पंचमिए होदि णायव्वं । ठ. पंचमिए होदि णादव्वं । [2] ठ. वंतिरिए । [3] द. ब. क. ठ. खोणीए ।

विशेषार्थ— $\frac{(३^२\times८)+(३\times२\times१२)-(८\times३)}{२}=\frac{१२०}{२}=६०$ छठी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण ।

सातवीं पृथिवी में मात्र ४ ही श्रेणीबद्ध बिल हैं ।

सब पृथिवियों के समस्त श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए आदि, चय और गच्छ का निर्देश

चउ-रूवाइं आदिं, पचय-पमाणं पि अट्ठ-रूवाइं ।
गच्छस्स य परिमाणं, हवेदि एक्कोणपण्णासा ।।८०।।

४ । ८ । ४९ ।

अर्थ—(रत्नप्रभादिक पृथिवियों में सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण निकालने के लिए) आदि का प्रमाण चार, चय का प्रमाण आठ और गच्छ या पद का प्रमाण एक कम पचास अर्थात् ४९ होता है ।।८०।।

सब पृथिवियों के समस्त श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने का विधान

पद-वग्गं पद-रहिदं, चय-गुणिदं पद-हदादि-जुदमद्धं[1] ।
मुह-दल-गुणिद-पदेणं[2], संजुत्तं होदि संकलिदं ।।८१।।

अर्थ—पद का वर्ग कर उसमें से पद के प्रमाण को कम करके अवशिष्ट राशि को चय के प्रमाण से गुणा करना चाहिए । पश्चात् उसमें पद से गुणित आदि को मिलाकर और उसका आधा कर प्राप्त राशि में मुख के अर्ध-भाग से गुणित पद के मिला देने पर संकलित धन का प्रमाण निकलता है ।।८१।।

विशेषार्थ— $\frac{(४९^२-४९)\times८+(४९\times४)}{२}+(२\times४९)=$

$\frac{(२४०१-४९)\times८+(१९६)}{२}+(९८)=\frac{(२३५२\times८)+१९६}{२}+९८=९६०४$ संकलित धन ।

समस्त श्रेणीबद्ध-बिलों की संख्या

रयणप्पह-पहुदीसुं, पुढवीसुं सव्व-सेढिबद्धाणं ।
चउरुत्तर-[3] छच्च-सया, णव य सहस्साणि परिमाणं ।।८२।।

९६०४

---

[1] द. जुदमदं, ब. जुदमट्ठं । [2] द. एदेणं । [3] द. ब. रुत्तरछस्ससया ।

अर्थ—रत्नप्रभादिक पृथिवियों में सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण नौ हजार छह सौ चार (९६०४) है ॥८२॥

आदि (मुख) निकालने की विधि

पद-दल-हिद-संकलिदं[1] , इच्छाए गुणिद-पचय-संजुत्तं ।
रूऊणिच्छाधिय-पद-चय-गुणिदं अवणि-अद्धिए आदी ॥८३॥

अर्थ—पद के अर्धभाग से भाजित संकलित धन में इच्छा से गुणित चय को जोड़कर और उसमें से चय से गुणित एक कम इच्छा से अधिक पद को कम करके शेष को आधा करने पर आदि का प्रमाण आता है ॥८३॥

विशेषार्थ—यहाँ पद ४९, संकलित धन ९६०४, इच्छा राशि ७ और चय ८ है। =

$$\frac{(९६०४ \div \frac{४९}{२}) + (८ \times ७) - (७ - १ + ४९) \times ८}{२} = \frac{३९२ + ५६ - ४४०}{२} = \frac{४४८ - ४४०}{२} = \frac{८}{२}$$

अर्थात् ४ आदि या मुख का प्रमाण प्राप्त होता है।

इस गाथा का सूत्र—आदि = [(संकलित धन ÷ पद/२) + (इच्छा × चय) —{(इच्छा — १) + पद} चय] $\frac{१}{२}$ ।

चय निकालने की विधि

[2]पद-दल-हद-वेक-पदावहरिद-संकलिद-वित्त-परिमाणे ।
वेकपदद्धेण[3] हिदं, आदिं सोहेज्ज[4] तत्थ सेस चयं ॥८४॥

९६०४ ।

९६०४[5] अपवर्तिते, वेकपदद्धेण[6] $\frac{४९}{२}$ । ४८[7] हिदं आदिं $\frac{४}{२४}$[8] सोहेज्ज[9] शोधित शेषमिदं $\frac{४८}{६}$[10] अपवर्तिते ८[11] ।

---

[1] ब. क. बलहिदलंसलिदं । [2] द. पडलहदवेकपादावहरिद…………………………परिमाणो । क. ब. पडलहद देकपाहावहरिद…………… परिमाणो । [3] द. ब. क. ठ. वेकपदंदेण । [4] द. ब. ठ. सोगेज्ज । [5] द. ब. क. ठ. ४९ । [6] द. ब. वेकपदंदेण ४ $\frac{४९}{२}$ । [7] द. ब. प्रत्योः इदं ८५ तम गाथायाः पश्चादुपलभ्यते । [8] द. $\frac{४}{२०}$ । [9] द. ब. क. सोदेज्ज, ठ. कोदेज्ज । [10] द. $\frac{४८}{२८}$ । ब. क. ठ. $\frac{४८}{२०}$ । [11] द. ब. क. ठ. ९ ।

अर्थ – पद के अर्धभाग से गुणित जो एक कम पद, उसमे भाजित संकलित धन के प्रमाण में से एक कम पद के अर्ध भाग से भाजित मुख को कम कर देने पर शेष चय का प्रमाण होता है ॥८४॥

विशेषार्थ—पद का अर्धभाग $\frac{४९}{२}$, एक कम पद (४९ – १) = ४८, संकलित धन ९६०४, एक कम पद का अर्ध भाग $(\frac{४९-१}{२}) = \frac{४८}{२}$, मुख ४ । अर्थात् ९६०४ ÷ (४९ – १ × $\frac{४९}{२}$) – (४ ÷ $\frac{४९-१}{२}$) = ९६०४ ÷ ११७६ – $\frac{४}{२४}$ = $\frac{९६०४}{११७६}$ – $\frac{४}{२४}$ = ८ चय प्राप्त हुआ ।

इस गाथा का सूत्र –

चय = संकलित धन ÷ [(पद – १) $\frac{पद}{२}$] – (मुख ÷ $\frac{पद - १}{२}$)

दो प्रकार से गच्छ-निकालने की विधि

चय-दल-हद-संकलिदं, चय-दल-रहिदादि श्रद्ध-कदि-जुत्तं ।
मूलं [1]पुरिमूलूणं, पचयद्ध-हिदम्मि[2] तं तु [3]पदं ॥८५॥

अहवा—

संदृष्टि— [4]**चय-दल-हद-संकलिदं ४४२० । ४ । चय-दल-रहिदादि २८८ । श्रद्ध १४४ । कदि २०७३६ । जुत्तं ३८४१६ । मूलं १९६ । पुरिमूल १४४ । ऊणं ५२ । पचयद्ध ४ । हिदं १३ ।**

अर्थ – चय के अर्धभाग से गुणित संकलित धन में चय के अर्धभाग से रहित आदि (मुख) के अर्धभाग के वर्ग को मिला देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसका वर्गमूल निकालें, पश्चात् उसमें से पूर्व मूल को (जिसके वर्ग को संकलित धन में जोड़ा था) घटाकर अवशिष्ट राशि में चय के अर्धभाग का भाग देने पर पद का प्रमाण निकलता है ॥८५॥

विशेषार्थ—चय ८, इसका दल अर्थात् आधा ४, इससे गुणित संकलित धन ४४२०, अर्थात् ४४२० × ४ । चय-दल-रहितादि अर्थात् २९२ मुख में से चय (८) का अर्धभाग (४) घटाने पर

---

[1] क. पुरिमूलूणं, ठ. उरिमूलूणं । [2] ब. हिदमित्तं । [3] द. ब. पदयथवा । [4] द. ब. मूलूणं पूर्व-मूले माणं ५२ । चय-भजिदं ५२ = १ । चय-दल-हद-संकलिदं ४४२० । ४ । चय-दल-रहिदाहिदादि २८८ । श्रद्धं १४४ । १०७३७ । जुत्तं ३८४१६ । ४ । मूलं १९६ । पुरि २ = । दु २ । चयट्ठ-हदं संकलिदं ४४२० । १६ चय ८ । द. ४ । वदन २९२ । अंतरस्स २८८ । वग्गजुदं ३६२ । मूलं इंदं ३९२ । पुरिमूल २८८ । चय-भजिदं १०४ । पदं १३ = ८ । इति पाठः ८९ तम गाथायाः पश्चादुपलभ्यते ।

२८८ अवशेष रहे, तथा इसका आधा १४४ हुए। इसका (१४४) वर्ग २०७३६ हुआ, इसे (४४२० × ४ =) १७६८० में मिला देने पर ३८४१६ होते हैं। इस राशि का वर्गमूल १९६ आता है। इस वर्गमूल में से पूर्वमूल अर्थात् १४४ घटा देने पर ५२ शेष बचे। इसमें अर्ध-चय (४) का भाग देने पर पद का प्रमाण १३ प्राप्त हो जाता है।

यथा— $\left\{\sqrt{\left(\frac{८}{२} \times ४४२०\right) + \left(\frac{२९२ - \frac{८}{२}}{२}\right)^{२}} - \left(\frac{२९२ - \frac{८}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{८}{२}$

$= \frac{\sqrt{१७६८० + १४४^{२}} - १४४}{४} = \frac{१९६ - १४४}{४} = \frac{५२}{४} = १३$ पहली पृ० का पद प्रमाण।

इस गाथा का सूत्र—

$$\text{पद} = \left\{\sqrt{\left(\text{संकलित धन} \times \frac{\text{चय}}{२}\right) + \left(\frac{\text{आदि} - \frac{\text{चय}}{२}}{२}\right)^{२}} - \left(\frac{\text{आदि} - \frac{\text{चय}}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{\text{चय}}{२}$$

अहवा—

दु-चय-हदं संकलिदं, चय-दल-वदणंतरस्स वग्ग-जुदं।
मूलं पुरिमूलूणं, चय-भजिदं होदि तं तु पदं ॥८६॥

अहवा—

संदृष्टि—दु २। चय ८। दु-चय-हदं संकलिदं ४४२०। १६। चयदल ४। वदन २९२। अंतरस्स २८८। वग्ग $\overline{३९२}$। मूलं ३९२ पुरिमूल २८८। ऊणं १०४। चय-भजिदं $\frac{१०४}{८}$। पदं १३।

अर्थ— अथवा— दुगुने चय से गुणित संकलित धन में चय के अर्धभाग और मुख के अन्तर रूप संख्या के वर्ग को जोड़कर उसका वर्गमूल निकालने पर जो संख्या प्राप्त हो उसमें से पूर्वमूल को (जिसके वर्ग को संकलित धन में जोड़ा था) घटाकर शेष में चय का भाग देने पर विवक्षित पृथिवी के पद का प्रमाण निकलता है ॥८६॥

विशेषार्थ—दुगुणित चय ८ × २ = १६, इससे गुणित संकलित धन ४४२० × १६, चय का अर्ध भाग ४, मुख २९२; मुख २९२ में से ४ घटाने पर २८८ अवशेष रहे, इसका वर्ग ८२९४४ प्राप्त हुआ, इसमें १६ गुणित सङ्कलित धन ७०७२० जोड़ देने पर १,५३६६४ प्राप्त हुए और इसका वर्गमूल ३९२ आया। इस वर्गमूल में से पूर्वमूल अर्थात् २८८ घटाने पर १०४ अवशिष्ट रहे। इसमें चय ८ (आठ) का भाग देने पर ($\frac{१०४}{८} =$) १३ प्र० पृ० के पद का प्रमाण प्राप्त हुआ। यथा—

$$\left\{\sqrt{(\text{२}\times\text{८}\times\text{४४२०})+\left(\text{२९२}-\tfrac{\text{८}}{\text{२}}\right)^{\text{२}}}-\left(\text{२९२}-\tfrac{\text{८}}{\text{२}}\right)\right\}\div\text{८}$$

$$=\frac{\sqrt{\text{७०७२०}+\text{८२९४४}}-\text{२८८}}{\text{८}}=\frac{\text{१०४}}{\text{८}}=\text{१३ प्रथम पृ० के पद का प्रमाण ।}$$

इस गाथा का सूत्र :—

$$\text{पद}=\left\{\sqrt{(\text{२ चय}\times\text{ संकलित धन})+\left(\text{आदि}-\tfrac{\text{चय}}{\text{२}}\right)^{\text{२}}}-\left(\text{आदि}-\tfrac{\text{चय}}{\text{२}}\right)\right\}\div\text{चय}$$

प्रत्येक पृथिवी के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण निकालने की विधि—

पत्तेयं रयणादी-सव्व-बिलाणं ठवेज्ज परिसंखं ।
णिय-णिय-सेढीबद्ध[1] य, इंदय-रहिदा पइण्णया होंति ॥८७॥

अर्थ—रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथिवी के सम्पूर्ण बिलों की संख्या रखकर उसमें से अपने-अपने श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलों की संख्या घटा देने से उस-उस पृथिवी के शेष प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण प्राप्त होता है ॥८७॥

उणतीसं लक्खाणि, पंचाणउदी-सहस्स-पंच-सया ।
सगसट्ठी - संजुत्ता, पइण्णया पढम - पुढवीए ॥८८॥

। २९९५५६७ ।

अर्थ—प्रथम पृथिवी में उनतीस लाख, पंचान्नवै हजार पाँच सौ सड़सठ प्रकीर्णक बिल हैं ॥८८॥

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवी में कुल बिल ३०,००००० हैं, इनमें से १३ इन्द्रक और ४४२० श्रेणीबद्ध घटा देने पर ३०,००००० – (१३ + ४४२०) = २९,९५५६७ प्रथम पृथिवी के प्रकीर्णक बिलों की संख्या प्राप्त हो जाती है।

चउवीसं लक्खाणि, सत्ताणवदी-सहस्स-ति-सयाणि ।
पंचुत्तराणि होंति हु, पइण्णया विदिय-खोणीए ॥८९॥

२४९७३०५ ।

---

[1] द. सेढीया, ब. सेढिया । ठ. सेढीआ ।

अर्थ—द्वितीय पृथिवी में चौबीस लाख सत्तानवै हजार तीन सौ पाँच प्रकीर्णक बिल हैं ॥८९॥

विशेषार्थ—दूसरी पृथिवी में कुल बिल २५,००००० हैं, इनमें से ११ इन्द्रक और २६८४ श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष २४,९७३०५ प्रकीर्णक बिल हैं।

[1]चोद्दस-लक्खाणि तहा, अट्ठाणउदी-सहस्स-पंच-सया ।
पण्णदसेहिं जुत्ता, पइण्णया तदिय-वसुहाए ॥९०॥

१४९८५१५ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में चौदह लाख, अट्ठानबै हजार पाँच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक बिल हैं ॥९०॥

विशेषार्थ—तीसरी पृथिवी में कुल बिल १५,००००० हैं, इनमें से ९ इन्द्रक बिल और १४७६ श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष १४,९८५१५ प्रकीर्णक बिल प्राप्त होते हैं।

णव-लक्खा णवणउदी-सहस्सया दो-सयाणि [2]तेणउदी ।
तुरियाए वसुमइए, पइण्णयाणं च परिमाणं ॥९१॥

९९९२९३ ।

अर्थ—चतुर्थ पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण नौ लाख, निन्यानबै हजार दो सौ तेरानवै है ॥९१॥

विशेषार्थ—चतुर्थ पृथिवी में कुल बिल १०,००००० हैं, इनमें से ७ इन्द्रक और ७०० श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष प्रकीर्णक बिलों की संख्या ९,९९ २९३ प्राप्त होती है।

दो लक्खाणि सहस्सा, [3]णवणउदी सग-सयाणि पणतीसं ।
पंचम - वसुधायाए, पइण्णया होंति णियमेणं ॥९२॥

२९९७३५ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में नियम से दो लाख, निन्यानवै हजार सात सौ पैंतीस प्रकीर्णक बिल हैं ॥९२॥

विशेषार्थ—पाँचवीं पृथिवी में कुल बिल ३,००००० हैं, इनमें से ५ इन्द्रक और २६० श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष प्रकीर्णक बिलों की संख्या २,९९,७३५ प्राप्त होती है।

---

१. द. चोद्दसयं जाणि, ब. चोद्दसए जाणि । ठ. चोद्दसए भाणि । क. चोद्दसए जाणि । २. क. तेणवदी ।
३. द. ण उणउदी ।

अट्ठासट्ठी-हीणं, लक्खं छट्ठीए[1] मेदिणीए वि ।
अवणीए सत्तमिए, पइण्णया णत्थि णियमेणं ॥९३॥

९९९३२ ।

अर्थ—छठी पृथिवी में अड़सठ कम एक लाख प्रकीर्णक बिल हैं। सातवीं पृथिवी में नियम मे प्रकीर्णक बिल नहीं हैं ॥९३॥

विशेषार्थ—छठी पृथिवी में कुल बिल ९९,९९५ हैं, इनमें से तीन इन्द्रक और ६० श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर प्रकीर्णक बिलों की संख्या ९९,९३२ प्राप्त होती है। सप्तम पृथिवी में एक इन्द्रक और चारों दिशाओं में एक-एक श्रेणीबद्ध, इस प्रकार कुल पाँच ही बिल हैं। प्रकीर्णक बिल वहाँ नहीं हैं।

छह-पृथिवियों के समस्त प्रकीर्णक बिलों की संख्या

तेसीदिं लक्खाणि, णउदि-सहस्साणि ति-सय-सगदालं ।
छप्पुढवीणं मिलिदा, सव्वे वि पइण्णया होंति ॥९४॥

८३९०३४७ ।

अर्थ—छह पृथिवियों के सभी प्रकीर्णक बिलों का योग तेरासी लाख, नब्बै हजार तीन सौ मैंतालीस है ॥९४॥

[विशेषार्थ अगले पृष्ठ पर देखिये]

---

[1] द. छट्ठी, ब. क. छट्ठीइ ।

विशेषार्थ—

पृथिवियाँ	सर्वबिल—	इन्द्रक +	श्रेणीबद्ध =	प्रकीर्णक
प्र० पृ०	३०,००००००—	१३ +	४४२० =	२९,९५५६७
द्वि० पृ०	२५,००००००—	११ +	२६८४ =	२४,९७३०५
तृ० पृ०	१५,००००००—	९ +	१४७६ =	१४,९८५१५
च० पृ०	१०,००००००—	७ +	७०० =	९,९९२९३
पं० पृ०	३,०००००—	५ +	२६० =	२,९९७३५
प० पृ०	९९,९९५—	३ +	६० =	९९,९३२
स० पृ०	५—	१ +	४ =	०

८३,९०,३४७ सर्व पृथिवियों के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण ।

इन्द्रादिक बिलों का विस्तार

संखेज्जमिंदयाणं, रुंदं सेढीगयाण जोयणया ।
तं होदि [1]असंखेज्जं, पइण्णयाणुभय-मिस्सं [2]च ॥९५॥
७ । रि । ७ रि ।[3]

अर्थ—इन्द्रक बिलों का विस्तार संख्यात योजन, श्रेणीबद्ध बिलों का असंख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलों का विस्तार उभयमिश्र अर्थात् कुछ का संख्यात और कुछ का असंख्यात योजन है ॥९५॥

विशेषार्थ—संदृष्टि में ७ संख्यात का और 'रि' असंख्यात का सूचक है ।

संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण

संखेज्जा वित्थारा, णिरयाणं पंचमस्स परिमाणा ।
सेस चउ-पंच-भागा, होंति असंखेज्ज-रुंदाइं ॥९६॥
८४००००० । १६८०००० । ६७२०००० ।

---

[1] द. ब. यसखेज्जं । [2] द. ब. क. ठ. णुभयमस्सरूवं । [3] [७ । २ । ७ । ६ । २ । ७ ।]

अर्थ—सम्पूर्ण बिल संख्या के पाँच भागों में से एक भाग ($\frac{१}{५}$) प्रमाण बिलों का विस्तार, संख्यात योजन और शेष चार भाग ($\frac{४}{५}$) प्रमाण बिलों का विस्तार असंख्यात योजन है ।।९६।।

विशेषार्थ– सातों पृथिवियों के समस्त बिलों का प्रमाण ८४,००००० है । इसका $\frac{१}{५}$ भाग अर्थात् ८४,००००० × $\frac{१}{५}$ = १६,८०००० बिल संख्यात योजन प्रमाण वाले और ८४,००००० × $\frac{४}{५}$ = ६७,२०००० बिल असंख्यात योजन प्रमाण वाले हैं ।

रत्नप्रभादिक पृथिवियों में संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का

पृथक्-पृथक् प्रमाण

छ-प्पंच-ति-दुग-लक्खा, सट्ठि-सहस्साणि तह य एक्कोणा ।
वीस-सहस्सा एक्कं, [1]रयणादिसु संख-वित्थारा ।।९७।।

६००००० । ५००००० । ३००००० । २००००० । ६०००० । १९९९९ । १ ।

अर्थ—रत्नप्रभादिक पृथिवियों में क्रमशः छह लाख, पाँच लाख, तीन लाख, दो लाख, साठ हजार, एक कम बीस हजार और एक, इतने बिलों का विस्तार संख्यात योजन प्रमाण है ।।९७।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथिवी के सम्पूर्ण बिलों के $\frac{१}{५}$ वें भाग प्रमाण बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं । यथा—

पहली पृ० में—३०,००००० का $\frac{१}{५}$=६,००००० बिल संख्यात यों० विस्तार वाले ।

दूसरी पृ० में—२५,००००० का $\frac{१}{५}$=५,००००० ,, ,, ,, ,,

तीसरी ,, —१५,००००० का $\frac{१}{५}$=३,००००० ,, ,, ,, ,,

चौथी ,, —१०,००००० का $\frac{१}{५}$=२,००००० ,, ,, ,, ,,

पाँचवीं ,, —३,००००० का $\frac{१}{५}$=६०,००० ,, ,, ,, ,,

छठी ,, —९९,९९५ का $\frac{१}{५}$=१९,९९९ ,, ,, ,, ,,

सातवीं ,, — ५ का $\frac{१}{५}$=१ ,, ,, ,, ,,

---

[1] द. ब. क. ठ. दुयणोदिसु ।

चउवीस-वीस-बारस-अट्ठ-पमाणाणि होंति लक्खाणि ।
सय-कदि-हद[1]-चउवीसं, सीदि-सहस्सा य चउ-हीणा ।।९८।।

२४००००० । २०००००० । १२००००० । ८००००० । २४०००० । ७९९९६ ।

चत्तारि [2]च्चिय एदे, होंति असंखेज्ज-जोयणा रुंदा ।
रयणप्पह-पहुदीए, कमेण सव्वाण पुढवीणं ।।९९।।

४ ।

अर्थ--रत्नप्रभादिक—पृथिवियों में क्रमशः चौबीस लाख, बीस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चौबीस से गुणित सौ के वर्ग प्रमाण अर्थात् दो लाख चालीस हजार, चार कम अस्सी हजार और चार, इतने बिल असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं ।।९८-९९।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथिवी के कुल बिलों के $\frac{४}{५}$ वें भाग प्रमाण बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं । यथा—

पहली—पृ० में—३०,००००० का $\frac{४}{५}$=२४,००००० बिल असंख्यात यो० विस्तार वाले ।

दूसरी— ,, —२५,००००० का $\frac{४}{५}$=२०,००००० ,, ,, ,,

तीसरी—,, —१५,००००० का $\frac{४}{५}$=१२,००००० ,, ,, ,,

चौथी— ,, —१०,००००० का $\frac{४}{५}$=८,००००० ,, ,, ,,

पाँचवीं—,, —३,००००० का $\frac{४}{५}$=२,४०००० ,, ,, ,,

छठी— ,, —९९,९९५ का $\frac{४}{५}$=७९,९९६ ,, ,, ,,

सातवीं—,, —५ का $\frac{४}{५}$=४ ,, ,, ,,

सर्व बिलों का तिरछे रूप में जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तराल

संखेज्ज-रुंद-संजुद-णिरय-बिलाणं जहण्ण-विच्चालं[3] ।
छक्कोसा तेरिच्छे, उक्कस्से [4]संदुगुणिदं तु ।।१००।।

को ६ । १२ ।[5]

---

१. द. सयकदिहिद° । २. द. रचिय, ब. रविय । ३. द. जहण्ण-विरथारं । ४. द. ब. दुगुणिदो । ५. द. ६ ।

अर्थ—नारकियों के संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों में तिरछे रूप में जघन्य अन्तराल छह कोस प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तराल इससे दुगुना अर्थात् बारह कोस प्रमाण है ।।१००।।

विशेषार्थ—संख्यात योजन विस्तार वाले नरकबिलों का जघन्य तिर्यग् अन्तर छह कोस (१½ योजन) और उत्कृष्ट तिर्यग् अन्तर १२ कोस (३ योजन) प्रमाण है ।

णिरय-बिलाणं होदि हु, असंख-रुंदाण अवर-विच्चालं ।
जोयण-सत्त-सहस्सं, उक्कस्से तं असंखेज्जं ।।१०१।।

जो० ७००० । रि ।

अर्थ—नारकियों के असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का जघन्य अन्तराल सात हजार योजन और उत्कृष्ट अन्तराल असंख्यात योजन ही है ।।१०१।।

विशेषार्थ—असंख्यात योजन विस्तार वाले नरकबिलों का जघन्य तिर्यग् अन्तर ७००० योजन और उत्कृष्ट तिर्यग् अन्तर असंख्यात योजन प्रमाण है । संदृष्टि में असंख्यात का चिह्न 'रि' ग्रहण किया गया है ।

प्रकीर्णक बिलों में संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तृत बिलों का विभाग

उत्त-पइण्णय-मज्झे, होंति हु [1]बहवो असंख-वित्थारा[2] ।
संखेज्ज-वास-जुत्ता, थोवा [3]होर-तिमिर-संजुत्ता[4] ।।१०२।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकीर्णक बिलों में—असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल बहुत हैं और संख्यात योजन विस्तार वाले बिल थोड़े हैं । ये सब बिल घोर अंधकार से व्याप्त रहते हैं ।।१०२।।

सग-सग- पुढवि-गयाणं, संखासंखेज्ज-रुंद रासिम्मि ।
इंदय-सेढि-विहीणे, कमसो सेसा पइण्णए उभयं ।।१०३।।

५९९९८७ । अ. २३९५५८०[5] ।

एवं पुढविं पडि आणेदव्वं

अर्थ—अपनी-अपनी पृथिवी के संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों की राशि में से इन्द्रक बिलों का प्रमाण—घटा देने पर—संख्यात योजन विस्तार वाले प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण शेष रहता है ।

---

[1] क. ठ. बहुवो । [2] द. ब. क. वित्थारो । ठ. विस्थारे । [3] क. होराति । [4] ब. होएति तिमिर । [5] क. ठ. २३९५६८० ।

इसी प्रकार अपनी-अपनी पृथिवी के असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों की संख्या में से क्रमशः श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण-घटा देने पर असंख्यात योजन विस्तार वाले प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण अवशिष्ट रहता है ॥१०३॥

इस प्रकार प्रत्येक पृथिवी के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण ज्ञात कर लेना चाहिए।

विशेषार्थ—पहली पृथिवी-

संख्यात यो० विस्तार वाले सर्व बिल ६,०००००—१३ इन्द्रक=५,९९,९८७ प्रकीर्णक सं० यो० वाले। असंख्यात यो० विस्तार वाले सर्व बिल २४,०००००—४४२० श्रेणी०=२३,९५५८० प्रकीर्णक असंख्यात यो० वाले।

दूसरी–पृथिवी

संख्यात यो० वि० वाले सर्व बिल ५,०००००—११ इन्द्रक=४,९९,९८९ प्रकीर्णक सं० यो० वाले। असंख्यात यो० वि० वाले सर्व बिल २०,०००००—२६८४ श्रेणी०= १९,९७,३१६ असं०यो० वाले।

तीसरी–पृथिवी

संख्यात यो० वि० वाले सर्व बिल ३,०००००—९ इन्द्रक=२,९९९९१ प्रकीर्णक संख्यात योजन वाले। असं० यो० वाले सर्व बिल १२,०००००—१४७६ श्रेणी०=११,९८,५२४ प्रकीर्णक असंख्यात यो० वि० वाले।

चौथी–पृथिवी

संख्यात यो० के सर्व बिल २,०००००—७ इन्द्रक=१,९९,९९३ प्रकी० संख्यात यो० वाले। अमं० यो० वाले सर्व बिल ८,०००००—७०० श्रेणी०=७,९९,३०० प्रकी० असं० यो० वाले।

पाँचवीं–पृथिवी

संख्यात यो० के सर्व बिल ६००००—५ इन्द्रक=५९,९९५ प्रकी० संख्यात यो० वाले। अमंख्यात यो० के सर्व बिल २,४००००—२६० श्रेणी०=२,३९,७४० प्रकी० असं० यो० वाले।

छठी—पृथिवी

मंख्यात यो० के सर्व बिल १९,९९९—३ इन्द्रक=१९,९९६ प्रकी० सं० यो० वाले। असंग्यात यो० के सर्व बिल ७९,९९६—६० श्रेणी०=७९,९३६ प्रकी० असं० यो० वाले।

सातवीं पृथिवी में प्रकीर्णक बिल नहीं हैं ।

संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले नारक बिलों में नारकियों की संख्या

संखेज्ज-वास-जुत्ते, णिरय-बिले होंति णारया जीवा ।
संखेज्जा णियमेणं, इदरम्मि तहा असंखेज्जा ।।१०४।।

अर्थ—संख्यात योजन विस्तार वाले नरक बिल में नियम से संख्यात नारकी जीव तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल में असंख्यात ही नारकी जीव होते हैं ।।१०४।।

इन्द्रक बिलों की हानि-वृद्धि का प्रमाण

पणदालं लक्खाणि, पढमो चरिमिंदओ वि इगि-लक्खं ।
उभयं सोहिय एक्कोणिंदय-भजिदम्मि हाणि-चयं ।।१०५।।

४५००००० । १०००००

छावट्ठि-छस्सयाणि, इगिणउदि-सहस्स-जोयणाणि पि ।
दु-कलाओ ति-विहत्ता, परिमाणं हाणि-वड्ढीए ।।१०६।।

९१६६६$\frac{२}{३}$

अर्थ—प्रथम इन्द्रक का विस्तार पैंतालीस लाख योजन और अन्तिम इन्द्रक का विस्तार एक लाख योजन है। प्रथम इन्द्रक के विस्तार में से अन्तिम इन्द्रक का विस्तार घटाकर शेष में एक कम इन्द्रक प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना (द्वितीयादि इन्द्रकों का विस्तार निकालने के लिए) हानि और वृद्धि का प्रमाण है ।।१०५।।

इस हानि-वृद्धि का प्रमाण इक्यानबै हजार छह सौ छ्यासठ योजन और तीन से विभक्त दो कला है ।।१०६।।

विशेषार्थ—पहली पृथिवी के प्रथम सीमन्त इन्द्रक बिल का विस्तार मनुष्य क्षेत्र सदृश अर्थात् ४५ लाख योजन प्रमाण है और सातवीं पृ० के अवधिस्थान नामक अन्तिम विल का विस्तार जम्बूद्वीप सदृश एक लाख योजन प्रमाण है। इन दोनों का शोधन करने पर (४५,००००० — १,०००००) = ४४,००००० योजन अवशेष रहे। इनमें एक कम इन्द्रकों (४९ — १ = ४८) का भाग देने पर (४४,००००० ÷ ४८) = ९१,६६६$\frac{२}{३}$ योजन हानि और वृद्धि का प्रमाण प्राप्त होता है।

इच्छित इन्द्रक के विस्तार को प्राप्त करने का विधान

बिदियादिसु इच्छंतो, रूऊणिच्छाए गुणिद-खय-वड्ढो ।
सीमंतादो [1]सोहिय, मेलिज्ज सुअवहि-ठाणम्मि[2] ।।१०७।।

अर्थ—द्वितीयादिक इन्द्रकों का विस्तार निकालने के लिए एक कम इच्छित इन्द्रक प्रमाण से, उक्त क्षय और वृद्धि के प्रमाण को गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसे सीमन्त इन्द्रक के विस्तार में से घटा देने पर या अवधिस्थान इन्द्रक के विस्तार में मिलाने पर अभीष्ट इन्द्रक का विस्तार निकलता है ।।१०७।।

विशेषार्थ—प्रथम सीमन्त बिल और अन्तिम अवधिस्थान की अपेक्षा २५ वें तप्तनामक इन्द्रक का विस्तार निकालने के लिए क्षय-वृद्धि का प्रमाण ९१,६६६$\frac{२}{३}$×(२५—१)=२२,०००००; ४५,०००००—२२,०००००=२३,००००० योजन सीमन्त बिल की अपेक्षा। ९१,६६६$\frac{२}{३}$×(२५—१)=२२,०००००; २२,०००००+१,०००००=२३,००००० योजन अवधिस्थान की अपेक्षा तप्त नामक इन्द्रक का विस्तार प्राप्त होता है।

पहली पृथिवी के तेरह इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

रयणप्पह-अवणीए, सीमंतय-इंदयस्स वित्थारो ।
पंचत्तालं जोयण-लक्खाणि होदि णियमेणं ।।१०८।।

४५००००० ।

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी में सीमन्त इन्द्रक का विस्तार नियम से पैंतालीस लाख (४५,०००००) योजन प्रमाण है ।।१०८।।

चोदालं[3] लक्खाणि, तेसीदि-सयाणि होंति तेत्तीसं ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, णिर-इंदय-रुंद-परिमाणं ।।१०९।।

४४०८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—निरय (नरक) नामक द्वितीय इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण चवालीस लाख, तेरासी सौ तेंतीस योजन और एक योजन के तीन भागों में से एक-भाग है ।।१०९।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. सहीअ। [2] ब. ठाणं। [3] द. बादाललक्खाणि :

विशेषार्थ—सीमन्त बिल का विस्तार ४५,००००० — ६१,६६६$\frac{२}{३}$ = ४४,०८३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार निरय इन्द्रक का है।

तेदालं लक्खाणि, छस्सय-सोलस-सहस्स-छासट्ठी।
दु-ति-भागो [1]वित्थारो, [2]रोरुग-णामस्स [3]णादव्वो ॥११०॥

४३१६६६६$\frac{२}{३}$।

अर्थ—रौरुक (रौरव) नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार तैंतालीस लाख, सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण जानना चाहिए ॥११०॥

विशेषार्थ—४४,०८३३३$\frac{१}{३}$ — ६१,६६६$\frac{२}{३}$ = ४३,१६६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तृतीय रौरुक इन्द्रक का है।

पणुवीस-सहस्साहिय, जोयण-बादाल-लक्ख-परिमाणो।
भंतिदयस्स भणिदो, वित्थारो पढम-पुढवीए ॥१११॥

४२२५०००।

अर्थ—पहली पृथिवी में भ्रान्त नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बयालीस लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण कहा गया है ॥१११॥

विशेषार्थ—४३,१६६६६$\frac{२}{३}$ — ६१,६६६$\frac{२}{३}$ = ४२,२५००० योजन विस्तार भ्रान्त नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है।

एक्कत्तालं लक्खा, तेत्तीस-सहस्स[4]-ति-सय-तेत्तीसा।
एक्क-कला ति-विहत्ता, उब्भंतय-रुंद-परिमाणं ॥११२॥

४१३३३३३$\frac{१}{३}$।

अर्थ—उद्भ्रान्त नामक पाँचवें इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण इकतालीस लाख, तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और योजन के तीन-भागों में से एक-भाग है ॥११२॥

विशेषार्थ—४२,२५००० — ६१,६६६$\frac{२}{३}$ = ४१,३३३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार उद्भ्रान्त नामक पाँचवें इन्द्रक बिल का है।

---

[1] द. ब. क. वित्थारा। [2] द. लोरुगणामस्स। [3] द. णादव्वा। [4] द. तीससहइसगं।

चालीसं लक्खाणि, इगिदाल-सहस्स-छस्सय छासट्ठी ।
दोण्हि कला ति-विहत्ता, वासो [1]संभंत-णाममि ।।११३।।

४०४१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—सम्भ्रान्त नामक छठे इन्द्रक का विस्तार चालीस लाख, इकतालीस हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ।।११३।।

विशेषार्थ—४१,३३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=४०,४१६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार सम्भ्रान्त नामक छठे इन्द्रक बिल का है ।

उणदालं लक्खाणि, पण्णास-सहस्स-जोयणाणि पि ।
होदि असंभंतिदय-वित्थारो पढम - पुढवीए ।।११४।।

३९५०००० ।

अर्थ—पहली पृथिवी में असम्भ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक का विस्तार उनतालीस लाख पचास हजार योजन प्रमाण है ।।११४।।

विशेषार्थ—४०,४१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ =३९,५०००० योजन विस्तार असम्भ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक बिल का है ।

अट्ठत्तीसं लक्खा, अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसं ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, वासो विब्भंत-णाममि ।।११५।।

३८५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार अड़तीस लाख, अट्ठावन हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन-भागों में से एक भाग प्रमाण है ।।११५।।

विशेषार्थ—३९,५०००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३८,५८३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक बिल का है ।

सगतीसं लक्खाणि, [2]छासट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तिय-भजिदा, रुंदो तत्तिदये होदि ।।११६।।

३७६६६६६$\frac{२}{३}$ ।

---

[1] द. क. ज. ठ. समंत । [2] द. क. बासट्ठि ।

अर्थ—तप्त नामक नव इन्द्रक का विस्तार मैंतीस लाख, छ्यासठ हजार छह सौ छ्यासठ योजन और योजन के तीन-भागों में से दो भाग प्रमाण है ॥११६॥

विशेषार्थ—३८,५८३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३७,६६६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तप्त नामक नवें इन्द्रक बिल का है।

छत्तीसं लक्खाणि, जोयणया पंचहत्तरि-सहस्सा ।
तसिदिंदयस्स रुंदं, णादव्वं　　पढम-पुढवीए ॥११७॥

३६७५०००।

अर्थ—पहली पृथिवी में त्रसित नामक दसवें इन्द्रक का विस्तार छत्तीस लाख, पचहत्तर हजार योजन प्रमाण जानना चाहिए ॥११७॥

विशेषार्थ—३७,६६६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३६,७५००० योजन विस्तार त्रसित नामक दसवें इन्द्रक बिल का है।

पणतीसं लक्खाणि, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, रुंदं वक्कंत-णामम्मि ॥११८॥

३५८३३३३$\frac{१}{३}$।

अर्थ—वक्रान्त नामक ग्यारहवें इन्द्रक का विस्तार पैंतीस लाख, तेरासी हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन-भागों में से एक-भाग है ॥११८॥

विशेषार्थ—३६,७५००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३५,८३३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार वक्रान्त नामक ग्यारहवें इन्द्रक बिल का है।

चउतीसं लक्खाणि, [1]इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तिय-भजिदा, एस अवक्कंत-वित्थारो ॥११९॥

३४९१६६६$\frac{२}{३}$।

अर्थ—अवक्रान्त नामक बारहवें इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख, इक्यानबे हजार, छह सौ छ्यासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥११९॥

---

[1] द इगणउदि।

विशेषार्थ—३५,८३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३४,९१६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार अवक्रान्त नामक बारहवें इन्द्रक बिल का है।

चोत्तीसं लक्खाणि, जोयण-संखा य पढम-पुढवीए ।
[1]विक्कंत-णाम-इंदय-वित्थारो एत्थ णादव्वो ॥१२०॥

३४००००० ।

अर्थ—पहली पृथिवी में विक्रान्त नामक तेरहवें इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख योजन प्रमाण जानना चाहिए ॥१२०॥

विशेषार्थ—३४,९१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३४,००००० योजन विस्तार विक्रान्त नामक तेरहवें इन्द्रक बिल का है ।

दूसरी-पृथिवी के ग्यारह इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

तेत्तीसं लक्खाणि, अट्ठ-सहस्साणि ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला बिदियाए, [2]थण-इंदय-रुंद-परिमाणं ॥१२१॥

३३०८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में स्तन (स्तनक-गाथा ४१) नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तैंतीस लाख, आठ हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और योजन के तीन-भागों में से एक-भाग है ॥१२१॥

विशेषार्थ—३४,००००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३३,०८३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार दूसरी पृथिवी के स्तनक नामक प्रथम इन्द्रक बिल का है।

बत्तीसं लक्खाणि, छस्सय-सोलस-सहस्स-छासट्ठी ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, वासो तण-इंदए होदि ॥१२२॥

३२१६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—तन (तनक-गाथा ४१) नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार बत्तीस लाख, सोलह हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१२२॥

विशेषार्थ—३३,०८३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=३२,१६६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तनक नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है ।

---

[1] द. ब. विक्कतं-णामाइय-वित्थारो । [2] द. थलइंदय । ठ. ज. घण इंदय ।

इगितीसं लक्खाणिं, [1]पणुवीस-सहस्स-जोयणाणिं पि ।
मण - इंदयस्स रुंदं, णादव्वं बिदिय - पुढवीए ।।१२३।।

३१२५००० ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में मन (मनक-गाथा ४१) नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार इकतीस लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण जानना चाहिए ।।१२३।।

विशेषार्थ—३२,१६६६६$\frac{२}{३}$—६१,६६६$\frac{२}{३}$=३१,२५००० योजन विस्तार मन नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

तीसं विय लक्खाणिं, तेत्तीस-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला बिदियाए, वण-इंदय-रुंद-परिमाणं ।।१२४।।

३०३३३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में वन (वनक-गाथा ४१) नामक चतुर्थ इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तीस लाख, तैंतीस हजार तीन-सौ तैंतीस योजन और योजन का एक-तिहाई भाग है ।।१२४।।

विशेषार्थ—३१,२५००० --- ६१,६६६$\frac{२}{३}$=३०,३३३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार वन नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

एक्कोण-तीस-लक्खा, इगिदाल-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, घादिंदय-णाम-वित्थारो ।।१२५।।

२९४१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—घात नामक पंचम इन्द्रक का विस्तार योजन के तीन-भागों में से दो भाग सहित उनतीस लाख, इकतालीस हजार; छह सौ छयासठ योजन प्रमाण है ।।१२५।।

विशेषार्थ—३०,३३३३३$\frac{१}{३}$ — ६१,६६६$\frac{२}{३}$=२९,४१६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार घात नामक पंचम इंद्रक बिल का है ।

अट्ठावीसं लक्खा, [2]पण्णास-सहस्स-जोयणाणिं पि ।
संघात-णाम-इंदय-वित्थारो बिदिय - पुढवीए ।।१२६।।

२८५०००० ।

---

१. द. लक्खाणं पुणुवीसं । २. द. ब. क. पण्णारस ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में संघात नामक छठे इन्द्रक का विस्तार अट्ठाईस लाख, पचास हजार योजन प्रमाण है ॥१२६॥

विशेषार्थ—२९,४१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२८,५०००० योजन विस्तार संघात नामक छठे इन्द्रक बिल का है।

सत्तावीसं लक्खा, अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, [1]जिब्भिदय-रुंद-परिमाणं ॥१२७॥

२७५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ -जिह्व नामक सातवें इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण सत्ताईस लाख, अट्ठावन हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ॥१२७॥

विशेषार्थ—२८,५०००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२७,५८३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार जिह्व नामक सातवें इन्द्रक बिल का है।

छब्बीसं लक्खाणि, छासट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठि[2] ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, जिब्भग-णामस्स वित्थारो ॥१२८॥

२६६६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—जिह्वक नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार छब्बीस लाख, छयासठ हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१२८॥

विशेषार्थ—२७,५८३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२६,६६६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार जिह्वक नामक आठवें इन्द्रक बिल का है।

पणुवीसं लक्खाणि, जोयणया पंचहत्तरि-सहस्सा ।
लोलिदयस्स रुंदो, बिदियाए होदि पुढवीए ॥१२९॥

२५७५००० ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में नवें लोल इन्द्रक का विस्तार पच्चीस लाख, पचहत्तर हजार योजन प्रमाण है ॥१२९॥

---

[1] द. ब. दिर्मिदय° । [2] द. छ्वट्ठि ।

विशेषार्थ—२६,६६६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२५,७५००० योजन प्रमाण विस्तार लोल नामक नवें इन्द्रक बिल का है।

चउवीसं लक्खाणि, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, लोलग-णामस्स[1] वित्थारो ॥१३०॥

२४८३३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ - लोलक नामक दसवें इन्द्रक का विम्तार चौबीस लाख, तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक यांजन के तोसरे भाग प्रमाण है ॥१३०॥

विशेषार्थ—२५,७५००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = २४,८३,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार लोलक नामक दसवें इन्द्रक का है।

तेवीसं लक्खाणि, इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठि ।
दोण्णि कला तिय-भजिदा रुंदा थणलोलगे होंति ॥१३१॥[2]

२३९१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—स्तनलोलक (स्तनलोलुक-गाथा ४२) नामक ग्यारहवें इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख, इक्यानबै हजार छह सौ छ्यासठ योजन और योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१३१॥

विशेषार्थ—२४,८३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२३,९१६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार स्तनलोलुक नामक ग्यारहवें इन्द्रक बिल का है।

तीसरी पृथिवी के नव इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

तेवीसं लक्खाणि, जोयण-संखा य तदिय-पुढवीए ।
पढमिंदयम्मि वासो, णादव्वो तत्त - णामस्स ॥१३२॥

२३००००० ।

अर्थ - तीसरी पृथिवी में तप्त नामक प्रथम इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख योजन प्रमाण जानना चाहिए ॥१३२॥

विशेषार्थ—२३,९१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२३००००० योजन विस्तार तप्त नामक प्रथम इन्द्रक बिल का है।

---

१. द. लोलग-णामास । २. ब. प्रतौ नास्ति ।

बावीसं लक्खाणि, अट्ठ-सहस्साणि ति-सय-तेत्तीसं ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, पुढवीए तसिद-वित्थारो ।।१३३।।

२२०८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में त्रसित नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार बाईस लाख, आठ हजार तीन सौ तैंतीस योजन और योजन का तीसरा भाग है ।।१३३।।

विशेषार्थ—२३.००००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = २२,०८,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार त्रसित नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है ।

सोल-सहस्सं छस्सय-छासट्ठि एक्कवीस-लक्खाणि ।
दोण्णि कला तदियाए, पुढवीए तवण-वित्थारो ।।१३४।।

२११६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में तपन नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार इक्कीस लाख, सोलह हजार, छह सौ छयासठ योजन और योजन के तीन-भागों में से दो भाग प्रमाण है ।।१३४।।

विशेषार्थ—२२,०८,३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=२१,१६६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तपन नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

पणवीस-सहस्साधिय-विसदि-लक्खाणि जोयणाणि पि ।
तदियाए खोणीए, तावण-णामस्स वित्थारो ।।१३५।।

२०२५००० ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में तापन नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बीस लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण है ।।१३५।।

विशेषार्थ—२१,१६६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = २०,२५००० योजन विस्तार तापन नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

एक्कोणवीस-लक्खा, तेत्तीस-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तदियाए, वसुहाए णिदाघ[1] वित्थारो ।।१३६।।

१९३३३३३$\frac{१}{३}$ ।

---

[1] १. द. ब. क. ज. ठ. वण्णि होइ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में निदाघ नामक पंचम इन्द्रक का विस्तार उन्नीस लाख, तैंतीस हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और योजन के तृतीय-भाग प्रमाण है ।।१३६।।

विशेषार्थ—२०,२५,००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=१९,३३.३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार निदाघ नामक पंचम इन्द्रक बिल का है ।

अट्ठारस-लक्खाणि, इगिदाल-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तदियाए, भूए पज्जलिद-वित्थारो ।।१३७।।

१८४१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ तीसरी पृथिवी में प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक का विस्तार अठारह लाख, इकतालीस हजार, छह सौ छचासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ।।१३७।।

विशेषार्थ—१९,३३,३३३$\frac{१}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=१८,४१,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक बिल का है ।

सत्तरसं लक्खाणि, पण्णास-सहस्स-जोयणाणि च ।
उज्जलिद-इंदयस्स, य वासो वसुहाए तदियाए ।।१३८।।

१७५०००० ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में उज्ज्वलित नामक सातवें इन्द्रक का विस्तार सत्तरह लाख, पचास हजार योजन प्रमाण है ।।१३८।।

विशेषार्थ—१८,४१,६६६$\frac{२}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=१७,५०,००० योजन विस्तार उज्ज्वलित नामक सातवें इन्द्रक बिल का है ।

सोलस-जोयण-लक्खा, अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तदियाए, संजलिदिंदस्स[1] वित्थारो ।।१३९।।

१६५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—तीसरी-भूमि में संज्वलित नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार सोलह लाख अट्ठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन का तीसरा-भाग है ।।१३९।।

---

[1] द. ब. संपज्जलिदस्स ।

विशेषार्थ—१७,५०,०००— ९१,६६६$\frac{२}{३}$=१६,५८,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार संज्वलित नामक आठवें इन्द्रक बिल का है।

पण्णारस-लक्खाणि, छस्सट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला [1]तदियाए,संपज्जलिदस्स वित्थारो ।।१४०।।

१५६६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में संप्रज्वलित नामक नवें इन्द्रक का विस्तार पन्द्रह लाख, छ्यासठ हजार, छह सौ छ्यासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो भाग प्रमाण है ।।१४०।।

विशेषार्थ—१६,५८,३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=१५,६६,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार संप्रज्वलित नामक नवें इन्द्रक बिल का है।

चौथी पृथिवी के सात इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

चोद्दस-जोयण-लक्खा, पण-जुद-सत्तरि सहस्स-परिमाणा ।
तुरिमाए पुढवीए, आरिंदय - रुंद - परिमाणं ।।१४१।।

१४७५००० ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में आर नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण चौदह लाख, पचहत्तर हजार योजन है ।।१४१।।

विशेषार्थ—१५,६६,६६६$\frac{२}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=१४ ७५,००० योजन विस्तार आर नामक प्रथम इन्द्रक-बिल का है।

तेरस-जोयण-लक्खा, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तुरिमाए, महिए मारिंदए रुंदो ।।१४२।।

१३८३३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में मार नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार तेरह लाख, तेरासी हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ।।१४२।।

विशेषार्थ—१४,७५,०००—९१,६६६$\frac{२}{३}$=१३,८३,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार मार नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है।

---

[1] द. ब. तदिएसं। क. ज. ठ. तदिएसुं ।

बारस-जोयण-लक्खा, इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, [1]तुरिमा - तारिंदयस्स रुंदाउ ।।१४३।।

१२९१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में तार नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार बारह लाख, इक्यानबै हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ।।१४३।।

विशेषार्थ—१३,८३,३३३$\frac{१}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$ = १२,९१,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तार नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

बारस जोयण-लक्खा, तुरिमाए वसुंधराए वित्थारो ।
तच्चिदयस्स[2] रुंदो, णिद्दिट्ठं सव्वदरिसीहिं ।।१४४।।

१२०००० ।

अर्थ—सर्वज्ञदेव ने चौथी पृथिवी में तत्व (चर्चा) नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बारह लाख योजन प्रमाण बतलाया है ।।१४४।।

विशेषार्थ—१२,९१,६६६$\frac{२}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$ = १,२०००,०० योजन विस्तार तत्व नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

एक्कारस-लक्खाणि, अट्ठ-सहस्साणि ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तुरिमाए, महिए तमगस्स वित्थारो ।।१४५।।

११०,८३३३$\frac{१}{३}$ ।[3]

अर्थ—चौथी पृथिवी में तमक नामक पंचम इन्द्रक का विस्तार ग्यारह लाख, आठ हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ।।१४५।।

विशेषार्थ १२,००००० —९१,६६६$\frac{२}{३}$ = ११,०८,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार तमक नामक पंचम इन्द्रक बिल का है ।

दस-जोयण-लक्खाणि, छस्सय-सोलस-सहस्स-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तुरिमाए, खाडिंदय-वास-परिमाणा ।।१४६।।

१०१६६६६$\frac{२}{३}$ ।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. तुरिमाइंदस्स । [2] द. ब. क. ज. ठ. तब्भंतयस्स । [3] द. $\frac{१}{२}$ ।

अर्थ—चौथी भूमि में खाड़ नामक छठे इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण, दस लाख, सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ।।१४६।।

विशेषार्थ—११,०८,३३३$\frac{१}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$ १०,१६,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार खाड़ नामक छठे इन्द्रक बिल का है ।

पणवीस-सहस्साधिय-णव-जोयण-सय-सहस्स-परिमाणा ।
तुरिमाए खोणीए, खडखड - णामस्स वित्थारो ।।१४७।।

९२५००० ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में खलखल (खड़खड़) नामक सातवें इन्द्रक का विस्तार नौ लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण है ।।१४७।।

विशेषार्थ—१०,१६,६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$=९,२५,००० योजन प्रमाण विस्तार खलखल नामक सातवें इन्द्रक बिल का है ।

पाँचवीं पृथिवी के पाँच इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

लक्खाणि अट्ठ-जोयण-तेत्तीस-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला [1]तम-इंदय-वित्थारो पंचम - धराए ।।१४८।।

८३३३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में तम नामक प्रथम इन्द्रक का विस्तार आठ लाख, तैंतीस हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ।।१४८।।

विशेषार्थ—९,२५,०००—९१,६६६$\frac{२}{३}$=८,३३,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार पाँचवीं पृ० के तम नामक प्रथम इन्द्रक बिल का है ।

सग-जोयण-लक्खाणि, इगिदाल-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला भम-इंदय-रुंदो पंचम-धरित्तीए ।।१४९।।

७४१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में भ्रम नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार सात लाख, इकतालीस हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों में से दो भाग प्रमाण है ।।१४९।।

---

[1] द. तमयं इंदय ।

विशेषार्थ –८,३३,३३३$\frac{१}{२}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=७,४१,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार भ्रम नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है।

छज्जोयण-लक्खाणि, पण्णास-सहस्स-समहियाणि च ।
धूमप्पहावणीए, झस-इंदय-रुंद-परिमाणा ॥१५०॥

६५०००० ।

अर्थ – धूमप्रभा (पाँचवीं) पृथिवी में झस नामक तृतीय इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण छह लाख, पचास हजार योजन है ॥१५०॥

विशेषार्थ—७,४१,६६६$\frac{२}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=६,५०,००० योजन विस्तार झस नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है।

लक्खाणि पंच जोयण-अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
[१]एक्क-कला अंधिदय-वित्थारो पंचम-खिदीए ॥१५१॥

५५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में अन्ध नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार पाँच लाख, अट्ठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ॥१५१॥

विशेषार्थ—६,५०,०००—९१,६६६$\frac{२}{३}$=५,५८,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार अन्ध नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है।

चउ-जोयण-लक्खाणि, छासट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तिमिसिंदय-रुंदं पंचम-धरित्तीए ॥१५२॥

४६६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में तिमिस्र नामक पाँचवें इन्द्रक का विस्तार चार लाख छ्यासठ हजार छह सौ छ्यासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१५२॥

विशेषार्थ—५,५८,३३३$\frac{१}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=४,६६,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तिमिस्र नामक पाँचवें इन्द्रक बिल का है।

---

[१] द. ब. ठ. ज. एक्ककलायंदिदय। क. यंदिदिय।

छठी पृथिवी के तीन इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

तिय-जोयण-लक्खाणि, सहस्सया पंचहत्तरि-पमाणा ।
छट्ठीए [1]वसुमइए, हिम-इंदय-रुंद-परिसंखा ॥१५३॥

३७५००० ।

अर्थ—छठी पृथिवी में हिम नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तीन लाख पचहत्तर हज़ार योज़न है ॥१५३॥

विशेषार्थ—४,६६,६६६$\frac{२}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$= ३,७५,००० योजन विस्तार छठी पृ० के प्रथम हिम इन्द्रक बिल का है ।

दो जोयण-लक्खाणि, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला छट्ठीए, पुढवीए होइ [2]वद्दले रुंदो ॥१५४॥

२८३३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—छठी पृथिवी में वर्दल नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार दो लाख, तेरासी हज़ार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ॥१५४॥

विशेषार्थ—३,७५,०००—९१,६६६$\frac{२}{३}$=२,८३,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार छठी पृ० के दूसरे वर्दल इन्द्रक बिल का है ।

एक्कं जोयण-लक्खं, इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला वित्थारो, लल्लंके छट्ठ-वसुहाए ॥१५५॥

१९१६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—छठी पृथिवी में लल्लंक नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार एक लाख, इक्यानवै हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१५५॥

विशेषार्थ—२,८३,३३३$\frac{१}{३}$—९१.६६६$\frac{२}{३}$=१,९१,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार लल्लंक नामक तीसरे इन्द्रक बिल का है ।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. वसुमाइं । [2] द. वद्दलेसु ।

सातवीं पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक का विस्तार

वासो जोयण-लक्खो, [1]अवहि-ट्ठाणस्स सत्तम-खिदीए ।
जिणवर-वयण - विणिग्गद - तिलोयपण्णत्ति - णामाए ।।१५६।।

१००००० ।

अर्थ—सातवीं पृथिवी में अवधिस्थान नामक इन्द्रक का विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है, इस प्रकार जिनेन्द्रदेव के वचनों से उपदिष्ट त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में इन्द्रक बिलों का विस्तार कहा गया है ।।१५६।।

विशेषार्थ—१,९१,६६६$\frac{2}{3}$—९१,६६६$\frac{2}{3}$=१,००००० योजन विस्तार सप्तम नरक में अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिल का है ।

[चार्ट पृष्ठ १९४ पर देखिये]

---

[1] द. अवदिठाणस्स ।

पहली पृथिवी		दूसरी पृथिवी		तीसरी पृथिवी	
इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार
सीमंत	४५,००००० यो०	स्तनक	३३,०८३३३$\frac{1}{3}$ यो०	तप्त	२३,००००० यो०
निरय	४४,०८३३३$\frac{1}{3}$,	तनक	३२,१६६६६$\frac{2}{3}$,,	त्रसित	२२,०८३३३$\frac{1}{3}$,,
रौरुक	४३,१६६६६$\frac{2}{3}$,,	मनक	३१,२५००० ,,	तपन	२१,१६६६६$\frac{2}{3}$,,
भ्रान्त	४२,२५००० ,,	वनक	३०,३३३३३$\frac{1}{3}$,	तापन	२०,२५००० ,,
उद्भ्रान्त	४१,३३३३३$\frac{1}{3}$,,	घात	२९,४१६६६$\frac{2}{3}$,,	निदाघ	१९,३३३३३$\frac{1}{3}$,,
संभ्रांत	४०,४१६६६$\frac{2}{3}$,,	संघात	२८,५०००० ,,	प्रज्वलित	१८,४१६६६$\frac{2}{3}$
असंभ्रांत	३९,५०००० ,,	जिह्व	२७,५८३३३$\frac{1}{3}$,,	उज्ज्वलित	१७,५०००० यो०
विभ्रांत	३८,५८३३३$\frac{1}{3}$,,	जिह्वक	२६,६६६६६$\frac{2}{3}$,,	संज्वलित	१६,५८३३३$\frac{1}{3}$,,
तप्त	३७,६६६६६$\frac{2}{3}$,,	लोल	२५,७५००० यो०	संप्रज्वलित	१५,६६६६६$\frac{2}{3}$,,
त्रसित	३६,७५००० यो०	लोलक	२४,८३३३३$\frac{1}{3}$,,		
वक्रांत	३५,८३३३३$\frac{1}{3}$,,	स्तन-लोलुक	२३,९१६६६$\frac{2}{3}$,,		
अवक्रांत	३४,९१६६६$\frac{2}{3}$,,				
विक्रांत	३४,००००० यो०				

चौथी पृथिवी		पाँचवीं पृथिवी		छठी पृथिवी		सातवी पृथिवी	
इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार
आर	१४,७५००० यो.	तम	८ ३३३३३$\frac{1}{3}$ यो.	हिम	३,७५००० यो.	अवधि-स्थान	१.००००० यो
मार	१३,८३३३३$\frac{1}{3}$,,	भ्रम	७,४१६६६$\frac{2}{3}$,,	वर्दल	२,८३३३३$\frac{1}{3}$,,		
तार	१२,९१६६६$\frac{2}{3}$,,	झस	६,५०००० ,,	लल्लक	१,९१६६६$\frac{2}{3}$,,		
तत्व	१२,००००० ,,	अन्ध	५,५८३३३$\frac{1}{3}$,,				
तमक	११,०८३३३$\frac{1}{3}$,,	तिमिस्र	४ ६६६६६$\frac{2}{3}$,,				
खाड	१०,१६६६६$\frac{2}{3}$,						
खलखल	९,२५००० यो०						

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक-बिलों के बाहल्य का प्रमाण

एक्काहिय-खिदि-संखं, तिय-चउ-सत्तेहि[1] गुणिय छब्भजिदे ।
कोसा इंदय-सेढी-पइण्णयाणं पि बहलत्तं ॥१५७॥

अर्थ--एक अधिक पृथिवी संख्या को तीन, चार और सात से गुणा करके छह का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने कोस प्रमाण क्रमशः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य होता है ॥१५७॥

विशेषार्थ—नारक पृथिवियों की संख्या में एक-एक धन करके तीन जगह स्थापन कर क्रमशः तीन, चार और सात का गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसमें छह का भाग देने से इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य (ऊँचाई) प्राप्त होता है । यथा—

[चार्ट पृष्ठ १९६ पर देखिये]

---

[1] ब. क. सत्तेवि ।

इन्द्रक बिलों का बाहल्य	श्रेणीबद्धों का बाहल्य	प्रकीर्णकों का बाहल्य
पहली पृ०–१ + १ = २, २ × ३ = ६, ६ ÷ ६ = १ कोस	२ × ४ = ८, ८ ÷ ६ = १$\frac{१}{३}$ कोम	२ × ७ = १४, १४ ÷ ६ = २$\frac{१}{३}$ कोस
दूसरी पृ०–२ + १ = ३, ३ × ३ = ९, ९ ÷ ६ = १$\frac{१}{२}$,,	३ × ४ = १२, १२ ÷ ६ = २ ,,	३ × ७ = २१, २१ ÷ ६ = ३$\frac{१}{३}$ कोस
तीसरी पृ०–३ + १ = ४, ४ × ३ = १२, १२ ÷ ६ = २ ,,	४ × ४ = १६, १६ ÷ ६ = २$\frac{२}{३}$,,	४ × ७ = २८, २८ ÷ ६ = ४$\frac{२}{३}$ कोस
चौथी पृ०–४ + १ = ५, ५ × ३ = १५, १५ ÷ ६ = २$\frac{१}{२}$,,	५ × ४ = २०, २० ÷ ६ = ३$\frac{१}{३}$,,	५ × ७ = ३५, ३५ ÷ ६ = ५$\frac{५}{६}$ कोस
पाँचवीं पृ०–५ + १ = ६, ६ × ३ = १८. १८ ÷ ६ = ३ ,,	६ × ४ = २४, २४ ÷ ६ = ४ ,,	६ × ७ = ४२, ४२ ÷ ६ = ७ कोस
छठी पृ०–६ + १ = ७, ७ × ३ = २१, २१ ÷ ६ = ३$\frac{१}{२}$,,	७ × ४ = २८, २८ ÷ ६ = ४$\frac{२}{३}$,,	७ × ७ = ४९, ४९ ÷ ६ = ८$\frac{१}{६}$ कोस
सातवीं पृ०–७ + १ = ८. ८ × ३ = २४, २४ ÷ ६ = ४ ,,	८ × ४ = ३२, ३२ ÷ ६ = ५$\frac{१}{३}$,,	प्रकीर्णकों का अभाव है ।

अहवा—

आदी छ अट्ठ चोद्दस, तद्दल-वड्ढिय जाव सत्त-खिदी ।
कोसच्छ-हिदे इंदय-सेढी-पइण्णयाण बहलत्तं ॥१५८॥

इ० १ । $\frac{३}{२}$ । २ । $\frac{५}{२}$ । ३ । $\frac{७}{२}$ । ४ । सेढी $\frac{४}{३}$ । २ । $\frac{८}{३}$ । $\frac{१०}{३}$ । ४ । $\frac{१४}{३}$ । $\frac{१६}{३}$ ।
प्र० $\frac{७}{३}$ । $\frac{७}{२}$ । $\frac{१४}{३}$ । $\frac{३५}{६}$ । ७ । $\frac{४९}{६}$ ।

अर्थ—अथवा—यहाँ आदि का प्रमाण क्रमशः छह, आठ और चौदह है । इसमें दूसरी पृथिवी से लेकर सातवीं पृथिवी पर्यन्त उत्तरोत्तर इसी आदि के अर्ध भाग को जोड़कर प्राप्त संख्या में छह कोस का भाग देने पर क्रमशः विवक्षित पृथिवी के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य निकल आता है ॥१५८॥

विशेषार्थ—पहली पृथिवी के आदि (मुख) इन्द्रक बिलों का बाहल्य प्राप्त करने के लिए ६, श्रेणीबद्ध बिलों के लिए ८ और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य प्राप्त करने हेतु १४ है । इसमें दूसरी पृथिवी से सातवीं पृथिवी पर्यन्त उत्तरोत्तर इसी आदि (मुख) के अर्ध-भाग को जोड़कर जो लब्ध प्राप्त हो उसमें ६ का भाग देने पर क्रमशः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य प्राप्त हो जाता है । यथा—

पृथिवियाँ	इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों के मुख या आदि के प्रमाण +	अर्धमुख के प्रमाण =	योगफल ÷	भाग-हार =	इन्द्रक बिलों का बाहल्य	श्रेणीबद्ध बिलों का बाहल्य	प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य
१	६, ८, १४ +	०, ०, ० =	६, ८, १४ ÷	६ =	१ कोस	$१\frac{१}{३}$ कोस	$२\frac{१}{३}$ कोस
२	६, ८, १४ +	३, ४, ७ =	९, १२, २१ ÷	६ =	$१\frac{१}{२}$,,	२ ,,	$३\frac{१}{२}$,,
३	९. १२, २१ +	३, ४, ७ =	१२, १६. २८ ÷	६ =	२ ,,	$२\frac{२}{३}$,,	$४\frac{२}{३}$,,
४	१२, १६, २८ +	३. ४, ७ =	१५, २०, ३५ ÷	६ =	$२\frac{१}{२}$,,	$३\frac{१}{३}$,,	$५\frac{५}{६}$,,
५	१५, २०, ३५ +	३, ४, ७ =	१८, २४, ४२ ÷	६ =	३ ,,	४ ,,	७ ,,
६	१८, २४, ४२ +	३, ४, ७ =	२१. २८, ४९ ÷	६ =	$३\frac{१}{२}$,,	$४\frac{२}{३}$,,	$८\frac{१}{६}$,,
७	२१, २८, ० +	३, ४, ० =	२४, ३२. ० ÷	६ =	४ ,,	$५\frac{१}{३}$,,	० ,,

रत्नप्रभादि छह पृथिवियों में इन्द्रकादि बिलों का स्वस्थान ऊर्ध्वग अन्तराल

रयणादि-छट्ठमंतं, णिय-णिय-पुढवीण बहल-मज्झादो ।
जोयण-सहस्स-जुगलं, अवणिय सेसं करेज्ज कोसाणि ।।१५९।।

अर्थ --रत्नप्रभा पृथिवी को आदि लेकर छठी पृथिवी-पर्यन्त अपनी-अपनी पृथिवी के बाहल्य में से दो हजार योजन कम करके शेष योजनों के कोस बनाना चाहिए ।।१५९।।

णिय-णिय-इंदय-सेढीबद्धाण पइण्णयाण बहलाइं ।
णिय-णिय-पदर-पवण्णिद-संखा-गुणिदाण लद्धरासी य ।।१६०।।

पुव्विल्लय-रासीणं, मज्झे तं सोहिदूण पत्तेक्कं ।
एक्कोण-णिय- [1]णियिंदय-चउ-गुणिदेणं च भजिदव्वं ।।१६१।।

लद्धो जोयण-संखा, णिय-णिय [2]णयंतरालमुड्ढेण ।
जाणेज्ज परट्ठाणे, किंचूणय-रज्जु-परिमाणं ।।१६२।।

---

[1] द. ज. ठ. णियणिइंदय, ब. क. णिय-णिय-इंदय । [2] द. ज. ठ. तराणमुड्ढेण, ब. क. तराणमुट्ठेण ।

अर्थ—अपने-अपने पटलों की पूर्व-वर्णित सख्या से गुणित अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के बाहल्य को पूर्वोक्त राशि में से (दो हजार योजन कम विवक्षित पृथिवी के बाहल्य के किये गये कोसों में से) कम करके प्रत्येक में एक कम अपने-अपने इन्द्रक प्रमाण से गुणित चार का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने योजन प्रमाण अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रकादि बिलों में ऊर्ध्वग अन्तराल तथा परस्थान (एक पृथिवी के अन्तिम और अगली पृथिवी के आदिभूत इन्द्रकादि बिलों) में कुछ कम एक राजू प्रमाण अन्तराल समझना चाहिए ॥१६०-१६२॥

विशेषार्थ--रत्नप्रभादि छहों पृथिवियों की मोटाई पूर्व में कही गयी है, इन पृथिवियों में ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन में बिल नहीं हैं, अतः पृथिवियों की मोटाई में से २००० योजन घटाने पर जो शेष रहे, उसके कोस बनाने हेतु चार से गुणित कर लब्ध में से अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का बाहल्य घटाकर एक कम इन्द्रक बिलों से गुणित चार का भाग देने पर अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल प्राप्त होता है। यथा—

पहली पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल--

$$=\frac{(८०,००० - २,०००) \times ४ - (१ \times १३)}{(१३ - १) \times ४} = ६,४९९\tfrac{३५}{४८} \text{ योजन ।}$$

दूसरी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$=\frac{(३२,००० - २,०००) \times ४ - (\tfrac{३}{२} \times ११)}{(११ - १) \times ४} = २,९९९\tfrac{४७}{८०} \text{ योजन ।}$$

तीसरी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$=\frac{(२८,००० - २०००) \times ४ - (२ \times ९)}{(९ - १) \times ४} = ३,२४९\tfrac{७}{१६} \text{ योजन ।}$$

चौथी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$=\frac{(२४,००० - २०००) \times ४ - (\tfrac{५}{२} \times ७)}{(७ - १) \times ४} = ३,६६५\tfrac{१५}{१६} \text{ योजन ।}$$

पाँचवीं पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$=\frac{(२०,००० - २०००) \times ४ - (३ \times ५)}{(५ - १) \times ४} = ४,४९९\tfrac{१}{१६} \text{ योजन ।}$$

छठी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$=\frac{(१६,०००—२०००)\times ४—(\frac{७}{२}\times ३)}{(३—१)\times ४}=६,९९८\frac{११}{१६} \text{ योजन।}$$

सातवीं पृथिवी में इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों के अधस्तन और उपरिम पृथिवियों का बाहल्य

सत्तम-खिदीअ बहले, इंदय-सेढीण बहल-परिमाणं ।
सोधिय-दलिदे हेट्ठिम-उवरिम-भागा हवंति एदाणं ।।१६३।।

अर्थ—सातवीं पृथिवी के बाहल्य में से इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के बाहल्य प्रमाण को घटाकर अवशिष्ट राशि को आधा करने पर क्रमशः इन इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के ऊपर-नीचे की पृथिवियों की मोटाई के प्रमाण निकलते हैं ।।१६३।।

विशेषार्थ—$\frac{८०००—१}{२}=३,९९९\frac{१}{२}$ योजन सातवीं पृथिवी के इन्द्रक बिल के नीचे और ऊपर की पृथिवी का बाहल्य ।

$\frac{८०००—\frac{४}{३}}{२}=३,९९९\frac{१}{३}$ योजन सातवीं पृथिवी के श्रेणीबद्ध बिलों के ऊपर-नीचे की पृथिवी का बाहल्य ।

पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम इन्द्रक का परस्थान अन्तराल

पढम-बिदीयवणीणं[1], रुंदं सोहेज्ज एक्क-रज्जूए ।
जोयण-ति-सहस्स-जुदे, होदि परट्ठाण-विच्चालं ।।१६४।।

अर्थ—पहली और दूसरी पृथिवी के बाहल्य प्रमाण को एक राजू में से कम करके अवशिष्ट राशि में तीन हजार योजन घटाने पर पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम बिल के मध्य में परस्थान अन्तराल का प्रमाण निकलता है ।।१६४।।

विशेषार्थ—पहली पृथिवी की मोटाई १,८०००० योजन और दूसरी पृथिवी की मोटाई ३२,००० योजन प्रमाण है। इस मोटाई से रहित दोनों पृथिवियों के मध्य में एक राजू प्रमाण अन्तराल है। यद्यपि एक हजार योजन प्रमाण चित्रा पृथिवी की मोटाई पहली पृथिवी की मोटाई में सम्मिलित है, परन्तु उसकी गणना ऊर्ध्व लोक की मोटाई में की गयी है, अतएव इसमें से इन एक हजार योजनों को कम कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त पहली पृथिवी के नीचे और दूसरी पृथिवी

---

[1] १. द. ब. पढम–खिदीयवणीए ।

के ऊपर एक-एक हजार योजन प्रमाण क्षेत्र में नारकियों के बिल न होने से इन दो हजार योजनों को भी कम कर देने पर (१,८०, ०००+३२,०००−३०००)=शेष २,०९००० योजनों से रहित एक राजू प्रमाण पहली पृथिवी के अन्तिम (विक्रान्त) और दूसरी पृथिवी के प्रथम (स्तनक) इन्द्रक के बीच परस्थान अन्तराल रहता है ।

दूसरी पृथिवी से छठी पृथिवी तक परस्थान अन्तराल

दु-सहस्स-जोयणाधिय-रज्जू विदियादि-पुढवि-रुंदूणं ।
छट्ठो त्ति [1]परट्ठाणे, विच्चाल-पमाणमुद्दिट्ठं ॥१६५॥

अर्थ—दो हजार योजन अधिक एक राजू में से दूसरी आदि पृथिवियों के बाहल्य को घटा देने पर जो शेष रहे उतना छठी पृथिवी पर्यन्त (इन्द्रक बिलों के) परस्थान में अन्तराल का प्रमाण कहा गया है ॥१६५॥

विशेषार्थ—गाथा में—एक राजू में दो हजार योजन जोड़कर पश्चात् पृथिवियों का बाहल्य घटाने का निर्देश है किन्तु १७० आदि गाथाओं में बाहल्य में से २००० योजन घटाकर पश्चात् राजू में से कम किया गया है । यथा—

१ राजू—२८,००० योजन ।

छठी एवं सातवीं पृथिवी के इन्द्रकों का परस्थान अन्तराल

सय-कदि-रूऊणद्धं, रज्जु-जुदं चरिम-भूमि-रुंदूण ।
[2]मघविस्स चरिम-इंदय-अवहिट्ठाणस्स विच्चालं ॥१६६॥

अर्थ—सौ के वर्ग में से एक कम करके शेष को आधा कर और उसे एक राजू में जोड़कर लब्ध में से अन्तिम भूमि के बाहल्य को घटा देने पर मघवी पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक और (माघवी-पृथिवी के) अवधिस्थान इन्द्रक के बीच परस्थान अन्तराल का प्रमाण निकलता है ॥१६६॥

विशेषार्थ—सौ के वर्ग में से एक घटाकर आधा करने पर—(१००^{२}—१=९९९९)÷२= ४९९९$\frac{१}{२}$ योजन प्राप्त होते हैं । इन्हें एक राजू में जोड़कर लब्ध (१ राजू+४९९९$\frac{१}{२}$ यो०) में से अन्तिम भूमि के बाहल्य (८००० यो०) को घटा देने पर (१ राजू+ ४९९९$\frac{१}{२}$ यो०)— ८००० यो० = १ राजू—(८००० यो० — ४९९९$\frac{१}{२}$ यो०)=१ राजू—३०००$\frac{१}{२}$ योजन छठी पृथिवी के अन्तिम लल्लंक इन्द्रक और सातवीं पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक के परस्थान अन्तराल का प्रमाण प्राप्त होता है ।

---

[1] ब. परिट्ठाणे । [2] द. ज. ठ. मघवस्स ।

पहली पृथिवी के इन्द्रक-बिलों का स्वस्थान अन्तराल

णवणवदि-जुद-चउस्सय-छ-सहस्सा जोयणादि बे कोसा ।
एक्करस-कला-बारस-हिदा य घम्मिदयाण विच्चालं ।।१६७।।

जो ६४९९ । को २ । $\frac{११}{१२}$ ।

अर्थ--घर्मा पृथिवी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानवै योजन, दो कोस और एक कोस के बारह भागों में से ग्यारह-भाग प्रमाण है ।।१६७।।

विशेषार्थ--गाथा १५९-१६२ के नियमानुसार पहली पृथिवी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल $\frac{(८०,०००-२०००)\times४-(१\times१३)}{(१३-१)\times४}=६,४९९\frac{३५}{४८}$ योजन अथवा ६,४९९ योजन २$\frac{११}{१२}$ कोस है।

पहली और दूसरी पृथिवियों के इन्द्रक-बिलों का परस्थान अन्तराल

रयणप्पह-चरमिंदय-सक्कर-पुढविंदयाण विच्चालं ।
दो-लक्ख-णव-सहस्सा, जोयण-हीणेक्क-रज्जू य ।।१६८।।

७ । रिण । जो २०९००० ।

अर्थ--रत्नप्रभा पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक और शर्करा प्रभा के आदि (प्रथम) इन्द्रक बिलों का अन्तराल दो लाख नौ हजार (२,०९,०००) योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू--२,०९,००० योजन प्रमाण है ।।१६८।।

दूसरी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

एक्क-विहीणा जोयण-ति-सहस्सा धणु-सहस्स-चत्तारि ।
सत्त-सया वंसाए, एक्कारस-इंदयाण विच्चालं ।।१६९।।

जो २९९९ । दंड ४७०० ।

अर्थ--वंशा पृथिवी के ग्यारह इन्द्रक बिलों का अन्तराल एक कम तीन हजार योजन और चार हजार सात सौ धनुष प्रमाण है।।१६९।।

विशेषार्थ— दूसरी पृ० के इन्द्रक बिलों का अन्तराल—

$\frac{(३२,००० — २०००) \times ४ — (\frac{३}{२} \times ११)}{(११ - १) \times ४} = २,९९९\frac{४७}{८०}$ योजन अथवा २,९९९ यो० और ४७०० धनुष है।

दूसरी और तीसरी पृथिवी के इन्द्रक-बिलों का परस्थान अन्तराल

[1]एक्को हवेदि रज्जू, छब्बीस-सहस्स-जोयण-विहीणा।
[2]थललोलुगस्स तत्तिदयस्स, दोण्हं पि विच्चालं ॥१७०॥

७ । रिण । यो २६००० ।

अर्थ—वंशा पृथिवी के अन्तिम स्तनलोलुक इन्द्रक से मेघा पृथिवी के प्रथम तप्त का अर्थात् दोनों इन्द्रक बिलों का अन्तराल छब्बीस हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—२६,००० योजन प्रमाण है ॥१७०॥

तीसरी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

तिण्णि सहस्सा दु-सया, जोयण-उणवण्ण तदिय-पुढवीए।
पणतीस-सय-धणूणि, पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ॥१७१॥

यो ३२४९ । दंड ३५०० ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी के प्रत्येक इन्द्रक बिल का अन्तराल तीन हजार दो सौ उनचास योजन और तीन हजार पांच सौ धनुष प्रमाण है ॥१७१॥

विशेषार्थ— $\frac{(२८,००० — २०००) \times ४ — (२ \times ९)}{(९ — १) \times ४} = ३,२४९\frac{७}{१६}$ योजन। अथवा ३,२४९ योजन ३५०० धनुष प्रमाण अन्तराल है।

तीसरी और चौथी पृथिवी के इन्द्रकों का परस्थान अन्तराल

एक्को हवेदि रज्जू, बावीस-सहस्स-जोयण-विहीणा।
दोण्हं विच्चालमिणं - संपज्जलिदार - णामाणं ॥१७२॥

७ । रिण । जो २२००० ।

---

[1] ब. क. ज. ठ. एक्का। [2] द. ब. क. ज. ठ. घणलोलुगस्स।

अर्थ तीसरी पृथिवी का अन्तिम इन्द्रक सप्रज्वलित और चौथी पृथिवी का प्रथम इन्द्रक आर, इन दोनों इन्द्रक विलों का अन्तराल बाईस हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—२२,००० योजन प्रमाण है ॥१७२॥

चौथी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

तिण्णि सहस्सा [1]छस्सय-पणसट्ठी-जोयणाणि[2] पंकाए ।
पण्णत्तरि-सय-दंडा, पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ॥१७३॥

जो ३६६५ । दंड ७५०० ।

अर्थ—पंकप्रभा पृथिवी के इन्द्रक विलों का अन्तराल तीन हजार छह सौ पैंसठ योजन और सात हजार पाँच सौ दण्ड प्रमाण है ॥१७३॥

विशेषार्थ—$\frac{(२४,०००-२०००)\times ४-(\frac{५}{२}\times ७)}{(७-१)\times ४}=३,६६५\frac{१५}{१६}$ योजन अथवा ३६६५ योजन ७५०० धनुष प्रमाण अन्तराल है।

चौथी और पाँचवीं पृथिवी के इन्द्रकों का परस्थान अन्तराल

एक्को हवेदि रज्जू, अट्ठरस-सहस्स-जोयण-विहीणा ।
खडखड-तमिंदयाणं, दोण्हं विच्चाल - परिमाणं ॥१७४॥

७ । रिण । जो १८००० ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक खड़खड़ और पाँचवीं पृथिवी के प्रथम इन्द्रक तम, इन दोनों के अन्तराल का प्रमाण अठारह हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—१८,००० योजन है ॥१७४॥

पाँचवीं पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

चत्तारि सहस्साणि, चउ-सय णवणउदि जोयणाणि च ।
पंच-सयाणि दंडा, धूमपहा-इंदयाण विच्चालं ॥१७५॥

जो ४४९९ । दंड ५०० ।

---

१. द. ब. क. ज. ठ छस्सट्ठी २. द. ब. जोयण विहीणा ।

अर्थ—धूमप्रभा के इन्द्रक बिलों का अन्तराल चार हजार चार सौ निन्यानवै योजन और पाँच सौ दण्ड प्रमाण हैं ॥१७५॥

विशेषार्थ—$\frac{(\text{२०,०००}—\text{२०००})\times \text{४}—(\text{३}\times \text{५})}{(\text{५}—\text{१})\times \text{४}}=\text{४,४९९}\frac{\text{१}}{\text{१६}}$ योजन अथवा ४,४९९ योजन ५०० धनुष अन्तराल है।

पाँचवीं और छठी पृथिवी के इन्द्रकों का परस्थान अन्तराल

चोद्दस-सहस्स-जोयण-परिहीणो होदि केवलो रज्जू ।
तिमिसिंदयस्स हिम-इंदयस्स दोण्हं पि विच्चालं ॥१७६॥

७ । रिण । जो १४००० ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक तिमिस्र और छठी पृथिवी के प्रथम इन्द्रक हिम, इन दोनों बिलों का अन्तराल चौदह हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—१४,००० योजन प्रमाण है ॥१७६॥

छठी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

अट्ठाणउदी णव-सय-छ-सहस्सा [1]जोयणाणि मघवीए ।
पणवण्ण-सयाणि धणू, पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ॥१७७॥

जो ६९९८ । दंड ५५०० ।

अर्थ—मघवी पृथिवी में प्रत्येक इन्द्रक का अन्तराल छह हजार नौ सौ अट्ठानवै योजन और पाँच हजार पाँच सौ धनुष है ॥१७७॥

विशेषार्थ—$\frac{(\text{१६,०००}—\text{२०००})\times \text{४}—(\frac{\text{७}}{\text{२}}\times \text{३})}{(\text{३}—\text{१})\times \text{४}}=\text{६,९९८}\frac{\text{११}}{\text{१६}}$ योजन अथवा ६,९९८ योजन ५,५०० धनुष अन्तराल है।

छठी और सातवीं पृथिवी के इन्द्रकों का पर-स्थान अन्तराल

[2]छट्ठम-खिदि-चरिमिंदय-अवहिट्ठाणाण होइ विच्चालं ।
एक्को रज्जू ऊणो, जोयण-ति-सहस्स-कोस-जुगलेहिं ॥१७८॥

७ । रिण । जो ३००० । को २ ।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. जोयणादि २. द. छट्ठुम ।

अर्थ—छठी पृथिवी के अंतिम इन्द्रक लल्लंक और सातवीं पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक का अन्तराल तीन हजार योजन और दो कोस कम एक राजू अर्थात् १ राजू — ३००० योजन २ कोस प्रमाण है ।।१७८।।

अवधिस्थान इन्द्रक की ऊर्ध्व एवं अधस्तन भूमि के बाहल्य का प्रमाण

तिण्णि सहस्सा णव-सय णवणउदी[1] जोयणाणि बे कोसा ।
उड्ढाधर - भूमीणं, अवहिट्ठाणस्स परिमाणं ।।१७९।।

३९९९ । को २ ।

।। इंदय-विच्चालं समत्तं ।।

अर्थ—अवधिस्थान इन्द्रक की ऊर्ध्व और अधस्तन भूमि के बाहल्य का प्रमाण तीन हजार नौ सौ निन्यानबे योजन और दो कोस है ।।१७९।।

विशेषार्थ—गाथा १६३ के अनुसार—

$\frac{८००० - १}{२}$ = ३,९९९$\frac{१}{२}$ योजन बाहल्य सातवीं पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक बिल के नीचे की और ऊपर की पृथिवी का है ।

।। इन्द्रक बिलों के अन्तराल का वर्णन समाप्त हुआ ।।

घर्मादिक पृथिवियों में श्रेणीबद्ध बिलों के स्वस्थान अन्तराल का प्रमाण

प्रथम नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

णवणउदि-जुद-चउस्सय-छ-सहस्सा जोयणाणि बे कोसा ।
पंच-कला णव - भजिदा, घम्माए सेढिबद्ध-विच्चालं ।।१८०।।

६४९९ । को २ । $\frac{५}{९}$ ।

अर्थ—घर्मा पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानबे योजन दो कोस और एक कोस के नौ-भागों में से पाँच भाग प्रमाण है ।।१८०।।

नोट—१८० से १८६ तक की गाथाओं द्वारा सातों पृथिवियों के श्रेणीबद्ध बिलों का पृथक्-पृथक् अन्तराल गाथा १५९-१६२ के नियमानुसार प्राप्त होगा । यथा—

---

[1] द. णउणउदी ।

विशेषार्थ –(८०,०००—२०००—$\frac{५२}{१२}$÷($\frac{१३-१}{१}$)=(७८,०००—$\frac{५२}{१२}$)×$\frac{१}{१२}$=$\frac{२,३३,९८७}{३६}$ =६,४९९$\frac{२३}{३६}$ योजन अथवा ६,४९९ योजन २$\frac{५}{९}$ कोस पहली पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल है।

दूसरे नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

णवणउदि-णव-सयाणि दु-सहस्सा जोयणाणि वंसाए ।
ति-सहस्स-छ-सय-दंडा, [1]उड्ढेणं सेढिबद्ध-विच्चालं ॥१८१॥

जो २९९९ । दंड ३६०० ।

अर्थ—वंशा पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल दो हजार नौ सौ निन्यानवै योजन और तीन हजार छह सौ धनुष प्रमाण है ॥१८१॥

विशेषार्थ—(३२,०००—२०००)—($\frac{२}{३}$×$\frac{११}{१}$×$\frac{३}{४}$)÷$\frac{११-१}{१}$=($\frac{३०,०००}{१}$—$\frac{११}{२}$)×$\frac{१}{१०}$=२,९९९$\frac{९}{२०}$ योजन अथवा २,९९९ योजन ३,६०० दण्ड अन्तराल है।

तीसरे नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

उणवण्णा दु-सयाणि, ति-सहस्सा जोयणाणि मेघाए ।
दोण्णि सहस्साणि, धणू सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८२॥

जो ३२४९ । दंड २००० ।

अर्थ—मेघा पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल तीन हजार दो सौ उनचास योजन और दो हजार धनुष है ॥१८२॥

विशेषार्थ—(२८,०००—२०००)—($\frac{५}{३}$×$\frac{६}{१}$×$\frac{१}{४}$)÷$\frac{८}{१}$=($\frac{२६,०००}{१}$—$\frac{६}{१}$)×$\frac{१}{८}$ =३,२४९$\frac{१}{४}$ योजन अथवा ३,२४९ योजन २००० दण्ड मेघा पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल है।

चतुर्थ नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

णव-हिद-बावीस-सहस्स-दंड-हीणा [2]हवेदि छासट्ठी ।
जोयण-छत्तीस[3]-सयं, तुरिमाए सेढीबद्ध-विच्चालं ॥१८३॥

जो ३६६५ । दंड ५५५५ । $\frac{५}{९}$ ।

---

[1] द. ओउड्ढीणं, ब. क. उड्ढीणं। [2] द. हुवेदि [3] ब. बत्तीससयं।

अर्थ—चौथी पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल, बाईस हजार में नौ का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने (२२,००० ÷ ९ = २,४४४$\frac{४}{९}$, ८००० — २४४४$\frac{४}{९}$ = ५,५५५$\frac{५}{९}$) धनुष कम तीन हजार छह सौ छचासठ योजन प्रमाण है ॥१८३॥

विशेषार्थ—(२४,०००—२०००) — ($\frac{१०}{३} \times \frac{७}{१} \times \frac{१}{४}$) ÷ $\frac{६}{१}$ = ($\frac{२२,०००}{१}$ — $\frac{३५}{६}$) × $\frac{१}{६}$ = ३,६६५$\frac{३५}{३६}$ योजन अथवा ३,६६५ योजन ५,५५५$\frac{५}{९}$ धनुष अन्तराल है।

पाँचवें नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

[1]अट्ठाणउदी जोयण-चउदाल-सयाणि छस्सहस्स-धणू।
धूमप्पह - पुढवीए, सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८४॥

जो ४४९८। दड ६०००।

अर्थ—धूमप्रभा पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल चार हजार चार सौ अट्ठानबै योजन और छह हजार धनुष है ॥१८४॥

विशेषार्थ—(२०,०००—२०००)—($\frac{४}{१} \times \frac{५}{१} \times \frac{१}{४}$) ÷ $\frac{६}{१}$ = ($\frac{१८,०००}{१}$ — $\frac{५}{१}$) × $\frac{१}{४}$ = ४,४९८$\frac{३}{४}$ योजन अथवा ४,४९८ योजन ६००० धनुष अन्तराल है।

छठे नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

अट्ठाणउदी णव-सय-छ-सहस्सा जोयणाणि मघवीए।
दोण्णि सहस्साणि, धणू सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८५॥

जो ६,९९८। दंड २०००।

अर्थ—मघवी पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल छह हजार नौ सौ अट्ठानवै योजन और दो हजार धनुष है ॥१८५॥

विशेषार्थ—(१६,०००—२०००) — ($\frac{१४}{३} \times \frac{३}{१} \times \frac{१}{४}$) ÷ (३—१) = ($\frac{१४,०००}{१}$ — $\frac{७}{२}$) × $\frac{१}{२}$ = ६,९९८$\frac{१}{४}$ योजन या ६,९९८ यो० २००० दण्ड प्रमाण अन्तराल है।

---

१. ब. अट्ठागणउदी।

सातवें नरक में श्रेणीबद्धों का अन्तराल

णवणउदि-सहिय-णव-सय-ति-सहस्सा जोयणाणि एक्क-कला ।
ति-हिदा य माघवीए, सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८६॥

जो ३९९९ । $\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—माघवी पृथिवी में श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल तीन हजार नौ सौ निन्यानबै योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ॥१८६॥

विशेषार्थ—सातवीं पृथिवी की मोटाई ८००० योजन है और श्रेणीबद्धों का बाहल्य $\frac{४}{३}$ यो० है। इसे ८००० यो० बाहल्य में से घटाकर आधा करने पर अन्तराल का प्रमाण प्राप्त होता है। यथा—$\frac{८०००}{१} - \frac{४}{३} = \frac{२४,००० - ४}{३} \times \frac{१}{२} = \frac{११,९९६}{३}$ योजन अर्थात् ३,९९९$\frac{१}{३}$ यो० सातवीं पृथिवी में श्रेणीबद्धबिलों का अन्तराल है।

घर्मादिक-पृथिवियों में श्रेणीबद्ध बिलों के परस्थान अन्तरालों का प्रमाण

सट्ठाणे विच्चालं, एदं जाणिज्ज तह परट्ठाणे ।
जं इंदय-परठाणे[1] भणिदं तं एत्थ वत्तव्वं ॥१८७॥

णवरि विसेसो एसो, लल्लंकय-अवहिठाण-विच्चाले ।
[2]जोयण - छब्भागूणं - सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८८॥

। सेढीबद्धाण विच्चालं [3]समत्तं ।

अर्थ—यह श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल स्वस्थान में समझना चाहिए। तथा परस्थान में जा इन्द्रक बिलों का अन्तराल कहा जा चुका है, उसी को यहाँ भी कहना चाहिए, किन्तु विशेषता यह है कि लल्लंक और अवधिस्थान इन्द्रक के मध्य में जो अन्तराल कहा गया है, उसमें से एक योजन के छह भागों में से एक-भाग कम यहाँ श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल जानना चाहिए ॥१८७-१८८॥

विशेषार्थ—गाथा १८० से १८६ पर्यन्त श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल स्वस्थान में कहा गया है। तथा गाथा १६४ एवं १६५ में इन्द्रक बिलों का जो परस्थान (एक पृथिवी के अन्तिम और अगली पृथिवी के प्रथम बिल का) अन्तराल कहा गया है, वही अन्तराल श्रेणीबद्ध बिलों का है। यथा—

---

[1] द. क. ज. ठ. इंदयपरणाणे, ब. इंदयवरटाणे । [2] द. ब. जोयणयाधं । [3] ब. सम्मत्तं ।

पहली घर्मापृथिवी की—१,८०,००० योजन और वंशा की ३२,००० योजन प्रमाण मोटाई है। इन दोनों का योग २,१२,००० योजन हुआ, इसमें से चित्रा पृथिवो की मोटाई १००० यो०, पहलो पृथिवी के नीचे १००० योजन और दूसरी पृथिवी के ऊपर का एक हजार योजन इस प्रकार ३००० योजन घटा देने पर (२,१२०००---३०००)=२,०९००० योजन अवशेष रहे, इनको एक राजू में से घटा (१ राजू---२,०९०००) कर जो अवशेष रहे वही पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

वंशा पृथिवी के नीचे का १००० योजन+मेघा पृथिवी के ऊपर का १००० योजन=दो हजार योजनों को मेघा पृथिवी की मोटाई (२८,००० योजनों) में से कम कर देने पर (२८,०००—२०००=) २६,००० योजन अवशेष रहे। इन्हें एक राजू में से घटा देने पर (१ राजू—२६,०००) जो अवशेष रहे, वही वंशा पृथिवी के अन्तिम श्रेणीबद्ध और मेघा पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

अञ्जना पृथिवी की मोटाई २४,००० योजन है। २४,००० -- २०००=२२,००० योजन कम एक राजू (१ राजू -- २२,००० यो०) प्रमाण मेघा पृथिवी के अन्तिम श्रेणीबद्ध और अञ्जना पृथिवी के आदि श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

अरिष्टा पृथिवी की मोटाई २०,००० योजन — २००० यो०=१८,०००। १ राजू — १८,००० योजन अञ्जना के अन्तिम और अरिष्टा के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

मघवी पृथिवी की मोटाई १६,००० — २०००=१४,००० योजन। १ राजू — १४,००० योजन अरिष्टा के अन्तिम और मघवी पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध-बिलों का परस्थान अन्तराल है।

गा० १६६ में छठी पृ० के अन्तिम इन्द्रक लल्लंक और सातवीं पृ० के अवधिस्थान इन्द्रक का परस्थान अन्तराल १ राजू — ८००० योजन+४९९९$\frac{१}{२}$ योजन कहा गया है। इसमें से एक योजन का छठा भाग ($\frac{१}{६}$ यो०) कम कर देने पर {१ राजू — ८०००+(४,९९९$\frac{१}{२}$ — $\frac{१}{६}$)} =१ राजू—८००० + ४९९९$\frac{१}{३}$ योजन अर्थात् १ राजू — ३०००$\frac{२}{३}$ योजन छठी पृथिवी के अन्तिम और सातवीं पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिल का परस्थान अन्तराल है।

॥ श्रेणीबद्ध बिलों के अन्तराल का वर्णन समाप्त हुआ ॥

घर्मादिक छह पृथिवियों में प्रकीर्णक-बिलों के स्वस्थान एवं परस्थान अन्तरालों का प्रमाण

छक्कदि-हिदेक्करणउदी-कोसोणा छस्सहस्स-पंच-सया ।
जोयणया घम्माए, पइण्णयाणं हवेदि विच्चालं ।।१८९ ।।

६४९९ । को १ । $\frac{१७}{३६}$ ।

अर्थ—घर्मा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल, इक्यानवै में छह के वर्ग का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने कोस कम छह हजार पाँच सौ योजन प्रमाण है ।।१८९।।

विशेषार्थ—योजन ६,५०० — $(\frac{९१}{६\times६}\times\frac{१}{४})$=६४९९ यो० १$\frac{१७}{३६}$ कोस, अथवा — घर्मा पृथिवी की मोटाई ८०,०००—२००० = ७८,००० यो० । $(\frac{७८०००}{१}-\frac{९१}{१२})\div\frac{१३-१}{१}=(\frac{७८०००}{१}-\frac{९१}{१२})\times\frac{१}{१२}$=६,४९९$\frac{५३}{१४४}$ योजन या ६४९९ योजन १$\frac{१७}{३६}$ कोस पहली पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

णवणउदी-जुद-णव-सय-दु-सहस्सा जोयणाणि वंसाए ।
तिण्णि-सयाणि-दंडा, उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ।।१९०।।

२९९९ । दण्ड ३०० ।

अर्थ—वंशा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्वग अन्तराल दो हजार नौ सौ निन्यानवै योजन और तीन सौ धनुष प्रमाण है ।।१९०।।

विशेषार्थ—३२,०००—२००० = $\frac{३००००}{१}-(\frac{७}{२}\times\frac{११}{२}\times\frac{१}{४})\div\frac{(११-१)}{१}=(\frac{३००००}{१}-\frac{७७}{१६})\times\frac{१}{१०}$=२,९९९$\frac{८३}{१६०}$ योजन या २,९९९ यो० ३०० दण्ड वंशा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

अट्ठत्तालं दु-सयं, ति-सहस्स-जोयणाणि[1] मेघाए ।
पणवण्ण-सयाणि धणू, उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ।।१९१।।

३२४८ । दंड ५५०० ।

अर्थ—मेघा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्वग अन्तराल तीन हजार, दो सौ अड़तालीस योजन और पाँच हजार पाँच सौ धनुष है ।।१९१।।

---

[1] द. जोयसाणि ।

विशेषार्थ—(२८,०००—२०००=२६,०००) — ($\frac{१४}{३}\times\frac{९}{१}\times\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{(९-१)}{१}$ = ($\frac{२६०००}{१}$ — $\frac{२१}{२}$) × $\frac{१}{८}$ = ३,२४८$\frac{११}{१६}$ योजन या ३,२४८ योजन ५५०० दण्ड मेघा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

चउसट्ठि छस्सयाणि, ति-सहस्सा जोयणाणि तुरिमाए ।
उणहत्तरी-सहस्सा, पण-सय-दंडा य णव-भजिदा ॥१९२॥

३६६४ । दंड $\frac{६९५००}{९}$ ।

अर्थ---चौथी पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल तीन हजार, छह सौ चौंसठ योजन और नौ से भाजित उनहत्तर हजार, पाँच सौ धनुष प्रमाण है ॥१९२॥

विशेषार्थ—(२४,००० — २००० = २२,०००) — ($\frac{३५}{६}\times\frac{७}{१}\times\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{७-१}{१}$ = $\frac{२२०००}{१}$ — $\frac{२४५}{२४}$) × $\frac{१}{६}$ = ३,६६४$\frac{१३९}{१४४}$ योजन या ३,६६४ योजन $\frac{६९५००}{९}$ दण्ड अञ्जना पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

सत्ताणउदी-जोयण-चउदाल-सयाणि पंचम-खिदीए ।
पण-सय-जुद-छ-सहस्सा, दंडेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९३॥

४४९७ । दंड ६५००

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल चार हजार चार सौ सत्तानबै योजन और छह हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण है ॥१९३॥

विशेषार्थ—(२०,००० — २००० = १८,०००) — ($\frac{७}{१}\times\frac{५}{१}\times\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{(५-१)}{१}$ = ($\frac{१८०००}{१}$ — $\frac{३५}{४}$) × $\frac{१}{४}$ =४,४९७$\frac{१३}{१६}$ योजन या ४,४९७ योजन ६,५०० दण्ड अरिष्टा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल है ।

छण्णउदि णव-सयाणि छ-सहस्सा जोयणाणि मघवीए ।
पणहत्तरि सय-दंडा, उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९४॥

॥ ६९९६ । दंड ७५०० ॥

अर्थ—मघवी नामक छठी पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल छह हजार नौ सौ छयानवै योजन और पचहत्तर सौ धनुष प्रमाण है ॥१९४॥

विशेषार्थ – $(१६,०००—२०००=१४,०००)—(\frac{४९}{६}\times\frac{३}{१}\times\frac{१}{४})\div\frac{३—१}{१}=(\frac{१४,०००}{१}—\frac{४९}{८})\times\frac{१}{२}=६,९९६\frac{१५}{१६}$ योजन अथवा ६.९९६ योजन ७,५०० दण्ड (धनुष) मघवीं पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल है।

[1]सट्ठाणे विच्चालं एदं, जाणिज्ज तह परट्ठाणे ।
जं इंदय-परठाणे, भणिदं तं एत्थ [2]वत्तव्वं ।।१९५।।

। एवं पइण्णयाणं विच्चालं समत्तं ।

।। एवं णिवास-खेत्तं समत्तं ।।१।।

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल स्वस्थान में समझना चाहिए। परस्थान में जो इन्द्रक बिलों का अन्तराल कहा जा चुका है, उसी को यहाँ पर भी कहना चाहिए ।।१९५।।

। इसप्रकार प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल समाप्त हुआ ।

।। इस प्रकार निवास-क्षेत्र का वर्णन समाप्त हुआ ।।१।।

(तालिका सामने के पृष्ठ पर देखिये ।)

---

१. ठ. अट्ठाणे. २. द. वत्थव्वं ।

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों का स्वस्थान, परस्थान अन्तराल—
गा० १६४–१६५

क्रमांक	नरकों के नाम	इन्द्रक-बिलों का अन्तराल		श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल		प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल	
		स्वस्थान	परस्थान	स्वस्थान	परस्थान	स्वस्थान	परस्थान
१	घम्मा	६,४९९$\frac{३५}{४८}$ यो०	१ राजू - २०,९००० यो.	६,४९९$\frac{२३}{३६}$ यो.	१रा.–२,०९०००यो.	६,४९९$\frac{५३}{१४४}$यो.	इन्द्रक-बिलों के परस्थान प्रमाण सदृश
२	वंशा	२,९९९$\frac{४७}{८०}$ यो०	१ राजू--२६,००० यो.	२,९९९$\frac{६}{२७}$ यो.	१ ,,—२६.००० यो.	२,९९९$\frac{३}{८०}$ यो.	
३	मेघा	३,२४९$\frac{७}{१६}$ यो०	१ राजू—२२,००० यो.	३,२४९$\frac{१}{४}$ यो.	१ ,—२२,००० यो.	३,२४८$\frac{११}{१२}$ यो.	
४	अंजना	३,६६५$\frac{१५}{१६}$ यो०	१ राजू—१८,००० यो.	३ ६६५$\frac{२५}{२६}$ यो.	१ ,,—१८,००० यो.	३,६६४$\frac{१३६}{१४४}$यो.	
५	अरिष्टा	४,४९९$\frac{१}{१६}$ यो०	१ राजू—१४,००० यो.	४,४९८$\frac{३}{४}$ यो.	१ ,,—१४,००० यो.	४,४९७$\frac{१३}{१५}$ यो.	
६	मघवी	६,९९८$\frac{११}{१२}$ यो०	१ राजू—३,०००$\frac{२}{३}$ यो.	६.९९८$\frac{५}{४}$ यो.	१ ,,— ३०००$\frac{२}{३}$ यो.	६,९९६$\frac{१५}{१६}$ यो.	
७	माघवी	०		३,९९९$\frac{१}{३}$ या.		०	

प्रत्येक नरक के नारकियों की संख्या का प्रमाण

घम्माए णारइया, संखातीताओ होंति सेढीओ ।
एदाणं गुणगारा, बिदगुल-बिदिय-मूल-किचूणं ।।१९६।।

$$\left|\underline{\;— \;\; २ \;\; \underset{\frac{१}{१२}}{+} \;\; ।\;}\right.$$

अर्थ—घर्मा पृथिवी में नारकी जीव असंख्यात होते हैं। इनकी संख्या निकालने के लिए गुणकार घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से कुछ कम है। अर्थात् इस गुणकार से जगच्छ्रेणी को गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उतने नारकी जीव घर्मा पृथिवी में विद्यमान हैं ।।१९६।।

विशेषार्थ—श्रेणी × घनांगुल के दूसरे वर्गमूल से कुछ कम=घर्मा पृ० के नारकी। संदृष्टि का अभिप्राय इस प्रकार है— — = जगच्छ्रेणी, २ = दूसरा, + = घनांगुल, $\frac{१}{१२}$ = कुछ कम, । = वर्गमूल।

वंसाए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ता वि ।
सो रासी सेढीए, बारस-मूलावहिद सेढी ।।१९७।।

$\overline{१२}$ ।

अर्थ—वंशा पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातभाग मात्र हैं, वह राशि भी जगच्छ्रेणी के बारहवें वर्गमूल से भाजित जगच्छ्रेणी मात्र है ।।१९७।।

श्रेणी ÷ श्रेणी का बारहवाँ वर्गमूल = वंशा पृथिवी के नारकियों का प्रमाण

मेघाए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ता वि ।
सेढीए [1]दसम-मूलेण, भाजिदो होदि सो सेढी ।।१९८।।

$\overline{१०}$ ।

अर्थ—मेघा पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातभाग प्रमाण होते हुए भी जगच्छ्रेणी के दसवें वर्गमूल से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है ।।१९८।।

श्रेणी ÷ श्रेणी का दसवाँ वर्गमूल = मेघा पृ० के नारकियों का प्रमाण।

तुरिमाए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ते वि ।
सो सेढीए अट्ठम-मूलेणं, अवहिदा सेढी ।।१९९।।

$\overline{८}$ ।

---

[1] द. क. ठ. दसमूलेण ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातभाग प्रमाण हैं, वह प्रमाण भी जगच्छ्रेणी में जगच्छ्रेणी के आठवें वर्गमूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना है ।।१९९।।

श्रेणी ÷ श्रेणी का आठवाँ वर्गमूल = चौथी पृ० के नारकियों का प्रमाण

पंचम-खिदि-णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ते वि ।
सो सेढीए छट्ठम-मूलेणं भाजिदा सेढी ।।२००।।

$\overline{६}$ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें-भाग प्रमाण होकर भी जगच्छ्रेणी के छठे वर्गमूल से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है ।।२००।।

श्रेणी ÷ श्रेणी का छठा वर्गमूल ÷ पाँचवी पृ० के नारकियों का प्रमाण ।

मघवीए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ते वि ।
सेढीए तदिय-मूलेण, [1]हरिद-सेढीअ सो रासी ।।२०१।।

$\overline{३}$ ।

अर्थ—मघवी पृथिवी में भी नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, वह प्रमाण भी जगच्छ्रेणी में उसके तीसरे वर्गमूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना है ।।२०१।।

श्रेणी ÷ श्रेणी का तीसरा वर्गमूल = छठी पृ० के नारकियों का प्रमाण ।

सत्तम-खिदि-णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्तै वि ।
सेढीऐ बिदिय-मूलेण, हरिद-सेढोअ सो रासी ।।२०२।।

$\overline{२}$ ।

। एवं संखा समत्ता ।।२।।

अर्थ—सातवीं पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, वह राशि जगच्छ्रेणी के द्वितीय वर्गमूल में भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है ।।२०२।।

श्रेणी ÷ श्रेणी का दूसरा वर्गमूल = सातवीं पृ० के नारकियों का प्रमाण ।

इस प्रकार संख्या का वर्णन समाप्त हुआ ।।२।।

---

[1] द. ब. क. हरिदा सेढीय ।

पहली पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण

णिरय पदरेसु[1] आऊ, सीमंतादोसु दोसु संखेज्जा ।
तदिए संखासंखो, दससु असंखो तहेव सेसेसु ॥२०३॥

७ । ७ । ७ रि । १० । रि । से । रि[2]

अर्थ—नरक-पटलों में से सीमन्त आदिक दो पटलों में संख्यात वर्ष की आयु है । तीसरे पटल में संख्यात एवं असंख्यात वर्ष की आयु है और आगे के दस पटलों में तथा शेष पटलों में भी असंख्यात वर्ष प्रमाण ही नारकियों की आयु होती है ॥२०३॥

विशेषार्थ—संदृष्टि का अभिप्राय है—७ =,संख्यात वर्ष, ७ रि=,संख्यात एवं असंख्यात वर्ष १० =दस पटल, से=शेष पटल, रि=असंख्यात वर्ष ।

एक्कत्तिण्णि य सत्तं, दह सत्तारह दुवीस तेत्तीसा ।
रयणादी-चरिमिंदय[3] - जेट्ठाऊ उवहि-उवमाणा ॥२०४॥

१ । ३ । ७ । १० । १७ । २२ । ३३ । सागरोवमाणि ।

अर्थ—रत्नप्रभादिक सातों पृथिवियों के अन्तिम इन्द्रक बिलों में क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तैंतीस सागरोपम-प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥२०४॥

दस-णउदि-सहस्साणि, आऊ अवरो वरो य सीमंते ।
वरिसाणि णउदि-लक्खा, णिर-इंदय-आउ-उक्कस्सो[4] ॥२०५॥

१०००० । ९०००० । ९०००००० ।

अर्थ—सीमन्त इन्द्रक में जघन्य आयु दस हजार (१०,०००) वर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बै (९०,०००) हजार वर्ष-प्रमाण है । निरय इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु का प्रमाण नब्बे लाख (९०,०००००) वर्ष है ॥२०५॥

रोरुगए जेट्ठाऊ, संखातीदा हु पुव्व-कोडीओ ।
भंतस्सुक्कस्साऊ, सायर-उवमस्स दसमंसो ॥२०६॥

पुंव्व । रि । सा । $\frac{१}{१०}$ ।

अर्थ—रौरुक इन्द्रक में उत्कृष्ट आयु असंख्यात पूर्व कोटी और भ्रान्त इन्द्रक में सागरोपम के दसवें-भाग ($\frac{१}{१०}$ सागर) प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥२०६॥

---

१. द. ज. क. ठ. पदरस्स । २. द. २ । ७ । ७० । १० । ०॥ ३. ब. चरमिंदिय । ४. द. ब. आउक्कस्सो ।

दसमंस चउत्थस्स य, जेट्ठाऊ सोहिऊरा राव-भजिदे ।
ग्राउस्स पढम-भूए,[1] , रणायव्वा हारिण-वड्ढीग्रो ।।२०७।।

$\frac{१}{१०}$ ।

अर्थ—पहली पृथिवी के चतुर्थ पटल में जो एक सागर के दसवें भाग प्रमाण उत्कृष्ट ग्रायु है, उसे पहली पृथिवीस्थ नारकियों की उत्कृष्ट ग्रायु में से कम करके शेष में नौ का भाग देने पर जो लब्ध ग्रावे उतना, पहली पृथिवी के ग्रवशिष्ट नौ पटलों में ग्रायु के प्रमाण को लाने के लिए हानि-वृद्धि का प्रमाण जानना चाहिए। (इस हानि-वृद्धि के प्रमाण को चतुर्थादि पटलों की ग्रायु में उत्तरोत्तर जोड़ने पर पंचमादि पटलों में ग्रायु का प्रमाण निकलता है) ।।२०७।।

रत्नप्रभा पृ० में उत्कृष्ट ग्रायु एक सागरोपम है, ग्रतः १ सा.—$\frac{१}{१०} = \frac{९}{१०}$, $\frac{९}{१०} \div \frac{९}{१} = \frac{१}{१०}$ सागर हानि-वृद्धि का प्रमाण हुग्रा ।

सायर-उवमा इगि-दु-ति-चउ-परा-छस्सत्त-ग्रट्ठ-राव-दसया ।
दस-भजिदा रयरणप्पह-तुरिमिंदय-पहुदि-जेट्ठाऊ ।।२०८।।

$\frac{१}{१०}$ । $\frac{२}{१०}$ । $\frac{३}{१०}$ । $\frac{४}{१०}$ । $\frac{५}{१०}$ । $\frac{६}{१०}$ । $\frac{७}{१०}$ । $\frac{८}{१०}$ । $\frac{९}{१०}$ । $\frac{१०}{१०}$ ।

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के चतुर्थ पंचमादि इन्द्रकों में क्रमशः दस से भाजित एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात, ग्राठ, नौ ग्रौर दस सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट ग्रायु है ।।२०८।।

भ्रान्त में $\frac{१}{१०}$ सागर; उद्भ्रान्त में $\frac{२}{१०}$; संभ्रान्त में $\frac{३}{१०}$; ग्रसंभ्रान्त में $\frac{४}{१०}$; विभ्रान्त में $\frac{५}{१०}$; तप्त में $\frac{६}{१०}$; त्रसित में $\frac{७}{१०}$; वक्रान्त में $\frac{८}{१०}$; ग्रवक्रान्त में $\frac{९}{१०}$ ग्रौर विक्रान्त इन्द्रक बिल में उत्कृष्टायु $\frac{१०}{१०}$ या १ सागर प्रमाण हैं ।

ग्रायु की हानि-वृद्धि का प्रमाण प्राप्त करने का विधान

उवरिम-खिदि-जेट्ठाऊ, सोहिय[2] हेट्ठिम-खिदीए जेट्ठम्मि ।
सेसं रिगय-रिगय-इंदय-संखा-भजिदम्मि हारिण-वड्ढीग्रो ।।२०९।।

अर्थ—उपरिम पृथिवी की उत्कृष्ट ग्रायु को नीचे की पृथिवी की उत्कृष्ट ग्रायु में से कम करके शेष में ग्रपने-ग्रपने इन्द्रकों की संख्या का भाग देने पर जो लब्ध ग्रावे, उतना विवक्षित पृथिवी में ग्रायु की हानि-वृद्धि का प्रमाण जानना चाहिए ।।२०९।।

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. पढमभाए । [2] द. ब. ज. क. ठ. सोहस ।

उदाहरण—दूसरी पृ० की उ० आयु सागर (३—१=) २÷११ = $\frac{२}{११}$ सागर दूसरी पृथिवी में आयु की हानि-वृद्धि का प्रमाण है।

दूसरी पृथिवी में पटल-क्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण

तेरह-उवही पढमे, दो-दो-जुत्ता[1] य जाव तेत्तीसं।
एक्कारसेहि भजिदा, बिदिय-खिदी-इंदयाण[2] जेट्ठाऊ ॥२१०॥

$\frac{१३}{११}$ । $\frac{१५}{११}$ । $\frac{१७}{११}$ । $\frac{१९}{११}$ । $\frac{२१}{११}$ । $\frac{२३}{११}$ । $\frac{२५}{११}$ । $\frac{२७}{११}$ । $\frac{२९}{११}$ । $\frac{३१}{११}$ । $\frac{३३}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के ग्यारह इन्द्रक बिलों में से प्रथम इन्द्रक बिल में ग्यारह से भाजित तेरह $\frac{१३}{११}$ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसमें तैंतीस ($\frac{३३}{११}$) प्राप्त होने तक ग्यारह से भाजित दो दो ($\frac{२}{११}$) को मिलाने पर क्रमशः दूसरी पृथिवी के शेष द्वितीयादिक इन्द्रकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण होता है ॥२१०॥

स्तनक इन्द्रक में $\frac{१३}{११}$ सागर, तनक में $\frac{१५}{११}$; मनक में $\frac{१७}{११}$; वनक में $\frac{१९}{११}$; घात में $\frac{२१}{११}$; संघात में $\frac{२३}{११}$; जिह्वा में $\frac{२५}{११}$; जिह्वक में $\frac{२७}{११}$; लोल में $\frac{२९}{११}$; लोलक में $\frac{३१}{११}$ और स्तनलोलुक में $\frac{३३}{११}$ या ३ सागर प्रमाण उत्कृष्टायु है।

तीसरी पृथिवी में पटल-क्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण

इगतीस-उवहि-उवमा, पभओ चउ-वड्ढिदो य पत्तेक्कं।
जा तेसठि णव-भजिदं, एदं तदियावणिम्मि जेट्ठाऊ ॥२११॥

$\frac{३१}{९}$ । $\frac{३५}{९}$ । $\frac{३९}{९}$ । $\frac{४३}{९}$ । $\frac{४७}{९}$ । $\frac{५१}{९}$ । $\frac{५५}{९}$ । $\frac{५९}{९}$ । $\frac{६३}{९}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में नौ से भाजित इकतीस ($\frac{३१}{९}$) सागरोपम प्रभव या आदि है। इसके आगे प्रत्येक पटल में नौ से भाजित चार ($\frac{४}{९}$) की तिरेसठ ($\frac{६३}{९}$) तक वृद्धि करने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण निकलता है ॥२११॥

तप्त में $\frac{३१}{९}$; त्रसित में $\frac{३५}{९}$; तपन में $\frac{३९}{९}$; तापन में $\frac{४३}{९}$; निदाघ में $\frac{४७}{९}$; प्रज्वलित में $\frac{५१}{९}$; उज्ज्वलित में $\frac{५५}{९}$; संज्वलित में $\frac{५९}{९}$ और संप्रज्वलित नामक इन्द्रक में $\frac{६३}{९}$ अथवा ७ सागर प्रमाण उत्कृष्टायु है।

---

[1] द. दोद्दो जेट्ठा य। ज. क. ठ. दोट्टो जेत्ता य। [2] खिदीयंदयाण।

चौथी पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण

बावण्णुवही-उवमा, पभओ तिय वड्ढिदा य पत्तेक्कं ।
सत्तरि-परियंतं ते, सत्त-हिदा तुरिम-पुढवि-जेट्ठाऊ ।।२१२।।

५२	५५	५८	६१	६४	६७	७०
७	७	७	७	७	७	७

अर्थ—चौथी पृथिवी में सात से भाजित बावन सागरोपम प्रभव है । इसके आगे प्रत्येक पटल में सत्तर पर्यन्त सात से भाजित तीन ($\frac{३}{७}$) की वृद्धि करने पर उत्कृष्टायु का प्रमाण निकलता है ।।२१२।।

आर में $\frac{५२}{७}$; मार में $\frac{५५}{७}$; तार में $\frac{५८}{७}$; तत्त्व में $\frac{६१}{७}$; तमक में $\frac{६४}{७}$; खाड़ में $\frac{६७}{७}$; खड़खड़ में $\frac{७०}{७}$ या १० सागरोपम उत्कृष्ट आयु है ।।२१२।।

पाँचवीं पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण

सगवण्णोवहि-उवमा, आदी सत्ताहिया य पत्तेक्कं ।
पणसीदी-परिअंतं, पंच-हिदा पंचमीअ जेट्ठाऊ ।।२१३।।

५७	६४	७१	७८	८५
५	५	५	५	५

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी में पाँच से भाजित सत्तावन सागरोपम आदि है । अनन्तर प्रत्येक पटल में पचासी तक पाँच से भाजित सात-सात ($\frac{७}{५}$) के जोड़ने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण जाना जाता है ।।२१३।।

तम में $\frac{५७}{५}$ सागरोपम; भ्रम में $\frac{६४}{५}$; झस में $\frac{७१}{५}$; अन्ध में $\frac{७८}{५}$ और तिमिस्र इन्द्रक की उत्कृष्टायु $\frac{८५}{५}$ अर्थात् १७ सागर प्रमाण है ।

छठी पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण

छप्पण्णा इगिसट्ठी, [1]छासट्ठी होंति उवहि-उवमाणा ।
तिय-भजिदा मघवीए, णारय-जीवाण जेट्ठाऊ ।।२१४।।

५६	६१	६६
३	३	३

---

[1] १. क. ब. बासट्ठी ।

अर्थ--मघवी पृथिवी के तीन पटलों में नारकियों की उत्कृष्टायु क्रमशः तीन से भाजित छप्पन, इकसठ और छयासठ सागरोपम है ॥२१४॥

हिम में $\frac{५६}{३}$; वंर्दल में $\frac{६१}{३}$ और लल्लंक में $\frac{६६}{३}$ या २२ सागर प्रमाण उत्कृष्टायु है।

सातवीं पृथिवी में नारकियों की आयु का प्रमाण एवं सर्व पृथिवियों के नारकियों की जघन्यायु का प्रमाण

सत्तम-खिदि-जीवाणं, आऊ तेत्तीस-उवहि-परिमाणा ।
उवरिम-उक्कस्साऊ, [1]समय-जुदो हेट्ठिमे जहण्णं खु ॥२१५॥

३३ ।[2]

अर्थ—सातवीं पृथिवी के जीवों की आयु तेंतीस सागरोपम प्रमाण है। ऊपर-ऊपर के पटलों में जो उत्कृष्ट आयु है, उसमें एक-एक समय मिलाने पर वही नीचे के पटलों में जघन्यायु हो जाती है ॥२१५॥

अवधिस्थान नामक इन्द्रक की आयु ३३ सागरोपम प्रमाण है।

श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों में स्थित नारकियों की आयु

एवं सत्त-खिदीणं, पत्तेक्कं इंदयाण जो आऊ ।
सेढि-विसेढि-गदाणं, सो चेय पइण्णयाणं पि ॥२१६॥

एवं आऊ समत्ता ॥३॥

अर्थ—इस प्रकार सातों पृथिवियों के प्रत्येक इन्द्रक में जो उत्कृष्ट आयु कही गई है, वही वहाँ के श्रेणीबद्ध और विश्रेणीगत (प्रकीर्णक) बिलों में भी (आयु) समझनी चाहिए ॥२१६॥

इस प्रकार आयु का वर्णन समाप्त हुआ ॥३॥

---

[1] द. ठ. समओ जुदो, ब. क. ज. समउ-जुदो। [2] द. २० । ३३ ।; ब. २२ । ३३ ।

सातों नरकों के प्रत्येक पटल की जघन्य–उत्कृष्ट आयु का विवरण, गाथा २०३-२११

घर्मा पृथ्वी			वंशा पृथ्वी			मेघा पृथ्वी		
पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१	१०,००० वर्ष	९०,००० वर्ष	१	१ सागर	१$\frac{२}{११}$ सागर	१	३ सागर	३$\frac{४}{९}$ सागर
२	९०.००० वर्ष	९० लाख वर्ष	२	१$\frac{२}{११}$,,	१$\frac{४}{११}$ सागर	२	३$\frac{४}{९}$,,	३$\frac{८}{९}$,,
३	९० लाख वर्ष	अस० पूर्व कोटियाँ	३	१$\frac{४}{११}$,,	१$\frac{६}{११}$ सागर	३	३$\frac{८}{९}$,,	४$\frac{३}{९}$,,
४	अस० पूर्व कोटियाँ	$\frac{१}{१०}$ सागर	४	१$\frac{६}{११}$,,	१$\frac{८}{११}$ सागर	४	४$\frac{३}{९}$,,	४$\frac{७}{९}$,,
५	$\frac{१}{१०}$ सागर	$\frac{२}{१०}$ सागर	५	१$\frac{८}{११}$,,	१$\frac{१०}{११}$ सागर	५	४$\frac{७}{९}$,,	५$\frac{२}{९}$,,
६	$\frac{२}{१०}$,,	$\frac{३}{१०}$ सागर	६	१$\frac{१०}{११}$,,	२$\frac{१}{११}$ सागर	६	५$\frac{२}{९}$,,	५$\frac{२}{३}$,,
७	$\frac{२}{१०}$,,	$\frac{४}{१०}$ सागर	७	२$\frac{१}{११}$,,	२$\frac{३}{११}$,,	७	५$\frac{२}{३}$,,	६$\frac{१}{९}$,,
८	$\frac{४}{१०}$,,	$\frac{१}{२}$ सागर	८	२$\frac{३}{११}$,,	२$\frac{५}{११}$,,	८	६$\frac{१}{९}$,,	६$\frac{५}{९}$,,
९	$\frac{१}{२}$,,	$\frac{३}{५}$,,	९	२$\frac{५}{११}$,,	२$\frac{७}{११}$,,	९	६$\frac{५}{९}$,,	७ सागर
१०	$\frac{३}{५}$,,	$\frac{७}{१०}$,,	१०	२$\frac{७}{११}$,,	२$\frac{९}{११}$,,			
११	$\frac{७}{१०}$,,	$\frac{४}{५}$,,	११	२$\frac{९}{११}$,,	३ सागर			
१२	$\frac{४}{५}$,,	$\frac{९}{१०}$,,						
१३	$\frac{९}{१०}$,,	१ सागरोपय						

सातों नरकों के प्रत्येक पटल की जघन्य–उत्कृष्ट आयु का विवरण, गा. २१२-२१६

अञ्जना पृथिवी			अरिष्टा पृथिवी			मघवी पृथिवी			माघवी पृथिवी		
पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१	७ सागर	७$\frac{३}{७}$ सागर	१	१० सागर	११$\frac{२}{५}$ सा०	१	१७ सागर	१८$\frac{२}{३}$ सागर	१	२२ सागर	३३ सागर
२	७$\frac{३}{७}$,,	७$\frac{६}{७}$ सागर	२	११$\frac{२}{५}$,,	१२$\frac{४}{५}$,,	२	१८$\frac{२}{३}$,,	२०$\frac{१}{३}$,,			
३	७$\frac{६}{७}$,,	८$\frac{२}{७}$ सागर	३	१२$\frac{४}{५}$,	१४$\frac{१}{५}$,,	३	२०$\frac{१}{३}$,,	२२ ,,			
४	८$\frac{२}{७}$,,	८$\frac{५}{७}$ सागर	४	१४$\frac{१}{५}$,,	१५$\frac{३}{५}$,,						
५	८$\frac{५}{७}$,,	९$\frac{१}{७}$ सागर	५	१५$\frac{३}{५}$,,	१७ सागर						
६	९$\frac{१}{७}$,,	९$\frac{४}{७}$ सागर									
७	९$\frac{४}{७}$,,	१० सागर									

नोटः—१. प्रत्येक पटल की जघन्य आयु में एक समय अधिक करना चाहिए। गा० २१५।

२. यह जघन्य-उत्कृष्ट आयु का प्रमाण सातों पृथिवियों के इन्द्रक बिलों का कहा गया है, यही प्रमाण प्रत्येक पृथिवी के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में रहने वाले नारकियों का भी जानना चाहिए। गा० २१६।

पहली पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

सत्त-ति-छ-दंड-हत्थंगुलाणि कमसो हवंति घम्माए।
चरिमिंदयम्मि उदओ, दुगुणो-दुगुणो य सेस-परिमाणं[1] ॥२१७॥

दं ७, ह ३, अं ६। दं १५, ह २, अं १२। दं ३१, ह १। दं ६२, ह २।
दं १२५। दं २५०। दं ५००।

अर्थ—घर्मा पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है। इसके आगे शेष पृथिवियों के अन्तिम इन्द्रकों में रहने वाले नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण उत्तरोत्तर इससे दुगुना-दुगुना होता गया है ॥२१७॥

विशेषार्थ—घर्मा पृथिवी में शरीर की ऊँचाई ७ दंड, ३ हाथ, ६ अंगुल; वंशा पृ० में १५ दण्ड, २ हाथ, १२ अंगुल; मेघा पृ० में ३१ दण्ड, १ हाथ; अंजना पृ० में ६२ दण्ड, २ हाथ; अरिष्टा पृ० में १२५ दण्ड; मघवी पृ० में २५० दण्ड और माघवी पृथिवी में ५०० दण्ड ऊँचाई है।

रयणप्पहक्खिदीए[2], उदओ[3] सीमंत-णाम-पडलम्मि।
जीवाणं हत्थ-तियं, सेसेसुं हाणि-वड्ढीओ ॥२१८॥

ह ३।

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के सीमन्त नामक पटल में जीवों के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ है; इसके आगे शेष पटलों में शरीर की ऊँचाई हानि-वृद्धि को लिये हुए है ॥२१८॥

आदी अंते सोहिय, रूऊणिंदा-हिदम्मि हाणि-चया।
मुह-सहिदे खिदि-सुद्धे, णिय-णिय-पदरेसु उच्छेहो ॥२१९॥

ह २। अं ८। भा $\frac{१}{२}$।

अर्थ—अन्त में से आदि को घटाकर शेष में एक कम अपने इन्द्रक के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना प्रथम पृथिवी में हानि-वृद्धि का प्रमाण है। इसे उत्तरोत्तर मुख में मिलाने अथवा भूमि में से कम करने पर अपने-अपने पटलों में ऊँचाई का प्रमाण ज्ञात होता है ॥२१९॥

---

[1] द. ठ. ज. सेसचरिमाणं। [2] द. ब. ज. क. ठ. पुत्थीए। [3] द. ओदओ।

उदाहरण—अन्त ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल; आदि ३ हाथ, ७ ध०, ३ हा०, ६ अं. अर्थात् ($३१\frac{१}{४}$ हाथ—३ हाथ=$२८\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{१३-१}{१} = \frac{११३}{४} \times \frac{१}{१२} = २$ हाथ $८\frac{१}{२}$ अंगुल हानि-वृद्धि का प्रमाण है।

हाणि-चयाण पमाणं, घम्माए होंति दोण्णि हत्था य।
अट्ठंगुलाणि अंगुल-भागो [1]दोहिं विहत्तो य ॥२२०॥

ह २। अं ८। भा $\frac{१}{२}$।

अर्थ—घर्मा पृथिवी में इस हानि-वृद्धि का प्रमाण दो हाथ, आठ अंगुल और एक अंगुल का दूसरा $\frac{१}{२}$ भाग है ॥२२०॥

हानि-चय का प्रमाण २ हाथ, $८\frac{१}{२}$ अंगुल प्रमाण है।

एक्क-धणुमेक्क-हत्थो, सत्तरसंगुल-दलं च णिरयम्मि।
इगि-दंडो तिय-हत्था[2] सत्तरसं अंगुलाणि रोरुगए ॥२२१॥

दं १, ह १, अं, $\frac{१७}{२}$। दं १, ह ३, अं १७।

अर्थ—पहली पृथिवी के निरय नामक द्वितीय पटल में एक धनुष, एक हाथ और सत्तरह अंगुल के आधे अर्थात् साढे आठ अंगुल प्रमाण तथा रौरुक पटल में एक धनुष, तीन हाथ और सत्तरह अंगुल प्रमाण शरीर की ऊँचाई है ॥२२१॥

दो दंडा दो हत्था, भंतम्मि दिवड्ढमंगुलं होदि।
उब्भंते दंड-तियं, दहंगुलाणि च उच्छेहो ॥२२२॥

दं २, ह २, अं $\frac{३}{२}$। दं ३, अंगु १०।

अर्थ—भ्रान्त पटल में दो धनुष, दो हाथ और डेढ़ अंगुल; तथा उद्भ्रान्त पटल में तीन धनुष एवं दस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है ॥२२२॥

तिय दंडा दो हत्था, अट्ठारह अंगुलाणि पव्वद्धं।
संभंत[3] - णाम-इंदय-उच्छेहो पढम-पुढवीए ॥२२३॥

दं ३, ह २, अं १८ भा $\frac{१}{२}$।

---

[1] द. दोहि विहत्थो य। [2] द. ज. क. ठ. हत्थो। [3] द. सव्वंतथ, ब. क. ज. ठ. सव्वत्थ।

अर्थ—पहली पृथिवी के संभ्रान्त नामक इन्द्रक में शरीर की ऊँचाई तीन धनुष, दो हाथ और साढ़े अठारह अंगुल प्रमाण है ॥२२३॥

चत्तारो चावाणिं, सत्तावीसं च अंगुलाणि पि ।
होदि असंभंतिदय-उदओ पढमाए पुढवीए ॥२२४॥

दं ४, अं २७ ।

अर्थ—पहली पृथिवी के असंभ्रान्त इन्द्रक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण चार धनुष और सत्ताईस अंगुल है ॥२२४॥

चत्तारो कोदंडा, तिय हत्था अंगुलाणि तेवीसं ।
दलिदाणि होदि उदओ, विब्भंतय-णाम पडलम्मि ॥२२५॥

दं ४, ह ३, अं $\frac{२३}{२}$ ।

अर्थ—विभ्रान्त नामक पटल में चार धनुष, तीन हाथ और तेईस अंगुल के आधे अर्थात् साढ़े ग्यारह अंगुल प्रमाण उत्सेध है ॥२२५॥

पंच च्चिय कोदंडा, एक्को हत्थो य वीस पव्वाणि ।
तत्तिदयम्मि उदओ, पण्णत्तो पढम-खोणीए ॥२२६॥

दं ५, ह १, अं २० ।

अर्थ—पहली पृथिवी के तप्त इन्द्रक में शरीर का उत्सेध पाँच धनुष, एक हाथ और बीस अंगुल प्रमाण कहा गया है ॥२२६॥

छ च्चिय कोदंडाणि, चत्तारो अंगुलाणि पव्वद्धं ।
उच्छेहो णादव्वो, पडलम्मि य तसिद-णामम्मि ॥२२७॥

दं ६, अं ४ भा $\frac{१}{२}$ ।

अर्थ—त्रसित नामक पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई छह धनुष और अर्ध अंगुल सहित चार अंगुल प्रमाण जाननी चाहिए ॥२२७॥

वाणासणाणि छ च्चिय, दो हत्था तेरसंगुलाणि पि ।
वक्कंत-णाम-पडले, उच्छेहो पढम-पुढवीए ॥२२८॥

दं ६, ह २, अं १३ ।

अर्थ—पहली पृथिवी के वक्रान्त पटल में शरीर का उत्सेध छह धनुष, दो हाथ और तेरह अंगुल है ॥२२८॥

सत्त य सरासणाणि, अंगुलया एक्कवीस-पव्वद्ध ।
पडलम्मि य उच्छेहो, होदि अवक्कंत-णामम्मि ॥२२९॥

दं ७, अं २१$\frac{1}{2}$ ।

अर्थ—अवक्रान्त नामक पटल में सात धनुष और साढ़े इक्कीस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है ॥२२९॥

सत्त विसिखासणाणि, हत्थाइं तिण्णि छच्च अंगुलयं ।
चरमिंदयम्मि उदओ, विक्कंते पढम-पुढमीए ॥२३०॥

दं ७, ह ३, अं ६ ।

अर्थ—पहली पृथिवी के विक्रान्त नामक अन्तिम इन्द्रक में शरीर का उत्सेध सात धनुष, तीन हाथ और छह अंगुल है ॥२३०॥

दूसरी पृथिवी में उत्सेध की वृद्धि का प्रमाण

दो हत्था वीसंगुल, एक्कारस-भजिद-दो वि पव्वाइं ।
वंसाए वड्ढीओ, मुह-सहिदा होंति उच्छेहो ॥२३१॥

ह २, अं २० भा $\frac{2}{11}$ ।

अर्थ—वंशा पृथिवी में दो हाथ, बीस अंगुल और ग्यारह से भाजित दो-भाग पटल में वृद्धि होती है। इस वृद्धि को मुख अर्थात् पहली पृथिवी के उत्कृष्ट उत्सेध-प्रमाण तर मिलाते जाने से क्रमशः दूसरी पृथिवी के प्रथमादि पटलों में उत्सेध का प्रमाण नि है ॥२३१॥

दूसरी पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

अट्ठ विसिहासणाणि, दो हत्था अंगुलाणि चउवीसं ।
एक्कारस-भजिदाइं, उदओ थणगम्मि बिदिय-वसुहाए ।।२३२।।

दं ८, ह २, अं $\frac{२४}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवो के स्तनक नामक प्रथम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध आठ धनुष, दो हाथ और ग्यारह से भाजित चौबीस अंगुल-प्रमाण है ।।२३२।।

णव दंडा बावीसंगुलाणि एक्करस-भजिद चउ-भागा ।
बिदिय-पुढवीए तणगिंदयम्हि णारइय उच्छेहो ।।२३३।।

दं ९, अं २२ भा $\frac{४}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के तनक इन्द्रक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई नौ धनुष, बाईस अंगुल और ग्यारह मे भाजित चार भाग प्रमाण है ।।२३३।।

णव दंडा तिय-हत्थं, चउरुत्तर-दो-सयाणि पव्वाणि ।
एक्कारस-भजिदाणि, उदओ मण-इंदयम्मि जीवाणं ।।२३४।।

दं ९, ह ३, अं १८ भा $\frac{६}{११}$ ।

अर्थ—मन(क) इन्द्रक में जीवों के शरीर का उत्सेध नौ धनुष, तीन हाथ और ग्यारह से भाजित दो सौ चार अंगुल प्रमाण है ।।२३४।।

दस दंडा दो हत्था, चोद्दस पव्वाणि अट्ठ भागा य ।
एक्कारसेहिं भजिदा, उदओ [1]वणगिंदयम्मि बिदियाए ।।२३५।।

दं १०, ह २, अं १४ भा $\frac{८}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के वनक इन्द्रक में शरीर का उत्सेध दस-धनुष, दो हाथ, चौदह अंगुल और आठ अंगुलों का ग्यारहवाँ भाग है ।।२३५।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. तणगिंदयम्मि ।

एक्कारस चावाणिं, एक्को हत्थो दसंगुलाणि पि ।
एक्करस-हिद-दसंसा, उदग्रो [1]घादिदयम्मि बिदियाए ।।२३६।।

दं ११, ह १, अं १० भा $\frac{१०}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के घात इन्द्रक में ग्यारह धनुष, १ हाथ, दस अंगुल और ग्यारह से भाजित दस-भाग प्रमाण शरीर का उत्सेध है ।।२३६।।

बारस सरासणाणिं, पव्वाणि अट्ठहत्तरी होंति ।
एक्कारस-भजिदाणि, संघादे णारयाण उच्छेहो ।।२३७।।

दं १२ अं० $\frac{७८}{११}$ ।

अर्थ—संघात इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध बारह धनुष और ग्यारह से भाजित अठहत्तर अंगुल प्रमाण है ।।२३७।।

बारस सरासणाणिं, तिय हत्था तिण्णि अंगुलाणि च ।
एक्करस-हिद-ति-भाया उदग्रो जिब्भिदग्रम्मि बिदियाए ।।२३८।।

दं १२, ह ३, अं ३ भा $\frac{३}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के जिह्व इन्द्रक में शरीर का उत्सेध बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अंगुल और ग्यारह से भाजित तीन भाग प्रमाण है ।।२३८।।

तेवण्णा हत्थाइं, तेवीसा अंगुलाणि पण भागा ।
एक्कारसेहिं [2]भजिदा, जिब्भग-पडलम्मि उच्छेहो ।।२३९।।

ह ५३ अं २३ भा $\frac{५}{११}$ ।

अर्थ—जिह्वक पटल में शरीर का उत्सेध तिरेपन हाथ (१३ दण्ड १ हाथ) तेईस अंगुल और एक अंगुल के ग्यारह-भागों में से पाँच-भाग प्रमाण है ।।२३९।।

---

१. ब. घादिदियम्मि । २. द. भजिदाणं ।

चोद्दस दंडा सोलस-जुत्ताणि सयाणि दोण्हि पव्वाणि ।
एक्कारस-भजिदाइं, उदओ [1]लोलिदयम्हि बिदियाए ॥२४०॥

दं १४, अं $\frac{२१६}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के लोल नामक इन्द्रक में शरीर का उत्सेध चौदह धनुष और ग्यारह से भाजित दो सौ सोलह (१९ $\frac{७}{११}$)अंगुल प्रमाण है ॥२४०॥

एक्कोण-सट्ठि हत्था, [2]पण्णरसं अंगुलाणि णव भागा ।
एक्कारसेहि भजिदा, लोलयणामम्मि उच्छेहो ॥२४१॥

ह ५९, अं १५ भा $\frac{९}{११}$ ।

अर्थ—लोलक नामक पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई उनसठ हाथ (१४ दण्ड, ३-हाथ), १५ अंगुल और ग्यारह से भाजित अंगुल के नौ-भाग प्रमाण है ॥२४१॥

पण्णरसं[3] कोदंडा, दो हत्था बारसंगुलाणि च ।
अंतिम-पडले [4]थणलोलगम्मि बिदियाअ उच्छेहो ॥२४२॥

दं १५, ह २, अं १२ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के स्तनलोलक (लोलुक) नामक अन्तिम पटल में पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल-प्रमाण शरीर का उत्सेध है ॥२४२॥

तीसरी पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

एक्क धणू बे [5]हत्था, बावीसं अंगुलाणि बे भागा ।
तिय-भजिदा[6] णादव्वा[7], मेघाए हाणि-वड्ढीओ ॥२४३॥

ध १, ह २, अं २२ भा $\frac{२}{३}$ ।

---

[1] द. क. ज. ठ. लोलय । [2] ब. पणरस । [3] ब. पण्णरस । [4] ब. द. ठ. घणलोलगम्मि । [5] द. हत्थ । [6] द. क. ठ. भजिदं । [7] द. क. ठ. णादव्वो, ब. णायव्वो ।

अर्थ – मेघा पृथिवी में एक धनुष, दो हाथ, २२ अंगुल और तीन से भाजित एक अंगुल के दो-भाग-प्रमाण हानि-वृद्धि जाननी चाहिए ।।२४३।।

तीसरी पृथिवी में पटल-क्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

सत्तरसं चावाणि, चोत्तीसं अंगुलाणि दो भागा ।
तिय-भजिदा मेघाए, उदओ तत्तिदयम्मि जीवाणं ।।२४४।।

ध १७, अं ३४ भा $\frac{२}{३}$ ।

अर्थ – मेघा पृथिवी के तप्त इन्द्रक में जीवों के शरीर का उत्सेध सत्तरह धनुष, चौंतीस अंगुल (१ हाथ, १० अंगुल) और तीन से भाजित अंगुल के दो-भाग प्रमाण है ।।२४४।।

एक्कोणवीस दंडा, अट्ठावीसंगुलाणि [1]तिहिदाणि ।
तसिदिंदयम्मि तदियक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ।।२४५।।

ध १९, अं $\frac{२८}{३}$ ।

अर्थ – तीसरी पृथिवी के त्रसित इंन्द्रक में नारकियों का उत्सेध उन्नीस धनुष और तीन से भाजित अट्ठाईस (९$\frac{१}{३}$) अंगुल प्रमाण है ।।२४५।।

वीसए सिखासयाणि, असीदिमेत्ताणि अंगुलाणि च ।
[2]तदिय-पुढवीए तवणि - दयम्मि णारइय उच्छेहो ।।२४६।।

दं २० । अं ८० ।

अर्थ तीसरी पृथिवी के तपन इन्द्रक बिल में नारकियों के शरीर का उत्सेध बीस धनुष अस्सी (३ हाथ ८) अंगुल प्रमाण है ।।२४६।।

णउदि-पमाणा हत्था, [3]तिदय-विहत्ताणि वीस पव्वाणि ।
मेघाए [4]तावणिदय-ठिदाण जीवाण उच्छेहो ।।२४७।।

ह ९०, अं $\frac{२०}{३}$ ।

---

[1] द. क. ठ. तिहिदाणं । [2] द.ब. क. ठ. तदियं चय पुढवीए । [3] द. तीयविहत्थाणि, क. तीद विहत्थाणि, ठ. तीदी विहत्थाणि, ब. तदिविहत्ताणि । [4] द. ब. क. ठ. तवणिदय ।

अर्थ—मेघा पृथिवी के तापन इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध नब्बै हाथ (२२ धनुष २ हाथ) और तीन से भाजित बीस अंगुल प्रमाण है ।।२४७।।

सत्ताणउदी हत्था, सोलस पव्वाणि तिय-विहत्ताणि ।
उदश्रो णिदाहणामा-पडले, णेरइय जीवाणं ।।२४८।।

ह ९७, अं $\frac{१६}{३}$ ।

अर्थ—निदाघ नामक पटल में नारकी जीवों के शरीर की ऊँचाई सत्तानबै (२४ दण्ड १) हाथ और तीन से भाजित सोलह-अंगुल प्रमाण है ।।२४८।।

छव्वीसं चावाणि, चत्तारी अंगुलाणि मेघाए ।
पज्जलिद-णाम-पडले, ठिदाण जीवाण उच्छेहो ।।२४९।।

ध २६, अं ४ ।

अर्थ—मेघा पृथिवी के प्रज्वलित नामक पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध छब्बीस धनुष और चार अंगुल प्रमाण है ।।२४९।।

सत्तावीसं दंडा, तिय-हत्था अट्ठ अंगुलाणि च ।
तिय-भजिदाइं उदश्रो, [1]उज्जलिदे णारयाण णादव्वो ।।२५०।।

ध २७, ह ३, अं $\frac{८}{३}$ ।

अर्थ—उज्वलित इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध सत्ताईस धनुष, तीन हाथ और तीन से भाजित आठ अंगुल प्रमाण है ।।२५०।।

एक्कोणतीस[2] दंडा, दो हत्था अंगुलाणि चत्तारिं ।
तिय-भजिदाइं उदश्रो, [3]संजलिदे तदिय-पुढवीए ।।२५१।।

ध २९, ह २, अं $\frac{४}{३}$ ।

---

[1] द. उज्जलिदो । [2] ब. क. एकोणतीस । [3] संजलि-तदिय ।

अर्थ–तीसरी पृथिवी के संज्वलित इन्द्रक में शरीर का उत्सेध उनतीस धनुष, दो हाथ और तीन से भाजित चार (१$\frac{१}{३}$) अंगुल प्रमाण है ॥२५१॥

एक्कत्तीसं दंडा, एक्को हत्थो अ [1]तदिय-पुढवीए ।
संपज्जलिदे[2] चरिमिंदयम्हि [3]णारइय उस्सेहो ॥२५२॥

ध ३१, ह १ ।

अर्थ–तीसरी पृथिवी के संप्रज्वलित नामक अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध इकतीस-धनुष और एक-हाथ प्रमाण है ॥२५२॥

चौथी पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

चउ दंडा इगि हत्थो, पव्वाणि वीस-सत्त-पविहत्ता ।
चउ भागा तुरिमाए, पुढवीए हाणि-वड्ढीओ ॥२५३॥

ध ४, ह १, अं २० भा $\frac{४}{७}$ ।

अर्थ–चौथी पृथिवी में चार धनुष, एक हाथ, बीस अंगुल और सात से भाजित चार-भाग प्रमाण हानि-वृद्धि है ॥२५३॥

चौथी पृथिवी में पटल क्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

पणतीसं दंडाइं, हत्थाइ दोण्णि वीस-पव्वाणि ।
सत्त-हिदा चउ-भागा, उदओ आर-ट्ठिदाण जीवाणं ॥२५४॥

ध ३५, ह २, अं २० भा $\frac{४}{७}$ ।

अर्थ–आर पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस अंगुल और सात से भाजित चार-भाग-प्रमाण है ॥२५४॥

---

[1] ब. तदिह । [2] द. ब. क. ठ. संजलिदे । [3] द. ब. क. ठ. णारइया ।

चालीसं कोदंडा, वीसब्भहिश्रं सयं च पव्वाणि ।
सत्त-हिदा उच्छेहो, [1]तुरिमाए मार-पडल-जीवाणं ।।२५५।।

ध ४०, श्रं $\frac{१२०}{७}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के मार नामक पटल में रहने वाले जीवों के शरीर की ऊँचाई चालोस धनुष और सात से भाजित एक सौ बीस ($१७\frac{१}{७}$)अंगुल प्रमाण है ।।२५५।।

चउदालं चावाणि, दो हत्था श्रंगुलाणि छण्णउदी ।
सत्त-हिदा उच्छेहो, तारिंदय-संठिदाण जीवाणं ।।२५६।।

ध ४४, ह २, अं $\frac{९६}{७}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के तार इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध चवालीस धनुष, दो हाथ और सात से भाजित छ्यानवै ($१३\frac{५}{७}$) अंगुल प्रमाण है ।।२५६।।

एक्कोणपण्ण दंडा, बाहत्तरि श्रंगुला य सत्त-हिदा ।
तच्चिदयम्मि[2] तुरिमक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ।।२५७।।

ध ४९, श्रं $\frac{७२}{७}$ ।

अर्थ चौथी पृथिवी में तत्व (चर्चा) इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध उनचास धनुष और सात से भाजित बहत्तर ($१०\frac{२}{७}$) अंगुल प्रमाण है ।।२५७।।

[3]तेवण्णा चावाणि, बिय हत्था अट्ठताल पव्वाणि ।
सत्त-हिदाणि उदश्रो, तमगिंदय-संठियाण जीवाणं ।।२५८।।

ध ५३, ह २, श्रं $\frac{४८}{७}$ ।

अर्थ—तमक इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध तिरेपन धनुष, दो हाथ और सात से भाजित अड़तालीस ($६\frac{६}{७}$) अंगुल प्रमाण है ।।२५८।।

---

[1] द. ब. क. ठ. पंचाए । [2] द. ब. क. ठ. तत्तिदयम्मि । [3] ब. तेणणाव ।

अट्ठावण्णा दंडा, सत्त-हिदा अंगुला य चउवीसं ।
खाडिंदयम्मि तुरिमक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ।।२५६।।

ध ५८, अं $\frac{२४}{७}$ ।

अर्थ चौथी पृथिवी के खाड़ इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध अट्ठावन धनुष और सात से भाजित चौबीस ($३\frac{३}{७}$) अंगुल प्रमाण है ।।२५६।।

वासट्ठी कोदंडा, हत्थाइं दोण्णि तुरिम-पुढवीए ।
चरिमिंदयम्मि खडखड-णामाए णारयाण उच्छेहो ।।२६०।।

दं ६२, ह २ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के खड़खड़ नामक अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध बासठ धनुष और दो हाथ प्रमाण है ।।२६०।।

पाँचवीं पृथिवी के उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

बारस सरासणाणिं, दो हत्था पंचमीए पुढवीए ।
खय-वड्डीय पमाणं, णिद्दिट्ठं वीयराएहिं ।।२६१।।

दं १२, ह २ ।

अर्थ—वीतरागदेव ने पाँचवीं पृथिवी में क्षय एवं वृद्धि का प्रमाण बारह धनुष और दो हाथ कहा है ।।२६१।।

पाँचवीं पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

पणहत्तरि-परिमाणा, कोदंडा पंचमीए पुढवीए ।
पढमिंदयम्मि उदओ, तम-णामे संठिदाण जीवाणं ।।२६२।।

दं ७५ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी के तम (क) नामक प्रथम इन्द्रक बिल में स्थित जीवों के शरीर की ऊँचाई पचहत्तर धनुष प्रमाण है ।।२६२।।

सत्तासीदी दंडा, दो हत्था पंचमीए खोणीए ।
पडलम्मि य भम-णामे, णारय-जीवाण उच्छेहो ।।२६३।।

दं ८७, ह २ ।

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी के भ्रम नामक पटल में नारकी जीवों के शरीर का उत्सेध सत्तासी धनुष और दो हाथ-प्रमाण है ।।२६३।।

एक्कं कोदंड-सयं, भस-णामे णारयाण उच्छेहो ।
चावाणि बारसुत्तर-सयमेक्कं अंधयम्मि दो हत्था ।।२६४।।

दं १०० । दं ११२, ह २ ।

अर्थ--भस नामक पटल में मात्र सौ धनुष तथा अन्धक पटल में एक सौ बारह धनुष और दो हाथ प्रमाण नारकियों के शरीर की ऊँचाई है ।।२६४।।

एक्कं कोदंड-सयं, अब्भहियं पंचवीस-रूवेहिं ।
धूमप्पहाए[1] चरिमिंदयम्मि तिमिसम्मि उच्छेहो ।।२६५।।

दं १२५ ।

अर्थ—धूमप्रभा पृथिवी के तिमिस्र नामक अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध पच्चीस अधिक एक सौ अर्थात् एक सौ पच्चोस धनुष प्रमाण है ।।२६५।।

छठी पृथिवी के उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

एक्कत्तालं दंडा, हत्थाइं दोण्णि सोलसंगुलया ।
छट्ठीए वसुहाए, परिमाणं हाणि-वड्ढीए ।।२६६।।

दंड ४१, ह २, अं १६ ।

अर्थ—छठी पृथिवी में हानि-वृद्धि का प्रमाण इकतालीस धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल है ।।२६६।।

---

[1] द. क. ठ. धूमप्पहाय ।

छठी पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

छासट्ठी-अहिय-सयं, कोदंडा दोण्णि होंति हत्था य ।
सोलस पव्वा य पुढं, हिम-पडल-गदाण उच्छेहो ।।२६७।।

दं १६६, ह २, अं १६ ।

अर्थ—(छठी पृथिवी के) हिम पटलगत जीवों के शरीर की ऊँचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल प्रमाण है ।।२६७।।

दोण्णि सयाणि अट्ठाउत्तर-दंडाणि अंगुलाणि च ।
बत्तीसं [1]छट्ठीए, [2]वद्दल-ठिद-जीव-उच्छेहो ।।२६८।।

दं २०८, अं ३२ ।

अर्थ—छठी पृथिवी के वर्दल पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध दो सौ आठ धनुष और बत्तीस (१ हाथ ८) अंगुल प्रमाण है ।।२६८।।

पण्णासब्भहियाणि, दोण्णि सयाणि सरासणाणि च ।
लल्लंक-णाम-इंदय-ठिदाण जीवाण उच्छेहो ।।२६९।।

दं २५० ।

अर्थ— लल्लंक नामक इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध दो सौ पचास धनुष-प्रमाण है ।।२६९।।

सातवीं पृथिवी के नारकियों के शरीर का उत्सेध

पुढमीए सत्तमिए, अवधिट्ठाणम्हि एक्क पडलम्हि ।
पंच - सयाणि दडा, णारय - जीवाण उस्सेहो ।।२७०।।

दं ५०० ।

---

[1] द छट्ठाए । [2] द. क. ठ. वंदलट्ठिदल-जीव ।

अर्थ—सातवीं पृथिवी के अवधिस्थान पटल में नारकियों का उत्सेध पाँच सौ (५००) धनुष प्रमाण है ॥२७०॥

श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक-बिलों के नारकियों का उत्सेध

एवं रयणादीणं, पत्तेक्कं इंदयाण जो उदओ ।
सेढि-विसेढि-गदाणं, पइण्णयाणं च सो च्चेअ ॥२७१॥

॥ इदि णारयाण उच्छेहो समत्तो[1] ॥४॥

अर्थ - इस प्रकार रत्नप्रभादिक पृथिवियों के प्रत्येक इन्द्रक में शरीर का जो उत्सेध है, वही उत्सेध उन-उन पृथिवियों के श्रेणीबद्ध और विश्रेणीगत प्रकीर्णक बिलों में स्थित नारकियों के शरीर का भी जानना चाहिए ॥२७१॥

॥ इस प्रकार नारकियों के शरीर का उत्सेध-प्रमाण समाप्त हुआ ॥४॥

नोट—गाथा २१७, २२० से २२९, २३१ से २४१, २४३ से २५१, २५३ से २५९, २६१ से २६४ और २६६ से २६९ से सम्बन्धित मूल संदृष्टियों का अर्थ निम्नांकित तालिका द्वारा दर्शाया गया है—

[तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये]

---

[1] द. समत्ता ।

सातों नरकों के प्रत्येक पटल-स्थित नारकियों के शरीर के उत्सेध का विवरण, गाथा २१८-२५२

पहली पृथिवी				दूसरी पृथिवी				तीसरी पृथिवी			
पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल
१	०	३	०	१	८	२	$२\frac{२}{११}$	१	१७	१	$१०\frac{२}{३}$
२	१	१	$८\frac{१}{२}$	२	९	०	$२२\frac{४}{११}$	२	१९	०	$९\frac{१}{३}$
३	१	३	१७	३	९	३	$१८\frac{६}{११}$	३	२०	३	८
४	२	२	$१\frac{१}{२}$	४	१०	२	$१४\frac{८}{११}$	४	२२	२	$६\frac{२}{३}$
५	३	०	१०	५	११	१	$१०\frac{१०}{११}$	५	२४	१	$५\frac{१}{३}$
६	३	२	$१८\frac{१}{२}$	६	१२	०	$७\frac{१}{११}$	६	२६	०	४
७	४	१	३	७	१२	३	$३\frac{३}{११}$	७	२७	३	$२\frac{२}{३}$
८	४	३	$११\frac{१}{२}$	८	१३	१	$२३\frac{५}{११}$	८	२९	२	$१\frac{१}{३}$
९	५	१	२०	९	१४	०	$१९\frac{७}{११}$	९	३१	१	०
१०	६	०	$४\frac{१}{२}$	१०	१४	३	$१५\frac{९}{११}$				
११	६	२	१३	११	१५	२	१२				
१२	७	०	$२१\frac{१}{२}$								
१३	७	३	६								

सातों नरकों के प्रत्येक पटल-स्थित नारकियों के शरीर के उत्सेध का विवरण, गाथा २५४-२७०

चौथी पृथिवी				पाँचवीं पृथिवी				छठी पृथिवी				सातवीं पृथिवी	
पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष
१	३५	२	२०$\frac{४}{७}$	१	७५	०	०	१	१६६	२	१६	१	५००
२	४०	०	१७$\frac{१}{७}$	२	८७	२	०	२	२०८	१	८		
३	४४	२	१३$\frac{५}{७}$	३	१००	०	०	३	२५०	०	०		
४	४९	०	१०$\frac{२}{७}$	४	११२	२	०						
५	५३	२	६$\frac{६}{७}$	५	१२५	०	०						
६	५८	०	३$\frac{३}{७}$										
७	६२	२	०										

रत्नप्रभादि पृथिवियों में अवधिज्ञान का निरूपण

रयणप्पहावणीए, कोसा चत्तारि ओहिणाण-खिदी ।
तप्परदो पत्तेक्कं, परिहाणी गाउदद्धेण ॥२७२॥

को ४ । $\frac{७}{२}$ । ३ । $\frac{५}{२}$ । २ । $\frac{३}{२}$ । १ ।

॥ ओहि समत्ता ॥५॥

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी में अवधिज्ञान का क्षेत्र चार कोस प्रमाण है, इसके आगे प्रत्येक पृथिवी में उक्त अवधि-क्षेत्र में से अर्धगव्यूति (कोस) की कमी होती गयी है ॥२७२॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के नारकी जीव अपने अवधिज्ञान से ४ कोस तक, शर्करा के ३$\frac{१}{२}$ कोस तक, बालुका पृ० के ३ कोस तक, पंक पृ० के २$\frac{१}{२}$ कोस तक, धूम पृ० के २ कोस तक, तमः पृ० के १$\frac{१}{२}$ कोस तक और महातमःप्रभा के नारकी जीव एक कोस तक जानते हैं।

॥ इसप्रकार अवधिज्ञान का वर्णन समाप्त हुआ ॥५॥

नारकी जीवों में बीस-प्ररूपणाओं का निर्देश

गुणजीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णाय मग्गणा कमसो ।
उवजोगा [1]कहिदव्वा, णारइयाणं जहा-जोग्गं[2] ॥२७३॥

अर्थ—नारकी जीवों में यथायोग्य क्रमशः गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा और उपयोग (ज्ञान-दर्शन), इनका कथन करने योग्य है ॥२७३॥

नारकी जीवों में गुणस्थान

चत्तारो गुणठाणा, णारय-जीवाण होंति सव्वाणं ।
मिच्छादिट्ठी सासण- मिस्साणि तह अविरदो सम्मो ॥२७४॥

अर्थ—सब नारकी जीवों के मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान हो सकते हैं ॥२७४॥

---

[1] क. कयदव्वा । [2] द. जहाजोगं ।

उपरिमन गुणस्थानों का निषेध

ताण अपच्चक्खाणावरणोदय-सहिद-सव्व-जीवाणं ।
हिंसाणंद-जुदाणं, णाणाविह-संकिलेस-पउराणं ।।२७५।।

देसविरदादि-उवरिम-दस-गुणठाणाण[1] हेदु-भूदाओ ।
जाओ विसोहियाओ[2], कइया वि ण ताओ जायंति ।।२७६।।

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सहित, हिंसानन्दी रौद्र-ध्यान और नाना प्रकार के प्रचुर संक्लेशों से संयुक्त उन सब नारकी जीवों के देशविरत आदि उपरिम दस गुणस्थानों के हेतुभूत जो विशुद्ध परिणाम हैं, वे कदापि नहीं होते हैं ।।२७५-२७६।।

नारकी जीवों में जीव-समास और पर्याप्तियाँ

पज्जत्तापज्जत्ता, जीव-समासा य होंति एदाणं ।
पज्जत्ती छब्भेया, तेत्तियमेत्ता अपज्जत्ती ।।२७७।।

अर्थ—इन नारकी जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीवसमास तथा छह प्रकार की पर्याप्तियाँ एवं इतनी (छह) ही अपर्याप्तियाँ भी होती हैं ।।२७७।।

नारकी जीवों में प्राण और संज्ञाएँ

पंच वि इंदिय-पाणा, [3]मण-वय-कायाणि आउपाणा य ।
आणप्पाणप्पाणा, दस पाणा होंति चउ सण्णा ।।२७८।।

अर्थ-- (नारकी जीवों के) पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वचन-काय ये तीन बल प्राण, आयु-प्राण और आनपान प्राण (श्वासोच्छ्वास) ये दसों प्राण तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, ये चारों संज्ञाएँ होती हैं ।।२७८।।

नारकी जीवों में चौदह मार्गणाएँ

णिरय-गदीए सहिदा, पंचक्खा तह य होंति तस-काया ।
चउ-मण-वय-दुग-वेगुव्विय-कम्मइय - सरीरजोग - जुदा ।।२७९।।

---

१. द. ब. ज. क. ठ. गुणटाणाणि । २. ब. उवसोधियाउ । ३. ठ. ज. मणि, वचि ।

होंति णपुंसय-वेदा, णारय-जीवा य दव्व-भावेहिं ।
सयल-कसाया-सत्ता, संजुत्ता णाण-छक्केण ।।२८०।।

ते सव्वे णारइया, विविहेहिं असंजमेहिं परिपुण्णा ।
चक्खु - अचक्खू - ओही-दंसण - तिदएण जुत्ता य ।।२८१।।

भावेसुं तिय-लेस्सा, ताओ किण्हा य णील-काओया ।
दव्वेणुक्कड-किण्हा[1], भव्वाभव्वा य ते सव्वे ।।२८२।।

छस्सम्मत्ता ताइं, उवसम - खइयाइ-वेदगं-मिच्छो ।
[2]सासंण-मिस्सा य तहा, संणी आहारिणो अणाहारा ।।२८३।।

अर्थ—सब नारकी नरक गति से सहित, पचेन्द्रिय, त्रसकाय वाले, चार मनोयोगों, चार वचनयोगों तथा दो वैक्रियिक और कार्मण, इन तीन काय-योगों से संयुक्त होते हैं । वे नारकी जीव द्रव्य और भाव से नपुंसक वेद वाले; सम्पूर्ण कषायों से युक्त, छह ज्ञान वाले, विविध प्रकार के असंयमों से परिपूर्ण; चक्षु, अचक्षु, अवधि, इन तीन दर्शनों से युक्त; भाव की अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन लेश्याओं और द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या से सहित; भव्यत्व और अभव्यत्व परिणाम से युक्त, औपशमिक, क्षायिक, वेदक, मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन छह सम्यक्त्वों से सहित, संज्ञी, आहारक एवं अनाहारक होते हैं ।।२७९-२८३।।

विशेषार्थ—नरक-भूमियों में स्थित सभी नारकी जीव १ गति (नरक), २ जाति (पंचेन्द्रिय), ३ काय (त्रस), ४ योग (सत्य, असत्य, उभय, अनुभयरूप चार मनोयोग, चार वचन योग तथा वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र और कार्मण तीन काययोग), ५ वेद (नपुंसकवेद), ६ कषाय (स्त्रीवेद और पुरुषवेद से रहित तेईस), ७ ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, कुमति, कुश्रुत और विभंग), ८ असंयम, ९ दर्शन (चक्षु, अचक्षु अवधि), १० लेश्या (भावापेक्षा तीन अशुभ और द्रव्यापेक्षा उत्कृष्ट कृष्ण), ११ भव्यत्व (एवं अभव्यत्व), १२ सम्यक्त्व (औपशमिक, क्षायिक, वेदक, मिथ्यात्व सासादन और मिश्र), १३ संज्ञी और १४ आहारक (एवं अनाहारक) इन चौदह मार्गणाओं में से यथायोग्य भिन्न-भिन्न मार्गणाओं से संयुक्त होते हैं ।

---

[1] द. किण्ही । [2] ब. सासणि-मिस्सा ।

नारकी जीवों में उपयोग

सायार-अणायारा, उवयोगा दोण्णि होंति तेसिं च ।
तिव्व-कसाएण जुदा, तिव्वोदय-अप्पसत्त-पयडि-जुदा ॥२८४॥

॥ गुणठाणादी समत्ता ॥६॥

अर्थ—तीव्र कषाय एवं तीव्र उदयवाली पाप-प्रकृतियों से युक्त उन-उन नारकी जीवा के साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) दोनों ही उपयोग होते हैं ॥२८४॥

॥ इसप्रकार गुणस्थानादि का वर्णन समाप्त हुआ ॥६॥

नरकों में उत्पन्न होने वाले जीवों का निरूपण

पढम-धरंतमसण्णी, पढमं बिदियासु सरिसओ जादि ।
पढमादी-तदियंतं, पक्खी भुजगा[1] वि आतुरिमं ॥२८५॥

पंचम-खिदि-परियंतं, सिंहो इत्थी वि छट्ठ-खिदि-अंतं ।
आसत्तम-भूवलयं, मच्छा मणुवा य वच्चंति ॥२८६॥

अर्थ—पहली पृथिवी के अन्त-पर्यन्त असंज्ञी तथा पहली और दूसरी पृथिवी में सरीसृप जाता है। पहली से तीसरी पृथिवी पर्यन्त पक्षी एवं चौथी पृथिवी पर्यन्त भुजंगादिक उत्पन्न होते हैं ॥२८५॥

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी पर्यन्त सिंह, छठी पृथिवी तक स्त्री और सातवीं भूमि तक मत्स्य एवं मनुष्य ही जाते हैं ॥२८६॥

नरकों में निरन्तर उत्पत्ति का प्रमाण

अट्ठ-सग-छक्क-पण-चउ-तिय-दुग-बाराओ सत्त-पुढवीसु ।
कमसो उप्पज्जंते, असण्णि-पमुहाइ उक्कस्से ॥२८७॥

॥ उप्पण्णमाण-जीवाणं वण्णणं समत्तं[2] ॥७॥

---

[1] द. ज. ठ. भुयंगावियायए । [2] द. ज. सम्मत्ता ।

अर्थ—सातों पृथिवियों में क्रमशः वे असंज्ञी आदिक जीव उत्कृष्ट-रूप से आठ, सात, छह, पाँच चार, तीन और दो बार उत्पन्न होते हैं ॥२८७॥

विशेषार्थ—नरक से निकला हुआ कोई भी जीव असंज्ञी और सम्मूर्च्छन जन्म वाला नहीं होता तथा सातवें नरक से निकला हुआ कोई भी जीव मनुष्य नहीं होता, अतः क्रमशः सातों नरक से और सप्तम नरक से निकले हुए जीव को असंज्ञी, मत्स्य और मनुष्य पर्याय धारण करने के पूर्व एक बार नियम से क्रमशः संज्ञी तथा गर्भज तिर्यञ्च पर्याय धारण करनी ही पड़ती है। इसी कारण इन जीवों के बीच में एक-एक पर्याय का अन्तर होता है, किन्तु सरीसृप, पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री के लिए ऐसा नियम नहीं है, वे बीच में अन्य किसी पर्याय का अन्तर डाले बिना ही उत्पन्न हो सकते हैं।

॥ इसप्रकार उत्पद्यमान जीवों का वर्णन समाप्त हुआ ॥७॥

रत्नप्रभादिक पृथिवियों में जन्म-मरण के अन्तराल का प्रमाण

चउवीस मुहुत्ताणि, सत्त दिणा एक्क पक्ख-मासं च ।
दो-चउ-छम्मासाइं, पढमादो जम्म-मरण-अंतरियं ॥२८८॥

मु २४। दि ७। दि १५। मा १। मा २। मा ४। मा ६।

॥ जम्मण-मरण-अंतर-काल-पमाणं समत्तं[1] ॥८॥

अर्थ—चौबीस मुहूर्त, सात दिन, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास यह क्रमशः प्रथमादिक पृथिवियों में जन्म-मरण के अन्तर का प्रमाण है ॥२८८॥

विशेषार्थ—यदि कोई भी जीव पहली पृथिवी में जन्म या मरण न करे तो अधिक से अधिक २४ मुहूर्त तक, दूसरी में सात दिन तक, तीसरी में एक पक्ष (पन्द्रह दिन) तक, चौथी में एक माह तक, पाँचवीं में दो माह तक, छठी में ४ माह तक और सातवीं पृथिवी में उत्कृष्टतः ६ माह तक न करे, इसके बाद नियम से वहाँ जन्म-मरण होगा ही होगा।

॥ इसप्रकार जन्म-मरण के अन्तर-काल का प्रमाण समाप्त हुआ ॥८॥

---

[1] द. ज. सम्मत्ता।

नरकों में एक समय में जन्म-मरण करने वालों का प्रमाण

रयणादि-णारयाणं, णिय-संखादो असंखभागमिदा ।
पडि-समयं जायंते, [1]तत्तिय-मेत्ता य मरंति पुढं ॥२८९॥

$$\begin{array}{ccccccc} -\text{२}+\text{।} & \overline{\text{१२}}\text{।} & \overline{\text{१०}}\text{।} & \overline{\text{८}}\text{।} & \overline{\text{६}}\text{।} & \overline{\text{३}}\text{।} & \overline{\text{२}}\text{।} \\ \frac{\text{१}}{\text{१२}} & \text{रि} & \text{रि} & \text{रि} & \text{रि} & \text{रि} & \text{रि} \\ \text{रि} & & & & & & \end{array}$$

॥ [2]उप्पज्जण-मरणाण - परिमाण-वण्णणा समत्ता ॥९॥

अर्थ--रत्नप्रभादिक पृथिवियों में स्थित नारकियों के अपनी संख्या के असंख्यातवें भाग-प्रमाण नारकी प्रत्येक समय में उत्पन्न होते हैं और उतने ही मरते हैं ॥२८९॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभादि पृथिवियों में स्थित नारकियों की अपनी-अपनी (गाथा१९६ से २०२ पर्यन्त दर्शायी गयी) संख्या के असंख्यातवें भाग प्रमाण नारकी जीव प्रत्येक समय में उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। संदृष्टि का अभिप्राय इस प्रकार है :— = जगच्छ्रेणी, २ = दूसरा, + = घनांगुल, । = वर्गमूल, $\frac{\text{१}}{\text{१२}}$ = कुछ कम, रि = असंख्यात का भाग ।

॥ इस प्रकार एक समय में जन्म-मरण करने वाले जीवों का कथन समाप्त हुआ ॥९॥

नरक से निकले हुए जीवों की उत्पत्ति का कथन

णिक्कंता णिरयादो, गब्भ-भवे कम्म-सण्णि-पज्जत्ते ।
णर-तिरिएसुं जम्मदि, [3]तिरियं चिय चरम-पुढवीदो ॥२९०॥

अर्थ—नरक से निकले हुए जीव गर्भज, कर्मभूमिज, संज्ञी एवं पर्याप्तक मनुष्यों और तिर्यञ्चों में ही जन्म लेते हैं परन्तु सातवीं पृथिवी से निकला हुआ जीव तिर्यञ्च ही होता है (मनुष्य नहीं होता) ॥२९०॥

---

[1] द. क. ज. ठ. तेत्तियमेत्ताए । [2] द. ब. ज. क. ठ. उपज्जं । [3] द. तिरियेचिय, क. ज. ठ. तिरियच्चिय ।

वालेसु[1] दाढीसु[2], पक्खीसु जलचरेसु जाऊणं।
संखेज्जाऊ-जुत्ता, केई णिरएसु वच्चंति ।।२९१।।

अर्थ—नरकों से निकले हुए उन जीवों में से कितने ही जीव व्यालों (सर्पादिकों) में, डाढ़ों वाले (तीक्ष्ण दाँतों वाले व्याघ्रादिक पशुओं) में (गृद्धादिक) पक्षियों में तथा जलचर जीवों मे जन्म लेकर और संख्यात वर्ष की आयु प्राप्तकर पुनः नरकों में जाते हैं ।।२९१।।

केसव-बल-चक्कहरा, ण होंति कइयावि णिरय-संचारी ।
जायंते तित्थयरा, तदीय-खोणीअ परियंतं ।।२९२।।

अर्थ—नरकों में रहने वाले जीव वहाँ से निकलकर नारायण,(प्रतिनारायण), बलभद्र और चक्रवर्ती कदापि नहीं होते हैं। तीसरी पृथिवी पर्यन्त के नारकी जीव वहाँ से निकल कर तीर्थंकर हो सकते हैं ।।२९२।।

आतुरिम-खिदी चरिमंगधारिणो संजदा य धूमंतं ।
छट्ठंतं देसवदा, सम्मत्तधरा केइ चरिमंतं ।।२९३।।

।। आगमण-वण्णणा समत्ता ।।१०।।

अर्थ—चौथी पृथिवी पर्यन्त के नारकी वहाँ से निकलकर चरम-शरीरी, धूमप्रभा पृथिवी तक के जीव सकलसंयमी एवं छठी पृथिवी-पर्यन्त के नारकी जीव देशव्रती हो सकते हैं। सातवीं पृथिवी से निकले हुए जीवों में से विरले ही सम्यक्त्व के धारक होते हैं ।।२९३।।

।। इस प्रकार आगमन का वर्णन समाप्त हुआ ।।१०।।

नरकायु के बन्धक परिणाम

आउस्स बंध-समये, सिलो व्व सेलो[3] व्व वेणु-मूले य ।
किमिरायव्व[4] कसाओदयम्हि बंधेदि णिरयाउं ।।२९४।।

---

[1] द. ब. ज. क. ठ. वालीसु। [2] द. क. ज. ठ. दालीसु [3] द. ब. क. ज. ठ. सिलोव्व सिलोव्व।
[4] ज. ठ. किमिराउकसाउदयमि, द. कसाओदयंमि, क. कसाया उदयंमि।

अर्थ—आयुबन्ध के समय शिला की रेखा सदृश क्रोध, शैल सदृश मान, बांस की जड़ सदृश माया और किमिराग [किरमिच (लालरंग)] सदृश लोभ कषाय का उदय होने पर नरकायु का बन्ध होता है ।।२९४।।

किण्हाअ णील-काऊणुदयादो बंधिऊण णिरयाऊ ।
मरिऊण ताहि जुत्तो, पावइ णिरयं महाघोरं[1] ।।२९५।।

अर्थ—कृष्ण, नील अथवा कापोत इन तीन लेश्याओं का उदय होने से (जीव) नरकायु बाँधकर और मरकर उन्हीं लेश्याओं से युक्त हुआ महा-भयानक नरक को प्राप्त करता है ।।२९५।।

अशुभ-लेश्या युक्त जीवों के लक्षण

किण्हादि-ति-लेस्स-जुदा, जे पुरिसा ताण लक्खणं एदं ।
गोत्तं तह स-कलत्तं, एक्कं वंछेदि मारिदुं दुट्ठो ।।२९६।।

धम्मदया-परिचत्तो[2] , अमुक्क-वइरो पयंड-कलह-यरो ।
बहु-कोहो किण्हाए, जम्मदि धूमादि-चरिमंते[3] ।।२९७।।

अर्थ—जो पुरुष कृष्णादि तीन लेश्याओं सहित होते हैं, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—ऐसे दुष्ट पुरुष (अपने ही) गोत्रीय तथा एक मात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करते हैं, दयाधर्म से रहित होते हैं, कभी शत्रुता का त्याग नहीं करते, प्रचण्ड कलह करने वाले और बहुत क्रोधी होते हैं ; कृष्ण लेश्याधारी ऐसे जोव धूमप्रभा पृथिवी से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त जन्म लेते हैं । २९६-२९७ ।।

विसयासत्तो विमदी, माणी विण्णाण-वज्जिदो मंदो ।
अलसो भीरू माया-पवंच-बहुलो य णिद्दालू ।।२९८।।

परवंचणप्पसत्तो, लोहंधो धण्ण धण्ण-सुहाकंखी[4] ।
बहु-सण्णा णीलाए, जम्मदि तदियादि धूमंतं ।।२९९।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. प्रत्योः गाथेयं अग्रिम-गाथायाः पश्चादुपलभ्यते । २. ब. परिचित्तो । ३. ज. ठ. चरिमंतो । ४. द. ज. ठ. धण्णधण्णसुहाकंखी । क. धण-धण सुहाकंखी ।

अर्थ—विषयों में आसक्त, मति-हीन, मानी, विवेक-बुद्धि से रहित, मूर्ख, आलसी, कायर, प्रचुर माया-प्रपंच में संलग्न, निद्राशील, दूसरों को ठगने में तत्पर, लोभ से अन्धा, धन-धान्यजनित सुख का इच्छुक एवं बहुसंज्ञा (आहार-भय-मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं में) आसक्त जीव नील लेश्या को धारण कर बालुकाप्रभा पृथ्वी से धूमप्रभा पृथिवी पर्यन्त जन्म लेता है ।।२९८-२९९।।

अप्पाणं मण्णंता, अण्णं णिंदेदि अलिय-दोसेहिं ।
भीरू सोक-विसण्णो, परावमाणी असूया अ[1] ।।३००।।

अमुणिय-कज्जाकज्जो, थूवंतो [2]परम-पहरिसं वहइ ।
अप्पं पि वि मण्णंतो, परं पि कस्स वि ण-पत्तिअई ।।३०१।।

थुव्वंतो देइ धणं, मरिदुं वंछेदि[3] समर-संघट्टे ।
काऊए संजुत्तो, जम्मदि घम्मादि-मेघंतं ।।३०२।।

।। आऊ-बंधण-परिणामा समत्ता ।।११।।

अर्थ—जो स्वयं की प्रशंसा और मिथ्या दोषों के द्वारा दूसरों की निन्दा करता है, भीरु है, शोक से खेद खिन्न होता है, पर का अपमान करता है, ईर्ष्याग्रस्त है, कार्य-अकार्य को नहीं समझता है, चंचलचित्त होते हुए भी अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है, अपने समान ही दूसरों को भी समझकर किसी का भी विश्वास नहीं करता है, स्तुति करने वालों को धन देता है और समर-सघर्ष में मरने की इच्छा करता है, ऐसा प्राणी कापोत लेश्या से संयुक्त होकर घर्मा से मेघा पृथिवी पर्यन्त जन्म लेता है ।।३००-३०२।।

।। इस प्रकार आयु-बन्धक परिणामों का कथन समाप्त हुआ ।।११।।

रत्नप्रभादि नरकों में जन्म-भूमियों के आकारादि

इंदय-[4]सेढीबद्ध-प्पइण्णयाणं हवंति उवरिम्मि ।
बाहिं बहु असिस-जुदो, अंतो वड्ढा अहोमुहा-कठा ।।३०३।।

चेट्ठंदि जम्मभूमी, सा घम्मप्पहुदि-खेत्त-तिदयम्मि ।
उट्ठिय[5]-कोत्थलि-कुंभी-मोद्गलि-मोग्गर-मुइंग-णालि-णिहा ।।३०४।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. यसूयाअ । [2] द. ब. ज. क. ठ. परमपहइ सव्वहइ । [3] द. वुंछेदि । [4] द. ब. ज. क. ठ. इंदियसेढी । [5] द. उव्विय, ब. क. ज. ठ. उत्तिय ।

ग्रर्थ—इन्द्रक, श्रेणीवद्ध ग्रौर प्रकीर्णक बिलों के ऊपर ग्रनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, भीतर गोल ग्रौर ग्रधोमुखकण्ठ वाली जन्म-भूमियाँ हैं। वे जन्मभूमियाँ घर्मा पृथिवी से तीसरी मेघा पृथिवी पर्यन्त उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदंग ग्रौर नाली के सदृश हैं ।।३०३-३०४।।

गो-हत्थि-तुरय-भत्था, [1]ग्रज्जप्पुड-ग्रंबरीस-दोणीग्रो ।
चउ-पंचम-पुढवीसु, ग्रायारो जम्म-भूमीणं ।।३०५।।

ग्रर्थ—चौथी ग्रौर पाँचवीं पृथिवी में जन्म-भूमियों के ग्राकार गाय, हाथी, घोड़ा, भस्त्रा, ग्रब्जपुट, ग्रम्बरीष (भड़भूंजा के भाड़) ग्रौर द्रोणी (नाव) जैसे हैं ।।३०५।।

झल्लरि - [2]मल्लय - पत्थी - केयूर-मसूर-साणय-किलिंजा ।
धय - दीवि - [3]चक्कवायस्सिगाल - सरिसा महाभीमा ।।३०६।।

ग्रज्ज-खर-करह-सरिसा[4], संदोल ग्र-रिक्ख-संणिहायारा ।
छस्सत्तम - पुढवीणं, [5]दुरिक्ख - णिज्जा महाघोरा ।।३०७।।

ग्रर्थ—छठी ग्रौर सातवीं पृथिवी की जन्म-भूमियाँ झालर (वाद्य-विशेष), मल्लक (पात्र-विशेष), बाँस का बना हुग्रा पात्र, केयूर, मसूर, शाणक, किलिंज (तृण की बनी बड़ी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाल, शृगाल, ग्रज, खर, करभ, संदोलक (झूला) ग्रौर रीछ के सदृश हैं। ये जन्म-भूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एवं महाभयानक हैं ।।३०६-३०७।।

करवत्त-सरिच्छाग्रो, ग्रंते वट्टा समंतदो[6] ठाग्रो ।
वज्जमईग्रो णारय-जम्मण-भूमीग्रो [7]भीमाग्रो ।।३०८।।

ग्रर्थ—नारकियों की (उपर्युक्त) जन्म-भूमियाँ ग्रन्त में करोंत के सदृश, चारों ग्रोर से गोल, वज्रमय, कठोर ग्रौर भयंकर हैं ।।३०८।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. ग्रंतंपुढ । [2] ज. ठ. मल्लरि, मल्लय, क. मल्लय पक्खी । [3] द. चक्क-वायसीगाल । ज. क. ठ. चक्कचायासीगाल । ब. चक्कचावासीगाल । [4] क. ज. ठ. सरिछा संदोलग्र । [5] द. धुरिक्खणिज्जा [6] द. समंतदाऊ । [7] द. ब. क. ज. ठ. भीमाए ।

नरकों में दुर्गन्ध

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ट-मज्जार-मेस-पहुदीणं ।
[1]कुथिताणं गंधादो, णिरए गंधा अणंतगुणा ॥३०९॥

अर्थ—बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिलाव और मेंढ़े आदि के सड़े-गले शरीरों की दुर्गन्ध की अपेक्षा नरकों में अनन्तगुणी दुर्गन्ध है ॥३०९॥

जन्म-भूमियों का विस्तार

पण-कोस-वास-जुत्ता, होंति जहण्णम्हि जम्म-भूमीओ ।
जेट्ठे [2]चउस्सयाणि, दह-पण्णरसं च मज्झिमए ॥३१०॥

। ५ । ४०० । १०-१५ ।

अर्थ—नारकी जीवों की जन्म-भूमियों का विस्तार जघन्यतः पाँच कोस, उत्कृष्टतः चार सौ कोस और मध्यम रूप से दस-पन्द्रह कोस प्रमाण वाला है ॥३१०॥

विशेषार्थ—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों के ऊपर जो जन्म-भूमियाँ हैं, उनका जघन्य विस्तार ५ कोस, मध्यम विस्तार १०-१५ कोस और उत्कृष्ट विस्तार ४०० कोस प्रमाण है।

जन्म-भूमियों की ऊँचाई एवं आकार

जम्मण-खिदीण उदया, णिय-णिय-रुंदाणि पंच-गुणिदाणि ।
सत्त-ति-दुगेक्क-कोणा[3], पण-कोणा होंति एदाओ ॥३११॥

। २५ । २००० । ५०-७५ ॥ ७ । ३ । २ । १ । ५ ।

अर्थ—जन्म-भूमियों की ऊँचाई अपने-अपने विस्तार की अपेक्षा पाँच गुनी है। ये जन्म-भूमियाँ सात, तीन, दो, एक और पाँच कोन वाली हैं ॥३११॥

विशेषार्थ—जन्म-भूमियों की जघन्य ऊँचाई (५×५)=२५ कोस या ६$\frac{१}{४}$ योजन, मध्यम ऊँचाई (१०×५=५०), (१५×५) -७५ कोस अथवा १२$\frac{१}{२}$, १८$\frac{३}{४}$ योजन और उत्कृष्ट ऊँचाई

---

[1] द. कुधिताणं । [2] द. ज. क. चउस्सयाणि । ठ. चउसयाणि । [3] द. ब. कोणे ।

(४००× ५)=२००० कोस अथवा ५०० योजन प्रमाण है। वे जन्म-भूमियाँ ७ । ३ । २ । १ और ५ कोन वाली हैं ।

जन्म-भूमियों के द्वार-कोण एवं दरवाजे

एक्क दु ति पंच सत्त य, जम्मण-खेत्तेसु दार-कोणाणि ।
तेत्तियमेत्ता दारा, सेढीबद्धे पइण्णए एवं ।।३१२।।

।। १ । २ । ३ । ५ । ७ ।।

अर्थ—जन्म-भूमियों में एक, दो, तीन, पाँच और सात द्वारकोण तथा इतने ही दरवाजे होते हैं, इस प्रकार की व्यवस्था केवल श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों में ही है ।।३१२।।

ति-द्वार-ति-कोणाओ, इंदय-णिरयाण[1] जम्म-भूमीओ ।
णिच्चंधयार-बहुला, [2]कत्थुरीहिंतो अणंत-गुणो ।।३१३।।

।। जम्मण-भूमी गदा ।।१२।।

अर्थ—इन्द्रक बिलों की जन्म-भूमियाँ तीन द्वार और तीन कोनों से युक्त हैं। उक्त सम्पूर्ण जन्म-भूमियाँ नित्य ही कस्तूरी से भी अनन्तगुणित काले अन्धकार से व्याप्त हैं ।।३१३।।

।। इसप्रकार जन्मभूमियों का वर्णन समाप्त हुआ ।।१२।।

नरकों के दुःखों का वर्णन

पावेणं णिरय-बिले, जादूणं तो[3] मुहुत्तमेत्तेण ।
छप्पज्जत्ति पाविय, आकस्सिय-भय-जुदो-होदि[4] ।।३१४।।

भीदीए कंपमाणो, चलिदुं दुक्खेण [5]पेल्लिओ संतो ।
छत्तीसाउह-मज्झे, पडिदूणं तत्थ उप्पलइ ।।३१५।।

---

[1] द. ब. क. णिरयाणि, ज. ठ. णिरायाणि । [2] क. ज. ठ. कच्छुरी । [3] द. तामभुत्तणं मेत्ते, ब. क. ज. ठ. ता मुहुत्तणं-मेत्ते । [4] ब. होंदि । [5] द. पदिओ, ब. पच्चिओ, क. पच्चिउ, ज. पव्विओ, ठ. पव्विउ ।

अर्थ—नारकी जीव पाप से नरकबिल में उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त मात्र काल में छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है। भय से काँपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिए प्रस्तुत होकर छत्तीस आयुधों के मध्य में गिरकर वहाँ से उछलता है ।।३१४-३१५।।

उच्छेह-जोयणाणि, सत्त धणू छस्सहस्स-पंच-सया ।
उप्पलइ पढम-खेत्ते, दुगुणं दुगुणं कमेण सेसेसु ।।३१६।।

।। जो ७ । ध ६५०० ।।

अर्थ—पहली पृथिवी में जीव सात उत्सेध योजन और छह हजार, पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँचा उछलता है, शेष पृथिवियों में उछलने का प्रमाण क्रमशः उत्तरोत्तर दूना-दूना है ।।३१६।।

विशेषार्थ—घर्मा पृथ्वी के नारकी ७ उत्सेध योजन ३$\frac{1}{4}$ कोस, वंशा के १५ योजन २$\frac{1}{2}$ कोस, मेघा के ३१ योजन १ कोस, अञ्जना के ६२$\frac{1}{2}$ योजन, अरिष्टा के १२५ योजन, मघवी के २५० योजन और माघवी पृथ्वी के नारकी जीव ५०० योजन ऊँचे उछलते हैं। लीख, जूं एवं जव आदि की परिभाषा से सिद्ध किया गया अंगुल उत्सेधांगुल कहलाता है। नारकियों के शरीर की ऊँचाई और उनके निवास (बिलों) स्थानों का माप इसी उत्सेधांगुल से होता है, अतः उछलने का माप भी उत्सेधांगुल से दिया गया है।

दट्ठूण मय-सिलिबं, जह वग्घो तह पुराण-णेरइया ।
णव-णारयं णिसंसा, णिब्भच्छंता पधावंति ।।३१७।।

अर्थ—जैसे व्याघ्र, मृगशावक को देखकर उस पर झपटता है, वैसे ही क्रूर पुराने नारकी नये नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते हैं ।।३१७।।

साण-गणा एक्केक्के, दुक्खं [1]दावंति दारुण-पयारं ।
तह अण्णोण्णं णिच्चं, दुस्सह - पीडाओ कुव्वंति ।।३१८।।

अर्थ—जिस प्रकार कुत्तों के झुण्ड एक दूसरे को दारुण दुःख देते हैं उसी प्रकार वे नारकी भी नित्य ही परस्पर एक दूसरे को असह्य रूप से पीड़ित किया करते हैं ।।३१८।।

चक्क-सर-सूल-तोमर-मोग्गर-करवत्त- [2]कोंत-सूईणं ।
मुसलासि-प्पहुदीणं, वण-णग- [3]दावाणलादीणं ।।३१९।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. धावंति। २. द. कुंत। ३. द. ब. क. ज. ठ. दावाणणादीणं।

वय-वग्घ-तरच्छ सिगाल-साण मज्जार - सीह- [1]पक्खीणं ।
[2]अण्णोण्णं च सया ते, णिय-णिय-देहं विगुव्वंति ।।३२०।।

अर्थ—वे नारकी जीव, चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोंत, भाला, सुई, मूसल और तलवार आदिक शस्त्रास्त्र रूप वन एवं पर्वत की आग रूप तथा भेड़िया, व्याघ्र, तरक्ष(श्वापद), शृगाल, कुत्ता, बिलाव और सिंह आदि पशुओं एवं पक्षियों के समान परस्पर सदैव अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं ।।३१९-३२०।।

गहिर-बिल- धूम-मारुद-अइतत्त-कहल्लि-जंत-चुल्लीणं[3] ।
कंडणि-पीसणि-दव्वीण, रूवमण्णं विकुव्वंति ।।३२१।।

अर्थ—अन्य नारकी जीव, गहरे बिल,धुँआ, वायु, अत्यन्त तपे हुए खप्पर, यंत्र, चूल्हे, कण्डनी (एक प्रकार का कूटने का उपकरण), चक्की और दर्वी (वर्छी) आकाररूप अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं ।।३२१।।

सूवर-वणग्गि-सोणिद-किमि-सरि-दह-कूव- [4]वाइ-पहुदीणं ।
पुह-पुह-रूव-विहीणा, णिय-णिय देहं पकुव्वंति ।।३२२।।

अर्थ—नारकी जीव शूकर, दावानल तथा शोणित और कीड़ों से युक्त नदी, तालाब, कूप एवं वापी आदि रूप पृथक्-पृथक् रूप से रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। तात्पर्य यह है कि नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है, देवों के सदृश उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती ।।३२२।।

पेच्छिय पलायमाणं, णारइयं वग्घ-केसरि-प्पहुदी ।
वज्जमय-वियल-तोंडा, [5]कत्थ वि भक्खंति रोसेण ।।३२३।।

अर्थ—वज्रमय विकट मुखवाले व्याघ्र और सिंहादिक, पीछे को भागने वाले दूसरे नारकी को कहीं पर भी क्रोध से खा डालते हैं ।।३२३।।

पीलिज्जंते[6] केई, जंत-सहस्सेहिं विरस-तिलवंता ।
अण्णे हम्मंति तहिं, अवरे छेज्जंति विविह-भंगेहिं ।।३२४।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. पसूणं । २. द. अण्णाणं । ३. ब. जंतच्चूलीणं । ४. द. कूववाव । ५. द. तुंडो ग्वत्थवि । क. तोंडो कत्थवि, ज. ठ. तोंडे कत्थवि । ६. द. ठ. पालिज्जंते ।

अर्थ—चिल्लाते हुए कितने ही नारकी जीव हजारों यंत्रों (कोल्हुओं) में तिल की तरह पेल दिये जाते हैं। दूसरे नारकी जीव वहीं पर मारे जाते हैं और इतर नारकी विविध प्रकार से छेदे जाते हैं ।।३२४।।

अण्णोण्णं बज्झंते, वज्जोवम-संखलाहिं थंभेसु ।
पज्जलिदम्मि हुदासे, केई छुब्भंति दुप्पिच्छे ।।३२५।।

अर्थ—कई नारकी परस्पर वज्रतुल्य साँकलों द्वारा खम्भों से बाँधे जाते हैं और कई अत्यन्त जाज्वल्यमान दुष्प्रेक्ष्य अग्नि में फेंके जाते हैं ।।३२५।।

फालिज्जंते केई, दारुण-करवत्त-कंटग्ग-मुहेहिं ।
अण्णे भयंकरेहिं, विज्झंति विचित्त-भल्लेहिं ।।३२६।।

अर्थ—कई नारकी विदारक करोंत (आरी) के काँटों के मुखों से फाड़े जाते हैं और इतर नारकी भयंकर और विचित्र भालों से बींधे जाते हैं ।।३२६।।

लोह-कडाहावट्ठिद-तेल्ले तत्तम्मि के वि छुब्भंति ।
[1]घेत्तूणं पच्चंते, जलंत-जालुक्कडे जलणे ।।३२७।।

अर्थ—कितने ही नारकी जीव लोहे के कड़ाहों में स्थित गरम—तेल में फेंके जाते हैं और कितने ही जलती हुई ज्वालाओं से उत्कट अग्नि में पकाये जाते हैं ।।३२७।।

इंगालजाल-मुम्मुर-अग्गी-दज्झंत-मह-सरीरा ते ।
सीदल-जल-मण्णंता, धाविय पविसंति वइतरिणिं ।।३२८।।

अर्थ—कोयले और उपलों की आग में जलते हुए स्थूल शरीर वाले वे नारकी जीव शीतल जल समझते हुए वैतरिणी नदी में दौड़कर प्रवेश करते हैं ।।३२८।।

कत्तरि-सलिलायारा, णारइया तत्थ ताण अंगाणि ।
छिंदंति [2]दुस्सहावो, पावंता विविह-पीडाओ ।।३२९।।

---

१. द. पुरूणं २. द. दुस्सहावे ।

अर्थ—उस वैतरिणी नदी में कर्तरी (कैंची) के समान तीक्ष्ण जल के आकार परिणत हुए दूसरे नारकी उन नारकियों के शरीरों को अनेक प्रकार की दुस्सह पीड़ाओं को पहुँचाते हुए छेदते हैं ॥३२९॥

जलयर-कच्छव-मंडुक-मयर-पहुदीण विविह[1] - रूवधरा ।
अण्णोण्णं [2]भक्खंते, वइतरिणि-जलम्मि[3] णारइया ॥३३०॥

अर्थ—वैतरिणी नदी के जल में नारकी कछुआ, मेंढक और मगर आदि जलचर ज़ीवों के विविध रूप धारण-कर एक दूसरे का भक्षण करते हैं ॥३३०॥

वइतरणी-सलिलादो, णिस्सरिदा पव्वदं पलावंति ।
तस्सिहरमारुहंते, तत्तो लोट्ठंति अण्णोण्णं ॥३३१॥

गिरि-कंदरं विसंतो, खज्जंते वग्घ-सिंह, पहुदीहिं ।
वज्जुक्कड-दाढेहिं, दारुण-दुक्खाणि सहमाणा ॥३३२॥

अर्थ--(पश्चात्) वैतरणी के जल से निकलते हुए (वे नारकी) पर्वत की ओर भागते हैं। वे उन पर्वतों के शिखरों पर चढ़ते हैं तथा वहाँ से एक - दूसरे को गिराते हैं। (इस प्रकार) दारुण दुःखों को सहते हुए (वे नारकी) पर्वत की गुफाओं में प्रवेश करते हैं। वहाँ वज्र सदृश प्रचण्ड दाढ़ों वाले व्याघ्रों एवं सिंहों आदि के द्वारा खाये जाते हैं ॥३३१-३३२॥

विउल-सिला-विच्चाले, दट्ठूण बिलाणि [4]झत्ति पविसंति ।
तत्थ वि विसाल-जालो, उट्ठदि सहसा-महाअग्गी ॥३३३॥

अर्थ—पश्चात् वे नारकी विस्तीर्ण शिलाओं के बीच में बिलों को देखकर शीघ्र ही उनमें प्रवेश करते हैं परन्तु वहाँ पर भी सहसा विशाल ज्वालाओं वाली महान् अग्नि उठती है ॥३३३॥

दारुण-हुदास-जाला-मालाहिं दज्झमाण-सव्वंगा ।
सीदल-छायं मण्णिय, असिपत्त-वणम्मि पविसंति ॥३३४॥

---

[1] द. विविहस्सयरूवधरा । [2] द. भक्खंता । [3] द. ब. क. ज. ठ. जलचरंमि । [4] द. झंति, ब. क. ज. ठ. जंति ।

अर्थ—पुनः जिनके सम्पूर्ण अंग भीषण अग्नि की ज्वाला-समूहों से जल रहे हैं, ऐसे वे नारकी (वृक्षों की) शीतल छाया जानकर असिपत्रवन में प्रवेश करते हैं ॥३३४॥

तत्थ वि विविह-तरूणं, पवण-हदा तवअ-पत्त-फल-पुंजा ।
णिवडंति ताण उवरिं, दुप्पिच्छा वज्जदंडे व ॥३३५॥

अर्थ—वहाँ पर भी विविध प्रकार के वृक्ष, गुच्छे, पत्र और फलों के समूह पवन से ताड़ित होकर उन नारकियों के ऊपर दुष्प्रेक्ष्य वज्रदण्ड के समान गिरते हैं ॥३३५॥

चक्क-सर-कणय-तोमर-मोग्गर-करवाल-कोंत-मुसलाणि ।
अण्णाणि वि ताण सिरं, असिपत्त-वणादु णिवडंति ॥३३६॥

अर्थ—उस असिपत्र-वन से चक्र, बाण, कनक (शलाकाकार ज्योतिःपिंड), तोमर (बाण-विशेष), मुद्‌गर, तलवार, भाला, मूसल तथा अन्य और भी अस्त्र-शस्त्र उन नारकियों के सिरों पर गिरते हैं ॥३३६॥

छिण्ण[1] - सिरा भीण्णकरा, [2]तुडिदच्छा लंबमाण-अंतचया ।
रुहिरारुण-घोरतणू, णिस्सरणा तं वणं[3] पि मुंचंति ॥३३७॥

अर्थ - अनन्तर छिन्न सिर वाले, खण्डित हाथ वाले, व्यथित नेत्र-वाले, लटकती हुई आँतों के समूह वाले और खून से लाल तथा भयानक वे नारकी अशरण होते हुए उस वन को भी छोड़ देते हैं ॥३३७॥

गिद्धा गरुडा काया, विहगा अवरे वि वज्जमय-तुंडा ।
कादूण [4]खंड-खंडं, ताणंगं ताणि कवलंति ॥३३८॥

अर्थ—गृद्ध, गरुड़, काक तथा और भी वज्रमय मुख (चोंच) वाले पक्षी नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके खा जाते हैं ॥३३८॥

---

[1] ब. क. ज. ठ. णिंच्छिण्णसिरा । [2] द. ब. क. ज. ठ. बुदियंछा । [3] द. ब. क. ज. ठ. तव्वणम्मि ।
[4] द. खंडु-दंताणंग, ब. क. ज. ठ. खडु-दता ताणगं ।

अंगोवंगट्ठीणं, चुण्णं कादूण चंड - घादेहिं ।
विउण - वणाणं मज्झे, छुहंति बहुखार-दव्वाणि ।।३३९।।

जइ विलवयंति करुणं, [1]लग्गंते जइ वि चलण-जुगलम्मि ।
तह विह सण्णं खंडिय, छुहंति चुल्लीसु णारइया ।।३४०।।

अर्थ—अन्य नारकी उन नारकियों के अंगों और उपांगों की हड्डियों का प्रचंड घातों से चूर्ण करके विस्तृत घावों के मध्य में क्षार-पदार्थों को डालते हैं, जिससे वे नारकी करुणापूर्ण विलाप करते हैं और चरणों में आ लगते हैं, तथापि अन्य नारकी उसी खिन्न अवस्था में उन्हें खण्ड-खण्ड करके चूल्हे में डाल देते हैं ।।३३९-३४०।।

लोहमय-जुवइ-पडिमं, परदार-रदाण[2] गाढमंगेसु ।
लायंते अइ-तत्तं, खिवंति जलणे जलंतम्मि ।।३४१।।

अर्थ—पर-स्त्री में आसक्त रहने वाले जीवों के शरीरों में अतिशय तपी हुई लोहमय युवती की मूर्ति को दृढ़ता से लगाते हैं और उन्हें जलती हुई आग में फेंक देते हैं ।।३४१।।

मंसाहार-रदाणं, णारइया ताण अंग-मंसाइं ।
छेत्तूण तम्मुहेसुं, छुहंति रुहिरोल्लरूवाणिं ।।३४२।।

अर्थ—जो जीव पूर्व भव में मांस-भक्षण के प्रेमी थे, उनके शरीर के मांस को काटकर अन्य नारकी रक्त से भीगे हुए उन्हीं मांस-खंडों को उन्हीं के मुखों में डालते हैं ।।३४२।।

[3]महु-मज्जाहाराणं, णारइया तम्मुहेसु अइ-तत्तं ।
लोह-दवं[4] घल्लंते, विलीयमाणंग - पब्भारं ।।३४३।।

अर्थ--मधु और मद्य का सेवन करने वाले प्राणियों के मुखों में नारकी अत्यन्त तपे हुए द्रवित लोहे को डालते हैं, जिससे उनके संतप्त अवयव-समूह भी पिघल जाते है ।।३४३।।

करवाल-पहर-भिण्णं, कूव-जलं जह पुणो वि संघडदि ।
तह णारयाण अंगं, छिज्जंतं विविह-सत्थेहिं[5] ।।३४४।।

---

[1] द. असंगते, ब. क. ज. ठ. अगंते । [2] द. परदार-रदाणि । [3] ज. ठ. मुहु । [4] ब. लोहदव्वं ।
[5] द. विविह-संत्तेहिं ।

अर्थ—जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुए का जल फिर से मिल जाता है, उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रों से छेदा गया नारकियों का शरीर भी फिर से मिल जाता है। अर्थात् अनेकानेक शस्त्रों से छेदने पर भी नारकियों का अकाल-मरण कभी नहीं होता ।।३४४।।

कच्छुरि-करकच - [1]सूई-खदिरंगारादि-विविह-भंगीहिं ।
अण्णोण्ण[2] - जादणाओ, कुणंति णिरएसु णारइया ।।३४५।।

अर्थ—नरकों में कच्छुरि (कपिकच्छु केवाँच अर्थात् खाज पैदा करने वाली औषधि), करोंत, सुई और खैर की आग इत्यादि विविध प्रकारों से नारकी परस्पर यातनाएँ दिया करते हैं ।।३४५।।

अइ-तित्त-कडुव-कत्थरि-सत्तीदो[3] मट्टियं अणंतगुणं ।
घम्माए णारइया, थोवं ति चिरेण भुंजंति ।।३४६।।

अर्थ—घर्मा पृथ्वी के नारकी अत्यन्त तिक्त और कड़वी कत्थरि (कचरी या अचार ?) की शक्ति से भी अनन्तगुनी तिक्त और कड़वी थोड़ी-थोड़ी मिट्टी चिरकाल खाते रहते हैं ।।३४६।।

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ठ-मज्जार - [4]मेस-पहुदीण ।
कुहिताणं गंधादो, अणंत - गुणिदो हवेदि आहारो ।।३४७।।

अर्थ—नरकों में बकरी, हाथी, भैंस, घोड़ा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेढ़े आदि के सड़े हुए शरीरों को गंध से अनन्तगुनी गन्धवाला आहार होता है ।।३४७।।

अदि-कुणिम-मसुह-मण्णं, रयणप्पह-पहुदि जाव चरिमखिदि ।
संखातीद - गुणेहिं, दुगुच्छणिज्जो हु आहारो ।।३४८।।

अर्थ—रत्नप्रभा से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा ग्लानिकर अन्य प्रकार का ही आहार होता है ।।३४८।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. सूजीए । २. द. ब. अण्णोण । ३. द. संत्तीदोमंघिअं, ब. क. ज. ठ. संतीदोवमंधियं
४. द. ब. क. तुरग । ५. ज. ठ. उपहुदाण ।

प्रत्येक पृथिवी के आहार की गंध-शक्ति का प्रमाण

घम्माए आहारो, कोसस्सब्भंतरम्मि ठिद-जीवे ।
इह [1]मारइ गंधेणं, सेसे कोसद्ध-वड्ढिया सत्ती ॥३४९॥

॥ १ । $\frac{३}{२}$ । २ । $\frac{५}{२}$ । ३ । $\frac{७}{२}$ । ४ ॥

अर्थ—घर्मा पृथिवी में जो आहार है, उसकी गंध से यहाँ पर (मध्यलोक में) एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे शेष दूसरी आदि पृथिवियों में इसकी घातक शक्ति आधा आधा कोस और भी बढ़ती गयी है ॥३४९॥

विशेषार्थ—प्रथम नरक के नारकी जिस मिट्टी का आहार करते हैं, वह मिट्टी अपनी दुर्गन् से मनुष्यक्षेत्र के एक कोस में स्थित जीवों को, द्वितीय नरक की मिट्टी १$\frac{1}{2}$ कोस में, तृतीय की २ कोस में, चतुर्थ की २$\frac{1}{2}$ कोस में, पंचम की ३ कोस में, षष्ठ की ३$\frac{1}{2}$ कोस में और सप्तम नरक की मिट्टी ४ कोस में स्थित जीवों को मार सकती है ।

असुरकुमार-देवों में उत्पन्न होने के कारण

पुव्वं बद्ध-सुराऊ, अणंतअणुबंधि-अण्णदर-उदया ।
णासिय-ति-रयण-भावा-णर-तिरिया केइ असुर-सुरा ॥३५०॥

अर्थ—पूर्व में देवायु का बंध करने वाले कोई-कोई, मनुष्य और तिर्यंच अनन्तानुबन्धी में से किसी एक का उदय आजाने से रत्नत्रय के भाव को नष्ट करके असुर-कुमार जाति के देव होते हैं ॥३५०॥

असुरकुमार-देवों की जातियाँ एवं उनके कार्य

सिकदाणणासिपत्ता[2], महबल-काला य साम-सबला[3] हि ।
रुद्दंबरिसा विलसिद-णामो महरुद्द-खर-णामा ॥३५१॥

---

[1] द. ब. मातहि ।

[2] अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबलेऽवि य ।
रोद्दोवरुद्द काले य महाकालेत्ति आवरे ॥६८॥
असिपत्ते धणु कुंभे वालुवेयरणीवि य ।
खरस्सरे महाघोसे एवं पण्णरसाहिया ॥६९॥ सूत्रकृतांग-निर्युक्ति, प्रवचनसारोद्धार — पृ० ३२१

[3] द. ब. क. ज. ठ. सवलं ।

कालग्गिरुद्द-णामा, कुंभो[1] वेतरणि-पहुदि-असुर-सुरा ।
गंतूण वालुकंतं, णारइयाणं[2] पकोपंति ।।३५२।।

अर्थ—सिकतानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल, श्याम, सबल, रुद्र, अम्बरीष, विलसित, महारुद्र, महाखर, काल, अग्निरुद्र, कुम्भ और वैतरणी आदिक असुरकुमार जाति के देव तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवी तक जाकर नारकी जीवों को कुपित करते हैं ।।३५१-३५२।।

इह खेत्ते जह मणुवा, पेच्छंते मेस-महिस-जुद्धादिं ।
तह णिरये असुर-सुरा, णारय-कलहं पतुट्ठ-मणा ।।३५३।।

अर्थ—इस क्षेत्र (मध्यलोक) में जैसे मनुष्य, मैंढे और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार नरक में असुरकुमार जाति के देव नारकियों के युद्ध को देखते हैं और मन में सन्तुष्ट होते हैं ।।३५३।।

नरकों में दुःख भोगने की अवधि

एक्क ति सग दस सत्तरस, [3]तह बावीसं होंति तेत्तीसं ।
जा [4]सायर-उवमाणा, पावंते ताव मह-दुक्खं ।।३५४।।

अर्थ—रत्नप्रभादि पृथिवियों में नारकी जीव जब तक क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तैंतीस सागरोपम पूर्ण होते हैं, तब तक बहुत भारी दुःख उठाते हैं ।।३५४।।

णिरएसु णत्थि सोक्खं, [5]णिमेस-मेत्तं पि णारयाण सदा ।
दुक्खाइं दारुणाइं, वड्ढंते पच्चमाणाणं ।।३५५।।

अर्थ—नरकों के दुःखों में पचने वाले नारकियों को क्षणमात्र के लिए भी सुख नहीं है; अपितु उनके दारुण-दुःख बढ़ते ही रहते हैं ।।३५५।।

कदलीघादेण विणा, णारय-गत्ताणि आउ-अवसाणे ।
मारुद-पहदब्भाइ व, णिस्सेसाणि विलीयंते ।।३५६।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. कुंभी । २. द. णारयप्पकोपंति । ३. द. तसय । ४. द. जह अरउवभा, ब. क. ज. ठ. जह अरडवुमा । ५. द. ब. क. ज. ठ. अणुमिसमेत्तं पि ।

अर्थ—नारकियों के शरीर कदलीघात (अकालमरण) के बिना पूर्ण आयु के अन्त में वायु से ताड़ित मेघों के सदृश सम्पूण विलीन हो जाते हैं ॥३५६॥

एवं बहुविह-दुक्खं, जीवा पावंति पुव्व-कद दोसा ।
तद्दुक्खस्स सरूवं, को सक्कइ वण्णिदुं सयलं ॥३५७॥

अर्थ—इस प्रकार पूर्व में किये गये दोषों से जीव (नरकों में) नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करते हैं, उस दुःख के सम्पूर्ण स्वरूप का वर्णन करने में कौन समर्थ है? ॥३५७॥

नरकों में उत्पन्न होने के अन्य भी कारण

सम्मत्त-रयण-पव्वद-सिहरादो मिच्छभाव-खिदि-पडिदो ।
णिरयादिसु अइ-दुक्खं, पाविय[1] पविसइ णिगोदम्मि ॥३५८॥

अर्थ—सम्यक्त्व रूपी रत्नपर्वत के शिखर से मिथ्यात्व-भावरूपी पृथिवी पर पतित हुआ प्राणी नारकादि पर्यायों में अत्यन्त दुःख-प्राप्त कर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है ॥३५८॥

सम्मत्तं देसजमं, लहिदूणं[3] विसय-हेदुणा चलिदो ।
णिरयादिसु अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३५९॥

अर्थ—सम्यक्त्व और देशचारित्र को प्राप्त कर जीव विषयसुख के निमित्त (सम्यक्त्व और चारित्र से) चलायमान हुआ नरकों में अत्यन्त दुःख भोगकर (परम्परा से) निगोद में प्रविष्ट होता है ॥३५९॥

सम्मत्तं सयलजमं, लहिदूणं विसय-कारणा चलिदो ।
णिरयादिसु[3] अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३६०॥

अर्थ—सम्यक्त्व और सकल संयम को भी प्राप्तकर विषयों के कारण उनसे चलायमान होता हुआ यह जीव नरकों में अत्यन्त दुःख पाकर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है ॥३६०॥

---

१. द. पावी पइसं णिगोदम्मि । २. द. क. ज. ठ. लद्धूणं । ३. द. ज. ठ. णिरयादी ।

सम्मत्त-रहिय-चित्तो, जोइस-मंतादिएहि वट्टंतो ।
णिरयादिसु बहुदुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि ।।३६१।।

।। दुक्ख-सरूवं समत्तं ।।१३।।

अर्थ—सम्यग्दर्शन से विमुख चित्तवाला, ज्योतिष और मंत्रादिकों से आजीविका करता हुआ जीव, नरकादिक में बहुत दुःख पाकर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है ।।३६१।।

।। दुःख के स्वरूप का वर्णन समाप्त हुआ ।।१३।।

नरकों में सम्यक्त्व-ग्रहण के कारण

घम्मादी-खिदि-तिदये, णारइया मिच्छ-भाव-संजुत्ता ।
जाइ-भरणेण केई, केई दुव्वार-वेदणाभिहदा ।।३६२।।

केई देवाहिंतो, धम्म - णिबद्धा कहा व सोदूणं ।
गेण्हंते सम्मत्तं, अणंत - भव - चूरण - णिमित्तं ।।३६३।।

अर्थ—घर्मा आदि तीन पृथिवियों में मिथ्यात्वभाव से संयुक्त नारकियों में से कोई जाति-स्मरण से, कोई दुर्वार वेदना से और कोई धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओं को देवों से सुनकर अनन्त भवों को चूर्ण करने में निमित्तभूत सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं ।।३६२-३६३।।

पंकपहा[1] -पहुदीणं, णारइया तिदस-बोहणेण बिणा ।
सुमरिदजाई दुक्खप्पहदा गेण्हंति[2] सम्मत्तं ।।३६४।।

।। दंसण-गहणं[3] समत्तं ।।१४।।

अर्थ—पंकप्रभादिक शेष चार पृथिवियों के नारकी जीव देवकृत प्रबोध के विना जाति-स्मरण और वेदना के अनुभव से सम्यग्दशंन ग्रहण करते हैं ।।३६४।।

।। सम्यग्दर्शन के ग्रहण का कथन समाप्त हुआ ।।१४।।

---

[1] क. मही [2] द. गेण्णति ; [3] क. ब. मग्गदं । द. ज. ठ. मग्गणं ।

नारकी-जीवों की योनियों का कथन

जोणीओ णारइयाणं, उवदे सीद-उण्ह अच्चित्ता ।
संघडया सामण्णे, चउ-लक्खे होंति हु विसेसे ।।३६५।।

।। जोणी समत्ता ।।१५।।

अर्थ—सामान्य रूप से नारकियों की योनियों की संरचना शीत, उष्ण और अचित्त कही गयी हैं। विशेष रूप से उनकी संख्या चार लाख प्रमाण है ।।३६५।।

।। इस प्रकार योनि का वर्णन समाप्त हुआ ।।१५।।

नरकगति में उत्पत्ति के कारण

मज्जं पिबंता, पिसिदं लसंता,
जीवे हणंता, मिगयाणुरत्ता ।
णिमेस-मेत्तेण[1], सुहेण[2] पावं,
पावंति दुक्खं, णिरए अणंतं ।।३६६।।

अर्थ—मद्य पीते हुए, मांस की अभिलाषा करते हुए, जीवों का घात करते हुए और मृगया (शिकार) में अनुरक्त होते हुए जो मनुष्य क्षणमात्र के सुख के लिए पाप उत्पन्न करते हैं, वे नरक में अनन्त दुःख उठाते हैं ।।३६६।।

लोह-कोह-भय-मोह-बलेणं, जे वदंति वयणं पि असच्चं ।
ते णिरंतर-भये[3] उरु-दुक्खे, दारुणम्मि णिरयम्मि पडंते ।।३६७।।

अर्थ—जो जीव लोभ, क्रोध, भय अथवा मोह के बल से असत्य वचन बोलते हैं, वे निरन्तर भय उत्पन्न करने वाले, महान् कष्टकारक और अत्यन्त भयानक नरक में पड़ते हैं ।।३६७।।

छेत्तूण भित्तिं, वधिदूण [4]पोयं,
पट्टादि घेत्तूण, धणं हरंता ।
अण्णेहि अण्णाअसएहि[5] मूढा,
भुंजंति दुक्खं, णिरयम्मि घोरे ।।३६८।।

---

१. ब. क. ज. ठ. मोहेण । २. द. सुह ण पावंति । ३. भयं । ४. द. क. ज. ठ. पिपं, ब. पियं
५. द. ब. क. ज. ठ. असहेइ ।

अर्थ—भीत को छेदकर अर्थात् सेंध लगाकर, प्रियजन को मारकर और पट्टादिक को ग्रहण करके, धन का हरण करने वाले तथा अन्य भी ऐसे ही सैकड़ों अन्यायों से, मूर्ख लोग भयानक नरक में दुःख भोगते हैं ।।३६८।।

लज्जाए चत्ता मयणेण मत्ता, तारुण्ण-रत्ता परदार-सत्ता ।
रत्ती-दिणं मेहुण-माचरंता, पावंति दुक्खं णिरएसु घोरं ।।३६९।।

अर्थ—लज्जा से रहित, काम से उन्मत्त, जवानी में मस्त, परस्त्री में आसक्त और रात-दिन मैथुन का सेवन करने वाले प्राणी नरकों में जाकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं ।।३६९।।

पुत्ते कलत्ते सुजणम्मि मित्ते, जे जीवणत्थं पर-वंचणेणं ।
वड्ढंति तिण्णा दविणं हरंते, ते तिव्व-दुक्खे णिरयम्मि जंति ।।३७०।।

अर्थ--पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरों को ठगते हुए अपनी तृष्णा बढ़ाते हैं तथा पर के धन का हरण करते हैं, वे तीव्र दुःख को उत्पन्न करने वाले नरक में जाते हैं ।।३७०।।

अधिकारान्त मङ्गलाचरण

संसारण्णवमहणं, तिहुवण-भव्वाण [1]पेम्म-सुह-जणणं ।
संदरिसिय-सयलट्ठं, संभवदेवं णमामि तिविहेण ।।३७१।।

एवमाइरिय-परंपरा-गय-तिलोयपण्णत्तीए णारय-लोय-सरूव-णिरूवण-पण्णत्ती णाम-

।। बिदुओ महाहियारो समत्तो ।।२।।

अर्थ—संसार-समुद्र का मथन करने वाले (वीतराग), तीनों लोकों के भव्य-जनों को धर्म-प्रेम और सुख के दायक (हितोपदेशक) तथा सम्पूर्ण पदार्थों के यथार्थ स्वरूप को दिखलाने वाले (सर्वज्ञ), सम्भवनाथ भगवान को मैं (यतिवृषभ) मन, वचन और काय से नमस्कार करता हूँ ।।३७१।।

।। इस प्रकार आचार्य-परम्परागत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में "नारक-लोक-स्वरूप-निरूपण-प्रज्ञप्ति" नामक **द्वितीय महाधिकार** समाप्त हुआ ।।२।।

---

[1] द. पेमसुह ।

तदिओ महाहियारो

मङ्गलाचरण

भव्व-जण- मोक्ख-जणणं, मुणिंद-देविंद-पणद-पय-कमलं ।
णमिय अहिणंदणेसं, भावण-लोयं परूवेमो ॥१॥

अर्थ - भव्य जीवों को मोक्ष प्रदान करने वाले तथा मुनीन्द्र (गणधर) एवं देवेन्द्रों के द्वारा वन्दनीय चरण-कमल वाले अभिनन्दन स्वामी को नमस्कार करके भावन-लोक का निरूपण करता हूँ ॥१॥

भावनलोक-निरूपण में चौबीस अधिकारों का निर्देश

भावण-णिवास-खेत्तं, भवण-सुराणं[1] वियप्प - चिण्हाणि ।
भवणाणं परिसंखा, इंदाण पमाण - णामाइं ॥२॥

दक्खिण - उत्तर-इंदा, पत्तेक्कं ताण भवण-परिमाणं ।
अप्प-महद्धिय-मज्झिम-भावण-देवाण [2]भवणवासं च ॥३॥

भवणं वेदी कूडा, जिणघर - पासाद-इंद-भूदीओ ।
भवणामराण संखा, आउ - पमाणं जहा - जोग्गं ॥४॥

उस्सेहोहि-पमाणं, गुणठाणादीणि एक्क - समयम्मि ।
उपज्जण - मरणाण य, परिमाणं तह य आगमणं ॥५॥

भावणलोयस्साऊ-बंधण-पाओग्ग भाव - भेदा य ।
सम्मत्त - गहण - हेऊ, अहियारा एत्थ चउवीसं ॥६॥

---

[1] द. ब. क. पुराण । [2] द. । भवण वासं ।

अर्थ—भवनवासियों के १ निवासक्षेत्र, २ भवनवासी देवों के भेद, ३ चिह्न, ४ भवनों की संख्या, ५ इन्द्रोंका प्रमाण, ६ इन्द्रों के नाम, ७ दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र, ८ उनमें से प्रत्येक के भवनों का परिमाण, ६ अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यर्द्धिक भवनवासी देवों के भवनों का व्यास (विस्तार), १० भवन, ११ वेदी, १२ कूट, १३ जिनमन्दिर, १४ प्रासाद, १५ इन्द्रों की विभूति, १६ भवनवासी देवों की संख्या, १७ यथायोग्य आयु का प्रमाण, १८ शरीर की ऊँचाई का प्रमाण, १६ अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण, २० गुणस्थानादिक, २१ एक समय में उत्पन्न होने वालों और मरने वालों का प्रमाण तथा २२ आगमन, २३ भवनवासी देवों की आयु के बन्धयोग्य भावों के भेद और २४ सम्यक्त्व ग्रहण के कारण, (इस तीसरे महाधिकार में) ये चौबीस अधिकार हैं ।।२-६।।

भवनवासी-देवों का निवास-क्षेत्र

रयणप्पह-पुढवीए, खरभाए पंकबहुल-भागम्मि ।
भवणसुराणं भवणाइं, होंति वर-रयण-सोहाणि ।।७।।

सोलस-सहस्स-मेत्तो[1] ,खरभागो पंकबहुल-भागो वि ।
चउसीदि-सहस्साणि, जोयण-लक्खं दुवे मिलिदा ।।८।।

१६००० । ८४००० । मिलिता १ ला

।। भावण-देवाणं णिवास-खेत्तं गदं ।।१।।

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के खरभाग एवं पंकबहुल भाग में उत्कृष्ट रत्नों से शोभायमान भवनवासी देवों के भवन हैं । खर-भाग सोलह हजार (१६०००) योजन और पंकबहुल-भाग चौरासी हजार (८४०००) योजन प्रमाण मोटा है तथा इन दोनों भागों की मोटाई मिलाकर एक लाख योजन प्रमाण है ।।७-८।।

।। भवनवासी देवों के निवासक्षेत्र का कथन समाप्त हुआ ।।१।।

भवनवासी-देवों के भेद

असुरा णाग-सुवण्णा,दीओवहि-थणिद-विज्जु-दिस-अग्गी ।
वाउकुमारा परया, दस-भेदा होंति भवणसुरा ।।६।।

।। वियप्पा समत्ता ।।२।।

---

[1] द. ज. ठ मेत्ता ।

अर्थ—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार इस प्रकार भवनवासी देव दस प्रकार के हैं ॥६॥

॥ विकल्पों का वर्णन समाप्त हुआ ॥२॥

भवनवासियों के चिह्न

चूडामणि-अहि-गरुडा, करि-मयरा वड्ढमाण-वज्ज-हरी ।
कलसो तुरवो मउडे, कमसो चिण्हाणि एदाणि ॥१०॥

॥ चिण्हा समत्ता ॥३॥

अर्थ—इन देवों के मुकुटों में क्रमशः चूडामणि, सर्प, गरुड़, हाथी, मगर, वर्धमान (स्वस्तिक) वज्र, सिंह, कलश और तुरग ये चिह्न होते हैं ॥१०॥

॥ चिह्नों का वर्णन समाप्त हुआ ॥३॥

भवनवासी देवों की भवन-संख्या

चउसट्ठी चउसीदी, बाहत्तरि होंति छस्सु ठाणेसु ।
छाहत्तरि छण्णउदी, [1]लक्खाणि भवणवासि-भवणाणि ॥११॥

६४ ल । ८४ ल । ७२ ल । ७६ ल । ७६ ल । ७६ ल । ७६ ल । ७६ ल ।
७६ ल । ९६ ल ।

एदाणं[2] भवणाणं, एक्कस्सि मेलिदाण-परिमाणं ।
बाहत्तरि लक्खाणि, कोडीओ सत्त-मेत्ताओ ॥१२॥

७७२०००००

॥ भवण-संखा गदा ॥४॥

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. एक्काणि । [2] द. ज. एदाणं भवणाणेक्कस्सि । ठ. एदाणि भवणाणेक्कस्सि ।

अर्थ—भवनवासी देवों के भवनों की संख्या क्रमशः ६४ लाख, ८४ लाख, ७२ लाख, छह स्थानों में ७६ लाख और ९६ लाख है, इन सबके प्रमाण को एकत्र मिला देने पर सात करोड़, बहत्तर लाख होते हैं ॥११-१२॥

विशेषार्थ—असुरकुमार देवों के ६४,००००० , नागकुमार के ८४,०००००, सुपर्णकुमार के ७२,०००००, द्वीपकुमार के ७६,०००००, उदधिकुमार के ७६,०००००, स्तनितकुमार के ७६,०००००० विद्युत्कुमार के ७६,०००००, दिक्कुमार के ७६,०००००, अग्निकुमार के ७६,००००० और वायुकुमार देवों के ९६,००००० भवन हैं। इन दस कुलों के सर्व भवनों का सम्मिलित योग [६४ ला० + ८४ ला० + ७२ ला० + (७६ ला० × ६) + ९६ लाख =] ७,७२,००००० अर्थात् सात करोड़ बहत्तर लाख है।

॥ भवनों की संख्या का कथन समाप्त हुआ ॥४॥

भवनवासी-देवों में इन्द्र संख्या

दसु कुलेसुं पुह-पुह, दो दो[1] इंदा हवंति णियमेण ।
एक्कस्सिं [2]मिलिदा, वीस विराजंति भूदीहिं[3] ॥१३॥

॥ इंद-पमाणं समत्तं ॥५॥

अर्थ—भवनवासियों के दसों कुलों में नियम से पृथक्-पृथक् दो-दो इन्द्र होते हैं, वे सब मिलकर बीस हैं, जो अनेक विभूतियों से शोभायमान हैं ॥१३॥

॥ इन्द्रों का प्रमाण समाप्त हुआ ॥५॥

भवनवासी-इन्द्रों के नाम

पढमो हु चमर-णामो, इंदो वइरोयणो त्ति बिदिओ य ।
भूदाणंदो धरणाणंदो [4]वेणू य वेणधारी य ॥१४॥

पुण्ण-वसिट्ठ-जलप्पह-जलकंता तह य घोस-महघोसा ।
हरिसेणो हरिकंतो, अमिदगदी अमिदवाहणग्गिसिही ॥१५॥

. ब. क. दो द्दो । २. द. ब. क. ज. ठ. मेलिदा । ३. द. भूदीही । ४. द. वेणु व ।

अग्गीवाहण-णामो, वेलंब-पभंजणाभिहाणा य ।
एदे असुरप्पहुदिसु, कुलेसु दो-द्दो कमेण देविंदा ॥१६॥

॥ इंदाणं-णामाणि समत्ताणि ॥६॥

अर्थ—प्रथम चमर और द्वितीय वैरोचन नामक इन्द्र; भूतानन्द और धरणानन्द; वेणु-वेणुधारी; पूर्ण-वशिष्ठ; जलप्रभ-जलकान्त, घोष-महाघोष, हरिषेण-हरिकान्त, अमितगति-अमितवाहन, अग्निशिखी-अग्निवाहन तथा वेलम्ब और प्रभंजन नामक ये दो-दो इन्द्र क्रमशः असुरकुमारादि निकायों में होते हैं ॥१४-१६॥

॥ इन्द्रों के नामों का कथन समाप्त हुआ ॥६॥

दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रों का विभाग

दक्खिण-इंदा चमरो, भूदाणंदो य वेणु-पुण्णा य ।
जलपह-घोसा हरिसेणामिदगदी अग्गिसिहि-वेलंबा ॥१७॥

[1]वइरोअणो य धरणाणंदो तह [2]वेणुधारी-वसिट्ठा ।
जलकंत-महाघोसा, हरिकंतो अमिद-अग्गिवाहणया ॥१८॥

तह य पहंजण-णामो, उत्तर-इंदा हवंति दह एदे ।
अणिमादि-गुणेहि[3] जुदा, मणि-कुंडल-मंडिय-कबोला ॥१९॥

॥ दक्खि-उत्तर-इंदा गदा ॥७॥

अर्थ—चमर, भूतानन्द, वेणु, पूर्ण, जलप्रभ, घोष, हरिषेण, अमितगति, अग्निशिखी और वेलम्ब ये दस दक्षिण इन्द्र तथा वैरोचन, धरणानन्द, वेणुधारी, वशिष्ठ, जलकान्त, महाघोष, हरिकान्त, अमितवाहन, अग्निवाहन और प्रभंजन नामक ये दस उत्तर इन्द्र हैं। ये सभी इन्द्र अणिमादिक ऋद्धियों से युक्त और मणिमय कुण्डलों से अलंकृत कपोलों को धारण करने वाले हैं ॥१७-१९॥

॥ दक्षिण-उत्तर इन्द्रों का वर्णन समाप्त हुआ ॥७॥

---

[1] ब. वइरो अण्णो। [2] द. ब. क. ज. ठ. वेणुदारअ। [3] द. अणिमादिगुणे जुदा, ब. क. ज. ठ. अणिमादिगुणे जुत्ता।

भवन संख्या

चउतीसं[1] चउदालं, अट्ठत्तीसं हवंति लक्खाणि ।
चालीसं छट्ठाणे, तत्तो पण्णास - लक्खाणि ।।२०।।

तीसं चालं चउतीस, छस्सु[2] ठाणेसु होंति छत्तीसं ।
छत्तालं चरिमम्मि य, इंदाणं भवण-लक्खाणि ।।२१।।

३४ ल । ४४ ल । ३८ ल । ४० ल । ४० ल । ४० ल । ४० ल । ४० ल ।
४० ल । ५० ल । ३० ल । ४० ल । ३४ ल । ३६ ल । ३६ ल । ३६ ल ।
३६ ल । ३६ ल । ३६ ल । ४६ ल ।

अर्थ—चौंतीस ला०, चवालीस ला०, अड़तीस ला०, छह स्थानों में चालीस लाख, इसके आगे पचास लाख, तीस ला०, चालीस ला०, चौंतीस लाख, छह स्थानों में छत्तीस लाख और अन्त में छयालीस लाख क्रमशः दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्रों के भवनों की संख्या का प्रमाण है ।।२०-२१।।

[तालिका सामने के पृष्ठ पर देखिये]

---

[1] द. क. ज. ठ. चोत्तीसं । [2] द. ब. क. ज. ठ. छसु वि ठाण ।

भवनवासी देवों के कुल, चिह्न, भवन सं०, इन्द्र एवं उनकी भवन सं० का विवरण

क्र.सं.	कुल नाम	मुकुट चिह्न	भवन-संख्या	इन्द्र	दक्षिणेन्द्र उत्तरेन्द्र	भवन-सं०
१	असुरकुमार	चूड़ामणि	६४ लाख	१. चमर	दक्षिणेन्द्र	३४ लाख
				२. वैरोचन	उत्तरेन्द्र	३० ,,
२	नागकुमार	सर्प	८४ ,,	१. भूतानन्द	द०	४४ ,,
				२. धरणानन्द	उ०	४० ,,
३	सुपर्णकुमार	गरुड़	७२ ,,	१. वेणु	द०	३८ ,,
				२. वेणुधारी	उ०	३४ ,,
४	द्वीपकुमार	हाथी	७६ ,,	१. पूर्ण	द०	४० ,,
				२. वशिष्ठ	उ०	३६ ,,
५	उदधिकुमार	मगर	७६ ,,	१. जलप्रभ	द०	४० ,,
				२. जलकान्त	उ०	३६ ,,
६	स्तनितकुमार	वर्धमान	७६ ,,	१. घोष	द०	४० ,,
				२. महाघोष	उ०	३६ ,,
७	विद्युत्कुमार	वज्र	७६ ,,	१. हरिषेण	द०	४० ,,
				२. हरिकान्त	उ०	३६ ,,
८	दिक्कुमार	सिंह	७६ ,,	१. अमितगति	द०	४० ,,
				२. अमितवाहन	उ०	३६ ,,
९	अग्निकुमार	कलश	७६ ,,	१. अग्निशिखी	द०	४० ,,
				२. अग्निवाहन	उ०	३६ ,,
१०	वायुकुमार	तुरग	९६ ,,	१. वेलम्ब	द०	५० ,,
				२. प्रभंजन	उ०	४६ ,,

निवासस्थानों के भेद एवं स्वरूप

भवणा भवण-पुराणि, आवासा अ सुराण होदि तिविहा णं ।
रयणप्पहाए भवणा, दीव-समुद्दाण उवरि भवणपुरा ।।२२।।

दह-सेल-दुमादीणं, रम्माणं उवरि होंति आवासा ।
णागादीणं केसिं, तिय-णिलया भवणमेक्कमसुराणं ।।२३।।

।। [1]भवण-वण्णणा समत्ता ।।८।।

अर्थ—भवनवासी देवों के निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवास के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से रत्नप्रभा पृथिवी में भवन, द्वीप-समुद्रों के ऊपर भवनपुर एवं रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादिक के ऊपर आवास हैं। नागकुमारादिकों में से किन्हीं के भवन, भवनपुर एवं आवासरूप तीनों निवास हैं परन्तु असुरकुमारों के केवल एक भवनरूप ही निवास-स्थान होते हैं ।।२२-२३।।

।। भवनों का वर्णन समाप्त हुआ ।।८।।

अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यम ऋद्धिधारक देवों के भवनों के स्थान

अप्प-महद्धिय-मज्झिम-भावण-देवाण होंति भवणाणि ।
दुग-बादाल-सहस्सा, लक्खमधोधो खिदीए गंतूणं ।।२४।।

२००० । ४२००० । १००००० ।

।। अप्पमहद्धिय-मज्झिम भावण-देवाण णिवास-खेत्तं समत्तं ।।९।।

अर्थ—अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक एवं मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासी देवों के भवन क्रमशः चित्रा पृथिवी के नीचे-नीचे दो हजार, बयालीस हजार और एक लाख योजन-पर्यन्त जाकर हैं ।।२४।।

विशेषार्थ—चित्रा पृथिवी से २००० योजन नीचे जाकर अल्पऋद्धि धारक देवों के ४२००० योजन नीचे जाकर महाऋद्धि धारक देवों के और १,००००० योजन नीचे जाकर मध्यम ऋद्धिधारक भवनवासी देवो के भवन हैं।

।। इस प्रकार अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक एवं मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासी देवों का निवासक्षेत्र समाप्त हुआ ।।९।।

---

[1] द. मुवण ।

भवनों का विस्तार आदि एवं उनमें निवास करने वाले देवों का प्रमाण—

समचउरस्सा भवणा, वज्जमया-दार-वज्जिया सव्वे ।
बहलत्ते ति-सयाणि, संखासंखेज्ज-जोयणा वासे ।।२५।।

संखेज्ज-रुंद-भवणेसु, भवण-देवा वसंति संखेज्जा ।
संखातीदा वासे, अच्छंती सुरा असंखेज्जा ।।२६।।

।। भवण-सरूवं समत्ता[1] ।।१०।।

अर्थ—भवनवासी देवों के ये सब भवन समचतुष्कोण और वज्रमय द्वारों से शोभायमान हैं । इनकी ऊँचाई तीन सौ योजन एवं विस्तार संख्यात और असंख्यात योजन प्रमाण है । इनमें से संख्यात योजन विस्तार वाले भवनों में संख्यात देव रहते हैं तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले भवनों में असंख्यात भवनवासी देव रहते हैं ।।२५-२६।।

।। भवनों के विस्तार का कथन समाप्त हुआ ।।१०।।

भवन-वेदियों का स्थान, स्वरूप तथा उत्सेध आदि

तेसुं चउसु दिसासुं, जिण-दिट्ठ-पमाण-जोयणे गंता ।
मज्झम्मि दिव्व-वेदी, पुह पुह वेढेदि एक्केक्का ।।२७।।

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् से उपदिष्ट उन भवनों की चारों दिशाओं में योजन प्रमाण जाते हुए एक-एक दिव्य वेदी (कोट) पृथक्-पृथक् उन भवनों को मध्य में वेष्टित करती है ।।२७।।

बे कोसा उच्छेहा, वेदीणमकट्टिमाण सव्वाणं ।
पंच-सयाणि दंडा, वासो वर-रयण-छण्णाणं ।।२८।।

अर्थ—उत्तमोत्तम रत्नों से व्याप्त (उन) सब अकृत्रिम वेदियों की ऊँचाई दो कोस और विस्तार पाँच सौ धनुष-प्रमाण होता है ।।२८।।

गोउर-दार-जुदाओ, उवरिम्मि जिणिंद-गेह-सहिदाओ ।
[2]भवण - सुर - रक्खिदाओ, वेदीओ तासु सोहंति ।।२९।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. सम्मत्ता । २. द. ब. क. ज. ठ. भवणासुर-तक्खिदाओ वेदीणं तेसु ।

अर्थ– गोपुरद्वारों से युक्त और उपरिम भाग में जिनंमन्दिरों से सहित वे वेदियाँ भवनवासी देवों से रक्षित होती हुई सुशोभित होती हैं ।।२९।।

वेदियों के बाह्य-स्थित-वनों का निर्देश

तब्बाहिरे असोयं, सत्तच्छद-चंपयाय चूदवणा ।
पुव्वादिसु णाणातरु-चेत्ता चिट्ठंति चेत्त-तरू सहिया ।।३०।।

अर्थ—वेदियों के बाह्य भाग में चैत्यवृक्षों से सहित और अपने नाना वृक्षों से युक्त, (क्रमशः) पूर्वादि दिशाओं में पवित्र अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्रवन स्थित हैं ।।३०।।

चैत्यवृक्षों का वर्णन

चेत्त-द्दुम-थल-रुंदं, दोण्णि सया जोयणाणि पण्णासा ।
चत्तारो मज्झम्मि य, अंते कोसद्धमुच्छेहो ।।३१।।

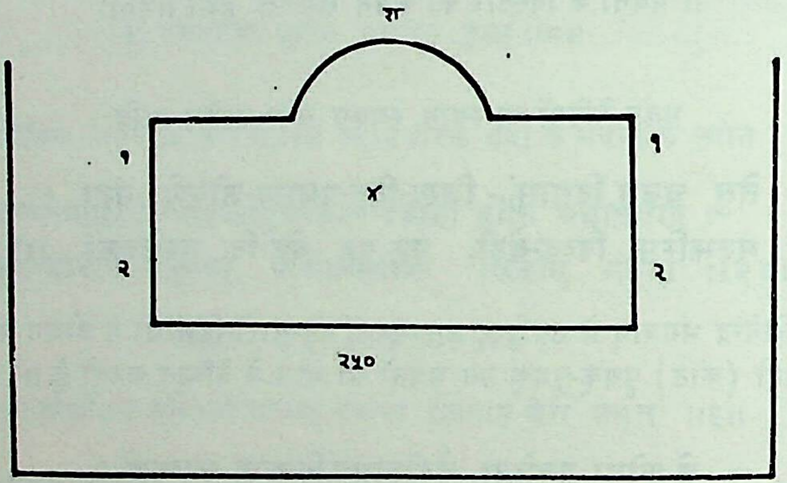

[1]

अर्थ—चैत्यवृक्षों के स्थल का विस्तार दो सौ पचास योजन तथा ऊँचाई मध्य में चार योजन और अन्त में अर्धकोस प्रमाण है ।।३१।।

छ-द्दो-भू-मुह-रुंदा[2], चउ-जोयण-उच्छिदाणि पीढाणि ।
पीढोवरि बहुमज्झे, रम्मा चेट्ठंति चेत्त-दुमा ।।३२।।

जो ६ । २ । ४ ।

---

[1] यह चित्र प्रक्षेप रूप है एवं इसमें दिया हुआ प्रमाण स्केल रूप नहीं है ।

[2] द. ब. क. ज. ठ. रुंदो ।

अर्थ—पीठों की भूमि का विस्तार छह योजन, मुख का विस्तार दो योजन और ऊँचाई चार योजन है, इन पीठों के ऊपर बहुमध्य भाग में रमणीय चैत्यवृक्ष स्थित हैं ।।३२।।

पत्तेक्कं रुक्खाणं, [1]अवगाढं कोसमेक्कमुद्दिट्ठं ।
जोयण खंदुच्छेहो, साहा-दोहत्तणं च चत्तारि ।।३३।।

को १ । जो १ । ४ । [2]

अर्थ—प्रत्येक वृक्ष का अवगाढ़ एक कोस, स्कन्ध का उत्सेध एक योजन और शाखाओं की लम्बाई चार योजन प्रमाण कही गयी है ।।३३।।

विविह-वर-रयण-साहा, विचित्त-कुसुमोवसोहिदा सव्वे ।
मरगयमय-वर-पत्ता, दिव्व-तरू ते विरायंति ।।३४।।

अर्थ—वे सब दिव्य वृक्ष विविध प्रकार के उत्तम रत्नों की शाखाओं से युक्त, विचित्र पुष्पों से अलंकृत और मरकत मणिमय उत्तम पत्रों से व्याप्त होते हुए अतिशय शोभा को प्राप्त हैं ।।३४।।

विविहंकुर चेंचइया, विविह-फला विविह-रयण-परिणामा[3] ।
छत्तादी छत्त-जुदा[4], घंटा - जालादि - रमणिज्जा ।।३५।।

आदि-णिहणेण हीणा - पुढविमया सव्व-भवण-चेत्त-दुमा ।
जीवुप्पपत्ति[5] - लयाणं, होंति णिमित्ताणि ते णियमा[6] ।।३६।।

अर्थ--विविध प्रकार के अंकुरों से मण्डित अनेक प्रकार के फलों से युक्त, नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित, छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त, घण्टा-जालादि से रमणीय और आदि-अन्त से रहित, वे पृथिवी के परिणाम स्वरूप सब भवनों के चैत्यवृक्ष नियम से जीवों की उत्पत्ति और विनाश के निमित्त होते हैं ।।३५-३६।।

विशेषार्थ—यहाँ चैत्यवृक्षों को 'नियम से जीवों की उत्पत्ति और विनाश का कारण कहा गया है।' उसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि—चैत्यवृक्ष अनादि-निधन हैं, अतः कभी उनका उत्पत्ति

---

[1] ब. क. अवगाढ । [2] ब. को १ । जो ४ । [3] द. ज. ठ. परिमाणा । [4] द. ब. क. ज. ठ. जुदा । [5] द. ब. ठ. जीहप्पति आयाणं, क. ज. जीऊप्पति आयाणं । [6] द. ब. णिआयामा ।

या विनाश नहीं होता है, किन्तु चैत्यवृक्षों के पृथिवीकायिक जीवों का पृथिवीकायिकपना अनादि-निधन नहीं है। अर्थात् उन वृक्षों में पृथिवीकायिक जीव स्वयं जन्म लेते तथा आयु के अनुसार मरते रहते हैं, इसीलिए चैत्यवृक्षों को जीवों की उत्पत्ति और विनाश का कारण कहा गया है। यही विवरण चतुर्थ-अधिकार की गाथा १९३२ और २१८३ में तथा छठे अधिकार की गाथा २९ में आयेगा।

चैत्यवृक्षों के मूल में स्थित जिन-प्रतिमाएँ

चेत्त-द्दुम मूलेसुं, पत्तेक्कं चउ-दिसासु पंचेव ।
चेट्ठंति जिणप्पडिमा, पलियंक-ठिया सुरेहि महणिज्जा ॥३७॥

चउ-तोरणाहिरामा, अट्ठ-महा-मंगलेहि सोहिल्ला ।
वर-रयण-णिम्मिदेहिं, माणत्थंभेहि अइरम्मा ॥३८॥

॥ वेदी-वण्णणा गदा ॥११॥

अर्थ—चैत्यवृक्षों के मूल में चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित और देवों से पूजनीय पाँच-पाँच जिनप्रतिमायें विराजमान हैं, जो चार तोरणों से रमणीय, अष्ट महा-मंगल द्रव्यों से सुशोभित और उत्तमोत्तम रत्नों से निर्मित मानस्तम्भों से अतिशय शोभायमान हैं ॥३७-३८॥

॥ इसप्रकार वेदियों का वर्णन समाप्त हुआ ॥११॥

वेदियों के मध्य में कूटों का निरूपण

वेदीणं बहुमज्झे, जोयण-सयमुच्छिदा महाकूडा ।
वेत्तासण-संठाणा, रयणमया होंति सव्वट्ठा ॥३९॥

अर्थ—वेदियों के बहुमध्य भाग में सर्वत्र एक सौ योजन ऊँचे, वेत्रासन के आकार और रत्नमय महाकूट स्थित हैं ॥३९॥

ताणं मूले उवरिं, समंतदो दिव्व-वेदीओ ।
पुव्विल्ल-वेदियाणं, सारिच्छं वण्णणं सव्वं ॥४०॥

अर्थ—उन कूटों के मूल भाग में और ऊपर चारों ओर दिव्य वेदियाँ हैं। इन वेदियों का सम्पूर्ण वर्णन पूर्वोल्लिखित वेदियों जैसा ही समझना चाहिए ॥४०॥

वेदीणब्भंतरए, वण-संढा वर-विचित्त-तरु-णियरा ।
पुक्खरिणीहि समग्गा, तप्परदो दिव्व-वेदीओ[1] ॥४१॥

॥ कूडा गदा ॥१२॥

अर्थ—वेदियों के भीतर उत्तम एवं विविध प्रकार के वृक्ष-समूह और वापिकाओं से परिपूर्ण वन-समूह हैं तथा इनके आगे दिव्य वेदियाँ हैं ॥४१॥

॥ इस प्रकार कूटों का वर्णन समाप्त हुआ ॥१२॥

कूटों के ऊपर स्थित-जिन-भवनों का निरूपण

कूडोवरि पत्तेक्कं, जिणवर-भवणं [2]हवेदि एक्केक्कं ।
वर-रयण-कंचणमयं, विचित्त-विण्णास[3] - रमणिज्जं ॥४२॥

अर्थ—प्रत्येक कूट के ऊपर उत्तम रत्नों एवं स्वर्ण से निर्मित तथा अद्भुत विन्यास से रमणीय एक-एक जिनभवन है ॥४२॥

चउ-गोउरा ति-साला, वीहिं [4]पडि माणथंभ-णव-थूहा ।
वण[5] - धय-चेत्त-खिदीओ, सव्वेसुं जिण-णिकेदेसुं ॥४३॥

अर्थ—सब जिनालयों में चार-चार गोपुरों से संयुक्त तीन कोट, प्रत्येक वीथो में एक-एक मानस्तम्भ एवं नौ स्तूप तथा (कोटों के अन्तराल में क्रमशः) वन, ध्वज और चैत्य-भूमियाँ हैं ॥४३॥

णंदादिओ ति-मेहल, ति-पीढ-पुव्वाणि धम्म-विभवाणि ।
चउ-वण-मज्झेसु ठिदा, चेत्त-तरू तेसु सोहंति ॥४४॥

अर्थ - उन जिनालयों में चारों वनों के मध्य में स्थित तीन मेखलाओं से युक्त नन्दादिक वापिकायें एवं तीन पीठों से संयुक्त धर्म-विभव तथा चैत्यवृक्ष शोभायमान होते हैं ॥४४॥

---

[1] द. दिव्वदेवीओ । [2] द. हुवेदि [3] द. ब. क. विण्णाणरमणिज्जं । [4] द. ब. क. ज. ठ. परि [5] ब. क. ज. ठ. णवधय ।

महाध्वजाओं एवं लघु ध्वजाओं की संख्या

हरि-करि-वसह-खगाहिव[1]-सिहि-ससि-रवि-हंस-पउम-चक्क-धया ।
एक्केक्कमट्ठ-जुद-सयमेक्केक्कं अट्ठ-सय खुल्ला ॥४५॥

अर्थ—(ध्वजभूमि में) सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र, इन चिह्नों से अंकित प्रत्येक चिह्नवाली एक सौ आठ महाध्वजाएँ और एक-एक महाध्वजा के आश्रित एक सौ आठ क्षुद्र (छोटी) ध्वजाएँ होती हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—सिंह आदि १० चिह्न हैं अतः १०×१०८=१०८० महाध्वजाएँ। १०८०×१०८=१,१६,६४० छोटी ध्वजाएँ हैं।

जिनालय में वन्दनगृहों आदि का वर्णन

[2]वंदणभिसेय-णच्चण-संगीदालोय-मंडवेहि जुदा ।
कीडण-गुणण-गिहेहिं, विसाल-वर-पट्टसालेहिं ॥४६॥

अर्थ—(उपर्युक्त जिनालय) वन्दन, अभिषेक, नर्तन, संगीत और आलोक (प्रेक्षण) मण्डप तथा क्रीड़ागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) एवं विशाल तथा उत्तम पट्ट (चित्र) शालाओं से सहित हैं ॥४६॥

जिनमन्दिरों में श्रुत आदि देवियों की एवं यक्षों की मूर्तियों का निरूपण

सिरिदेवी-सुददेवी--सव्वाण-सणक्कुमार-जक्खाणं ।
रूवाणि अट्ठ-मंगल, [3]देवच्छंदम्मि जिण-णिकेदेसु ॥४७॥

अर्थ—जिनमन्दिरों में देवच्छन्द के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाण्ह और सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ एवं अष्ट मंगलद्रव्य होते हैं ॥४७॥

---

१. द. ब. क. ज. ठ. खगावइ । २. द. चंदणाभिसेय । ३. द. देवंणच्चाणि, ब. देवच्चाणि । ज. ठ. देवं देवच्चाणि, क. मेव णिच्चाणि ।

अष्ट मंगलद्रव्य

भिंगार-कलस-दप्पण-धय-चामर-छत्त-वियण-सुपइट्ठा ।
इय अट्ठ-मंगलाणि, पत्तेक्कं [1]अट्ठ-अहिय-सयं ।।४८।।

अर्थ—झारी, कलश, दर्पण, ध्वजा, चामर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ, ये आठ मंगलद्रव्य हैं, जो प्रत्येक एक सौ आठ कहे गये हैं ।।४८।।

जिनालयों की शोभा का वर्णन

दिप्पंत-रयण-दीवा, जिण-भवणा पंच-वण्ण-रयण-मया ।
[2]गोसीस - मलयचंदण - कालागरु - धूव - गंधड्ढा ।।४९।।

भंभा - मुइंग - मद्दल - जयघंटा - कंसताल - तिवलीणं ।
दुंदुहि - पडहादीणं, सद्देहिं णिच्च - हलबोला ।।५०।।

अर्थ—देदीप्यमान रत्नदीपकों से युक्त वे जिनभवन पाँच वर्ण के रत्नों से निर्मित; गोशीर्ष, मलयचन्दन, कालागरु और धूप की गंध से व्याप्त तथा भम्भा, मृदंग, मर्दल, जयघंटा, कांस्यताल, तिवली, दुन्दुभि एवं पटहादिक के शब्दों से नित्य ही शब्दायमान रहते हैं ।।४९-५०।।

नागयक्ष-युगलों से युक्त जिन-प्रतिमाएँ

सिंहासणादि-सहिदा, चामर-कर-णागजक्ख-मिहुण-जुदा ।
णाणाविह-रयणमया, जिण-पडिमा तेसु भवणेसुं ।।५१।।

अर्थ—उन भवनों में सिंहासनादिक से सहित, हाथ में चँवर लिये हुए नागयक्ष युगल से युक्त तथा नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित जिनप्रतिमायें हैं ।।५१।।

जिनभवनों की संख्या

बाहत्तरि लक्खाणि, कोडीओ सत्त जिण-णिगेदाणि ।
आदि-णिहणुज्झिदाणि, भवण - समाइं विराजंति ।।५२।।

७७२०००००।

---

१. ब. अडअहियसयं । २. द. ब. क. ज. ठ. गोसीर ।

अर्थ—आदि-अन्त से रहित (अनादिनिधन) वे जिनभवन, भवनवासी देवों के भवनों की संख्या प्रमाण सात करोड़, बहत्तर लाख सुशोभित होते हैं ।।५२।।

७,७२,००००० जिनभवन हैं ।

भवनवासी-देव, जिनेन्द्र को ही पूजते हैं

सम्मत्त-रयण-जुत्ता, णिब्भर-भत्तीए णिच्चमच्चंति ।
कम्मक्खवण-णिमित्तं, देवा जिणणाह-पडिमाओ ।।५३।।

कुलदेवा इदि मण्णिय, अण्णेहिं बोहिया बहुपयारं ।
मिच्छाइट्ठी णिच्चं, पूजंति जिणिंद-पडिमाओ ।।५४।।

।। जिणभवणा गदा ।।१३।।

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से युक्त देव तो कर्मक्षय के निमित्त नित्य ही अत्यधिक भक्ति से जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की पूजा करते हैं, किन्तु सम्यग्दृष्टि देवों से सम्बोधित किये गये मिथ्यादृष्टि देव भी कुलदेवता मानकर जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की नित्य ही नाना प्रकार से पूजा करते है ।।५३-५४।।

।। जिनभवनों का वर्णन समाप्त हुआ ।।१३।।

कूटों के चारों ओर स्थित भवनवासी-देवों के प्रासादों का निरूपण

कूडाण [1]समंतादो, पासादा[2] होंति भवण-देवाणं ।
[3]णाणाविह-विण्णासा, वर-कंचण[4] -रयण-णियरमया ।।५५।।

अर्थ—कूटों के चारों ओर नाना प्रकार की रचनाओं से युक्त और उत्तम स्वर्ण एवं रत्न-समूह से निर्मित भवनवासी देवों के प्रासाद हैं ।।५५।।

सत्तट्ठ-णव-दसादिय-विचित्त-भूमीहि भूसिदा सव्वे ।
लंबंत-रयण-माला, दिप्पंत-मणिप्पदीव-कंठिल्ला ।।५६।।

---

[1] द. ब. क. ज. समत्तादो । [2] द. ब. पासादो । [3] द. ब. क. ज. ठ. णाणाविविहविणासं । [4] ब. कंचणणियर ।

जम्माभिसेय-भूसण-मेहुण-ग्रोलग्ग[1] - मंत-सालाहिं[2] ।
विविधाहिं[3] रमणिज्जा, मणि-तोरण-सुंदर-दुवारा ।।५७।।

[4]सामण्ण-गब्भ-कदली-चित्तासण-णालयादि-गिह - जुत्ता ।
कंचण-पायार-जुदा, विसाल-वलही विराजमाणा य ।।५८।।

धुव्वंत-धय-वडाया, पोक्खरणी-वावि- [5]कूव-वण-सहिदा[6] ।
धूव - घडेहि सुजुट्ठा, णाणावर-मत्त-वारणोपेदा ।।५९।।

मणहर-जाल-कवाडा, णाणाविह-सालभंजिका-बहुला ।
ग्रादि-णिहणेण हीणा, किं बहुणा ते णिरुवमा णेया ।।६०।।

ग्रर्थ– सब भवन सात, ग्राठ, नौ, दस इत्यादिक विचित्र भूमियों से विभूषित; लम्बायमान रत्नमालाग्रों से सहित; चमकते हुए मणिमय दीपकों से सुशोभित; जन्मशाला, ग्रभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, ग्रोलगशाला (परिचर्यागृह) ग्रौर मंत्रशाला, इन विविध प्रकार की शालाग्रों से रमणीक; मणिमय तोरणों से सुन्दर द्वारों वाले; सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, ग्रासनगृह, नादगृह ग्रौर लतागृह इत्यादि गृह-विशेषों से सहित; स्वर्णमय प्राकार से संयुक्त विशाल छज्जों से विराजमान; फहराती हुई ध्वजा-पताकाग्रों से सहित; पुष्करिणी, वापी, कूप ग्रौर वनों से संयुक्त; धूपघटों से युक्त ग्रनेक उत्तम मत्तवारणों (छज्जों) से संयुक्त; मनोहर गवाक्ष ग्रौर कपाटों से सुशोभित; नाना प्रकार की पुत्तलिकाग्रों सहित ग्रौर ग्रादि-ग्रन्त से हीन (ग्रनादिनिधन) हैं। बहुत कहने से क्या ? ये सब प्रासाद उपमा से रहित (ग्रनुपम) हैं, ऐसा जानना चाहिए ।।५६-६०।।

चउ-पासाणि तेसुं, विचित्त-रूवाणि ग्रासणाणि च ।
वर-रयण-विरइदाणि, सयणाणि हवंति दिव्वाणि ।।६१।।

।। पासादा गदा ।।१४।।

ग्रर्थ--उन भवनों के चारों पार्श्वभागों में विचित्र रूप वाले ग्रासन ग्रौर उत्तम रत्नों से रचित दिव्य शय्यायें स्थित हैं ।।६१।।

।। प्रासादों का कथन समाप्त हुग्रा ।।१४।।

---

१. द. ग्रोलंग, ब. क. उलग । २. द. ब. क. ज. ठ. सालाइ । ३. द. ब. क. ज. ठ. विदिलाहिं । ४. ब. क. सामेण । ५. ब. कूड । ६. द. ब. क. ज. ठ. संडाइं ।

प्रत्येक इन्द्र के परिवार-देव-देवियों का निरूपण

एक्केक्कस्सिं इंदे, परिवार-सुरा हवंति [1]दस भेदा ।
पडिइंदा तेत्तीसत्तिदसा सामाणिया-दिसाइंदा ।।६२।।

तणुरक्खा तिप्परिसा, सत्ताणीया पइण्णगभियोगा ।
किब्बिसिया इदि कमसो, पवण्णिदा इंद-परिवारा ।।६३।।

अर्थ—प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक, दिशाइन्द्र (लोकपाल), तनुरक्षक, तीन पारिषद, सात-अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ये दस, प्रत्येक इन्द्र के परिवार-देव होते हैं । इस प्रकार क्रमशः इन्द्र के परिवार-देव कहे गये हैं ।।६२-६३।।

इंदा राय-सरिच्छा, जुवराय-समा हवंति पडिइंदा ।
पुत्त-णिहा तेत्तीसत्तिदसा सामाणिया कलत्तं वा ।।६४।।

अर्थ—इन्द्र राजा सदृश, प्रतीन्द्र युवराज सदृश, त्रायस्त्रिंश देव - पुत्र सदृश और सामानिक देव-कलत्र तुल्य होते हैं ।।६४।।

चत्तारि लोयपाला, [2]सारिच्छा होंति तंतवालाणं ।
तणुरक्खाण समाणा, [3]सरीर-रक्खा सुरा सव्वे ।।६५।।

अर्थ—चारों लोकपाल तन्त्रपालों के समान और सब तनुरक्षक देव राजा के अंग-रक्षक के समान होते हैं ।।६५।।

बाहिर-मज्झब्भंतर तंडय-सरिसा [4]हवंति तिप्परिसा ।
सेणोवमा अणीया, पइण्णया पुरजण-सरिच्छा ।।६६।।

अर्थ—राजा की बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समिति के सदृश देवों में भी तीन प्रकार की परिषद् होती है । अनीक देव सेनातुल्य और प्रकीर्णक देव पुरजन सदृश होते हैं ।।६६।।

परिवार-समाणा ते, अभियोग-सुरा हवंति[5] किब्बिसिया ।
पाणोवमाणधारी[6], देवाणिंदस्स णादव्वं ।।६७।।

---

[1] क. दह । [2] द. ब. क. ज. ठ. सावंता । [3] द. ससरीरं, व. सरीरं वा । [4] द. हुवंति । [5] द. हुवंति । [6] ब. माणाधीरी । क. ज. ठ. माणुधारी ।

अर्थ—वे आभियोग्य जाति के देव दास सदृश तथा किल्विषिक देव चाण्डाल की उपमा को धारण करने वाले हैं। इस प्रकार देवों के इन्द्र का परिवार जानना चाहिए ।।६७।।

इंद-समा पडिइंदा, तेत्तीस-सुरा हवंति तेत्तीसं ।
चमरादी-इंदाणं, पुह-पुह सामाणिया इमे देवा ।।६८।।

अर्थ—प्रतीन्द्र, इन्द्र प्रमाण और त्रायस्त्रिंश देव तैंतीस होते हैं । चमर-वैरोचनादि इन्द्रों के सामानिक देवों का प्रमाण पृथक्-पृथक् इस प्रकार है ।।६८।।

चउसट्ठि सहस्साणि, सट्ठी छप्पण्ण चमर-तिदयम्मि ।
पण्णास सहस्साणि, पत्तेक्कं होंति सेसेसु ।।६९।।

६४००० । ६०००० । ५६००० । सेसे १७ । ५००००

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रों के सामानिक देव क्रमशः चौंसठ हजार, साठ हजार और छप्पन हजार होते हैं, इसके आगे शेष सत्तरह इन्द्रों में से प्रत्येक के पचास हजार प्रमाण सामानिक देव होते हैं ।।६९।।

पत्तेक्कं-इंदयाणं, सोमो यम-वरुण-धणद-णामा य ।
पुव्वादि - लोयपाला, [1]हवंति चत्तारि चत्तारि ।।७०।।

। ४ ।

अर्थ—प्रत्येक इन्द्र के पूर्वादिक दिशाओं के (रक्षक) क्रमशः सोम, यम, वरुण एवं धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते हैं ।।७०।।

छप्पण्ण-सहस्साहिय-बे-लक्खा-होंति चमर-तणुरक्खा ।
चालीस-सहस्साहिय-लक्ख-दुगं बिदिय - इंदम्मि ।।७१।।

२५६००० । २४०००० ।

चउवीस-सहस्साहिय-लक्ख-दुगं [2]तदिय-इंद-तणुरक्खा ।
सेसेसुं पत्तेक्कं, णादव्वा दोण्णि लक्खाणि ।।७२।।

२२४००० । सेसे १७ । २००००० ।

---

[1] द. हुवंति । [2] ब, तदियतणु ।

अर्थ—चमरेन्द्र के तनुरक्षक देव दो लाख, छप्पन हजार और द्वितीय (वैरोचन) इन्द्र के दो लाख, चालीस हजार होते हैं। तृतीय (भूतानन्द) इन्द्र के तनुरक्षक दो लाख, चौबीस हजार तथा शेष में से प्रत्येक के दो-दो लाख प्रमाण तनुरक्षक देव जानने चाहिए ।।७१-७२।।

अडवीसं छव्वीसं, छच्च सहस्साणि चमर-तिदयम्मि ।
आदिम-परिसाए[1] सुरा, सेसे पत्तेक्क-चउ-सहस्साणि ।।७३।।

२८००० । २६००० । ६००० । सेसे १७ । ४००० ।

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रोंके आदिम पारिषद देव क्रमशः अट्ठाईस हजार, छब्बीस हजार और छह हजार प्रमाण तथा शेष इन्द्रों में से प्रत्येक के चार-चार हजार प्रमाण होते हैं ।।७३।।

तीसं अट्ठावीसं, अट्ठ सहस्साणि चमर-तिदयम्मि ।
मज्झिम-परिसाए सुरा, सेसेसुं छस्सहस्साणि ।।७४।।

३०००० । २८००० । ८००० । सेसे १७ । ६००० ।

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रों के मध्यम पारिषद देव क्रमशः तीस हजार, अट्ठाईस हजार और आठ हजार तथा शेष इन्द्रों में से प्रत्येक के छह-छह हजार प्रमाण होते हैं ।।७४।।

बत्तीसं तीसं दस, होंति सहस्साणि चमर-तिदयम्मि ।
बाहिर-परिसाए सुरा, अट्ठ सहस्साणि सेसेसुं ।।७५।।

३२००० । ३०००० । १०००० । सेसे १७ । ८००० ।

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रों के क्रमशः बत्तीस हजार, तीस हजार और दस हजार तथा शेष इन्द्रों में से प्रत्येक के आठ-आठ हजार प्रमाण बाह्य पारिषद देव होते हैं ।।७५।।

[भवनवासी-इन्द्रों के परिवार-देवों की संख्या की तालिका सामने पृष्ठ पर देखिये]

---

[1] क. ज. परिसाए ।

भवनवासी-इन्द्रों के परिवार-देवों की संख्या

क्र० सं०	इन्द्रों के नाम	प्रतीन्द्र	त्रायस्त्रिंश	सामानिक देव	लोकपाल	तनुरक्षक	पारिषद		
							आदि	मध्य	बाह्य
१	चमर	१	३३	६४,०००	४	२,५६,०००	२८,०००	३०,०००	३२,०००
२	वैरोचन	१	३३	६०,०००	४	२,४०,०००	२६,०००	२८,०००	३०,०००
३	भूतानन्द	१	३३	५६,०००	४	२,२४,०००	६,०००	८,०००	१०,०००
४	धरणानन्द	१	३३	५०,०००	४	२,००,०००	४,०००	६,०००	८,०००
५	वेणु	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
६	वेणुधारी	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
७	पूर्ण	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
८	वशिष्ट	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
९	जलप्रभ	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१०	जलकान्त	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
११	घोष	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१२	महाघोष	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१३	हरिषेण	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१४	हरिकान्त	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१५	अमितगति	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१६	अमितवाहन	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१७	अग्निशिखी	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१८	अग्निवाहन	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१९	वेलम्ब	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
२०	प्रभंजन	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,

अनीकदेवों का वर्णन

सत्ताणीया होंति हु, पत्तेक्कं सत्त सत्त कक्ख-जुदा ।
पढमा ससमाण-समा, तद्दुगुणा चरम-कक्खतं ।।७६।।

अर्थ—सात अनीकों में से प्रत्येक अनीक सात-सात कक्षाओं से युक्त होती है। उनमें से प्रथम कक्षा का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवों के बराबर तथा इसके आगे अन्तिम कक्षा तक उत्तरोत्तर प्रथम कक्षा से दूना-दूना प्रमाण होता गया है ।।७६।।

विशेषार्थ—एक-एक इन्द्र के पास सात-सात अनीक (सेना या फौज) होती हैं। प्रत्येक अनीक की सात-सात कक्षाएँ होती हैं। प्रथम कक्षा में अनीक देवों का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवों की संख्या सदृश, पश्चात् दूना-दूना होता जाता है।

असुरम्मि महिस-तुरगा, रह-करिणो[1] तह पदाति-गंधव्वो ।
णच्चणया एदाणं, महत्तरा छम्महत्तरी एक्का ।।७७।।

। ७ ।

अर्थ—असुरकुमारों में महिष, घोड़ा, रथ, हाथी, पादचारी, 'गन्धर्व और नर्तकी, ये सात अनीकें होती हैं। इनके छह महत्तर (प्रधान देव) और एक महत्तरी (प्रधानदेवी) होते हैं ।।७७।।

णावा गरुड-गइंदा, मयरुट्टा [2]खग्गि-सीह-सिविकस्सा ।
णागादीणं पढमाणीया बिदियाअ असुरं वा ।।७८।।

अर्थ—नागकुमारादिकों के क्रमशः नाव, गरुड़, गजेन्द्र, मगर, ऊँट, गैंडा (खड्गी), सिंह, शिविका और अश्व, ये प्रथम अनीकें होती हैं, शेष द्वितीयादि अनीकें असुरकुमारों के ही सदृश होती हैं ।।७८।।

विशेषार्थ—दसों भवनवासी देवों में इस प्रकार अनीकें होती हैं—

१. असुरकुमार—महिष, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

२, नागकुमार—नाव, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

३. सुपर्णकुमार—गरुड़, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

---

[1] ब. रहकरणो । [2] द. ज. ठ. खग्ग ।

४. द्वीपकुमार —हाथी, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।
५. उदधिकुमार —मगर, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।
६. विद्युत्कुमार —ऊँट, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।
७. स्तनितकुमार - गेंडा, घोड़ा, रथ, हाथो, पयादे, गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।
८. दिक्कुमार —सिंह, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।
९. ग्रग्निकुमार —शिविका, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।
१०. वायुकुमार —ग्रश्व, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व ग्रौर नर्तकी ।

गच्छ समे गुणयारे, परोप्परं गुणिय रूव-परिहीणे[1] ।
एक्कोण-गुण-विहत्ते, गुणिदे वयणेण गुण-गणिदं ॥७९॥

ग्रर्थ—गच्छ के बराबर गुणाकार को परस्पर गुणा करके प्राप्त गुणनफल में से एक कम करके शेष में एक कम गुणाकार का भाग देने पर जो लब्ध ग्रावे उसको मुख से गुणा करने पर गुण-संकलित धन का प्रमाण ग्राता है ॥७९॥

विशेषार्थ--स्थानों के प्रमाण को पद ग्रौर प्रत्येक स्थान पर जितने का गुणा किया जाता है उसे गुणकार कहते हैं । यहाँ पद का प्रमाण ७, गुणकार (प्रत्येक कक्षा का प्रमाण दुगुना-दुगुना है ग्रत: गुणकार का प्रमाण) दो ग्रौर मुख ६४००० है ।

उदाहरण—पद बराबर गुणकारों का परस्पर गुणा करने पर (२×२×२×२×२×२×२) ग्रर्थात् १२८ फल प्राप्त हुग्रा, इसमें से १ घटाकर एक कम गुणकार (२—१=१) का भाग देने पर (१२८—१=१२७÷१)=$\frac{१२७}{१}$ लब्ध प्राप्त हुग्रा । इसका मुख से गुणा करने पर (६४,०००×१२७) ग्रर्थात् ८१,२८००० गुणसंकलित धन प्राप्त होता है ।

एक्कासीदी लक्खा, ग्रडवीस-सहस्स-संजुदा चमरे ।
होंति हु महिसाणीया, पुह पुह तुरयादिया वि तम्मेत्ता ॥८०॥

८१२८००० ।

---

[1] ब. द. क. ज. ठ. परिहीणो ।

अर्थ—चमरेन्द्र के इक्यासी लाख, अट्ठाईस हजार महिष सेना तथा पृथक्-पृथक् तुरगादिक भी इतने ही होते हैं ।।८०।।

तिट्ठाणे सुण्णाणि, छण्णव-अड-छक्क-पंच-अंक-कमे ।
सत्ताणीया मिलिदा, णादव्वा चमर-इंदम्हि ।।८१।।

५६८९६००० ।

अर्थ—तीन स्थानों में शून्य, छह, नौ, आठ, छह और पाँच अंक स्वरूप क्रमशः चमरेन्द्र की सातों अनीकों का सम्मिलित प्रमाण जानना चाहिए ।।८१।।

विशेषार्थ—गाथा ८० के विशेषार्थ में प्राप्त हुए गुणसंकलित धन को ७ से गुणित करने पर (८१,२८०००×७=) पाँच करोड़, अड़सठ लाख, छयानबे हजार (५,६८,९६०००) सातों अनीकों का सम्मिलित धन प्राप्त हो जाता है । यह चमरेन्द्र की अनीकों का सम्मिलित धन है ।

छाहत्तरि लक्खाणि, वीस-सहस्साणि होंति महिसाणं ।
वइरोयणम्मि इंदे, पुह पुह तुरयादिणो वि तम्मेत्ता ।।८२।।

७६२०००० ।

अर्थ—वैरोचन इन्द्र के छिहत्तर लाख, बीस हजार महिष और पृथक्-पृथक् तुरगादिक भी इतने ही हैं ।।८२।।

चउ-ठाणेसुं सुण्णा, चउ तिय तिय पंच-अंक-माणाए ।
वइरोयणस्स मिलिदा, सत्ताणीया इमे होंति ।।८३।।

। ५३३४०००० ।

अर्थ—चार स्थानों में शून्य, चार, तीन, तीन और पाँच इन अंकों के क्रमशः मिलाने पर जो संख्या हो, इतने मात्र वैरोचन इन्द्र के मिलकर ये सात अनीकें होती हैं ।।८३।।

एक्कत्तरि लक्खाणि, णवाओ होंति बारस सहस्सा ।
भूदाणंदे पुह पुह, [१]तुरग-प्पहुदीणि तम्मेत्ता ।।८४।।

७११२०००

---

[१] ब. उरग ।

अर्थ—भूतानन्द के इकहत्तर लाख, बारह हजार नाव और पृथक्-पृथक् तुरगादिक भी इतने ही होते हैं ।।८४।।

ति-ट्ठाणे सुण्णाणिं, चउक्क-अड[1] - सत्त-णव-चउक्क-कमे ।
सत्ताणीया[2] मिलिदे, भूदाणंदस्स णादव्वा ।।८५।।

४९७८४०००

अर्थ—तीन स्थानों में शून्य, चार, आठ, सात, नौ और चार इन अंकों को क्रमशः मिलाकर भूतानन्द इन्द्र की सात अनीकें जाननी चाहिए। अर्थात् भूतानन्द की सातों अनीकें चार करोड़ सत्तानवै लाख चौरासी हजार प्रमाण हैं ।।८५।।

तेसट्ठी लक्खाइं, पण्णास सहस्सयाणि पत्तेक्कं ।
सेसेसुं इंदेसुं, पढमाणीयाण परिमाणा ।।८६।।

६३५०००० ।

अर्थ—शेष सत्तरह इन्द्रों में से प्रत्येक के प्रथम अनीक का प्रमाण तिरेसठ लाख पचास हजार प्रमाण है ।।८६।।

[3]चउ-ठाणेसुं सुण्णा, पंच य तिट्ठाणए चउक्काणि ।
अंक-कमे सेसाणं, सत्ताणीयाण[4] परिमाणं ।।८७।।

४४४५०००० ।

अर्थ—चार स्थानों में शून्य, पाँच और तीन स्थानों में चार, इस अंकक्रम से यह शेष इन्द्रों में से प्रत्येक की सात अनीकों का प्रमाण होता है ।।८७।।

होंति पयण्णय-पहुदी, जेत्तियमेत्ता य सयल-इंदेसु ।
तप्परिमाण-परूवण[5] -उवएसो णत्थि काल-वसा ।।८८।।

अर्थ—सम्पूर्ण इन्द्रों में जितने प्रकीर्णक आदिक देव हैं, काल के वश से उनके प्रमाण के प्ररूपण का उपदेश नहीं है ।।८८।।

---

१. ब. अट्ठसत्त । २. द. सत्ताणीआ । ३. ब. चवट्ठाणेसुं । ४. द. ब. क. ज. ठ. सत्ताणीयाणि । ५. द. ब. परूणा ।

भवनवासी-इन्द्रों के अनीक देवों का प्रमाण गाथा ८०-८८

क्रमांक	इन्द्रों के नाम	प्रथम कक्षा का नाम	प्रथम कक्षा का प्रमाण ×	कक्षाएँ ७ =	सातों अनीकों का सम्मिलित प्रमाण	प्रकीर्णक सेना का प्रमाण
१	चमरेन्द्र	महिष	८१,२८००० ×	७ =	५,६८,९६०००	काल-वश उपदेश का अभाव।
२	वैरोचन	,,	७६,२०००० ×	७ =	५,३३,४००००	
३	भूतानन्द	नाव	७१,१२००० ×	७ =	४,९७,८४०००	
४-२०	शेष १७ में से प्रत्येक इन्द्र के	गरुड़, गज मगर आदि	प्रत्येक के ६३,५०००० ×	७ =	प्रत्येक इन्द्र के ४,४४,५००००	

भवनवासिनी देवियों का निरूपण

किण्हा रयरण-सुमेघा, देवी-रणामा सुकंठ-अभिहाणा ।
रिगरुवम-रूव-धराओ, चमरे पंचग्ग - महिसीओ ।।८९।।

अर्थ—चमरेन्द्र के कृष्णा, रत्ना, सुमेघा, देवी और सुकंठा नाम की अनुपम रूप को धारण करने वाली पाँच अग्रमहिषियाँ हैं ।।८९।।

अग्ग-महिसीरण ससमं, अट्ठ-सहस्सारिण होंति पत्तेक्कं ।
परिवारा देवीओ, चाल-सहस्सारिण संमिलिदा ।।९०।।

८००० । ४०००० ।

अर्थ—अग्रदेवियों में से प्रत्येक के अपने साथ आठ हजार परिवार-देवियाँ होती हैं । इस प्रकार मिलकर सब परिवार-देवियाँ चालीस हजार प्रमाण होती हैं ।।९०।।

चमरग्गिम-महिसीरणं, अट्ठ-सहस्सा विकुव्वरणा संति ।
पत्तेक्कं अप्प-समं, रिगरुवम-लावण्ण-रूवेहिं ।।९१।।

अर्थ—चमरेन्द्र की अग्र-महिषियों में से प्रत्येक अपने (मूल शरीर के) साथ, अनुपम रूप-लावण्य से युक्त आठ हजार प्रमाण विक्रिया निर्मित रूपों को धारण कर सकती है ।।९१।।

सोलस-सहस्समेत्ता, वल्लहियाओ हवंति चमरस्स ।
छप्पण्ण-सहस्सारिण, संमिलिदे सव्व-देवीओ ।।९२।।

१६००० । ५६००० ।

अर्थ--चमरेन्द्र के सोलह हजार प्रमाण वल्लभा देवियाँ होती हैं । इस प्रकार चमरेन्द्र की पाँचों अग्र-देवियों की परिवार-देवियों और वल्लभा-देवियों को मिलाकर, सर्व देवियाँ छप्पन हजार होती हैं ।।९२।।

पउमा-पउमसिरीओ, कणयसिरी कणयमाल-महपउमा ।
अग्ग-महिसीउ बिदिए, विक्किरिया पहुदि पुव्वं व[1] ॥९३॥

अर्थ—द्वितीय (वैरोचन) इन्द्र के पद्मा, पद्मश्री, कनकश्री, कनकमाला और महापद्मा, ये पाँच अग्र-देवियाँ होती हैं, इनके विक्रिया आदि का प्रमाण पूर्व (प्रथम इन्द्र) के सदृश ही जानना चाहिए ॥९३॥

पण अग्ग-महिसियाओ, पत्तेक्कं वल्लहा दस-सहस्सा ।
णागिंदाणं होंति हु, विक्किरियप्पहुदि पुव्वं व[2] ॥९४॥

५ । १०००० । ४०००० । ५०००० ।

अर्थ—नागेन्द्रों (भूतानन्द और धरणानन्द) में से प्रत्येक की पाँच अग्र-देवियाँ और दस हजार वल्लभाएँ होती है। शेष विक्रिया आदि का प्रमाण पूर्ववत् ही है ॥९४॥

चत्तारि सहस्साणि, वल्लहियाओ हवंति पत्तेक्कं ।
गरुडिंदाणं[3] सेसं, पुव्वं पिव एत्थ वत्तव्वं ॥९५॥

५ । ४००० । ४०००० । ४४००० ।

अर्थ—गरुड़ेन्द्रों में से प्रत्येक की चार हजार वल्लभायें होती हैं। यहाँ पर शेष कथन पूर्व के सदृश ही समझना चाहिए ॥९५॥

सेसाणं इंदाणं, पत्तेक्कं पंच-अग्ग-महिसीओ ।
एदेसु छस्सहस्सा, स-समं परिवार-देवीओ ॥९६॥

५ । ६००० । ३०००० ।

अर्थ—शेष इन्द्रों में से प्रत्येक के पाँच अग्र-देवियाँ और उनमें से प्रत्येक के अपने (मूल शरीर) को सम्मिलित कर छह हजार परिवार-देवियाँ होती हैं ॥९६॥

---

१. द. वा । क. ज. ठ. च । २. द. वा । क. च । ३. द. ब. गरुणिदाण । ज. ठ. गरुडदाणं ।

[1]दीविंद-प्पहुदीणं, देवीणं वरविउव्वणा[2] संति ।
छ-सहस्साणि च समं, पत्तेक्कं विविह-रूवेहिं ।।६७।।

अर्थ—द्वीपेन्द्रादिकों की देवियों में से प्रत्येक के मूल शरीर के साथ विविध-प्रकार के रूपों से छह-हजार प्रमाण उत्तम विक्रिया होती है ।।६७।।

पुह पुह सेसिंदाणं, वल्लहिया होंति दो सहस्साणि ।
बत्तीस-सहस्साणिं, संमिलिदे सव्व - देवीओ ।।६८।।

२००० । ३२००० ।

अर्थ – शेष इन्द्रों के पृथक्-पृथक् दो हजार वल्लभा देवियाँ होती हैं, इन्हें मिला देने पर प्रत्येक इन्द्र के सब देवियाँ बत्तीस हजार प्रमाण होती हैं ।।६८।।

[भवनवासी-इन्द्रों की देवियों के प्रमाण की तालिका पृष्ठ २९४ पर देखिये]

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. देविंद । [2] द. बरविव्वणा ब. वार विव्वणा । ज. ठ. वारतिव्वणा । क. वारं विकुव्वगा ।

भवनवासी इन्द्रों की देवियों का प्रमाण, गाथा ८९-९८

क्रमांक	कुल	इन्द्रों के नाम	अग्रदेवियाँ ×	परिवार-देवियाँ =	गुणनफल +	वल्लभा-देवियाँ =	सर्वयोग	मूल शरीर सहित विक्रिया
१.	असुर कु०	चमर	५ ×	८००० =	४०००० +	१६००० =	५६०००	८०००
		वैरोचन	५ ×	८००० =	४०००० +	१६००० =	५६०००	८०००
२.	नाग कु०	भूतानन्द	५ ×	८००० =	४०००० +	१०००० =	५००००	८०००
		धरणानन्द	५ ×	८००० =	४०००० +	१०००० =	५००००	८०००
३.	सुपर्ण कु०	वेणु	५ ×	८००० =	४०००० +	४००० =	४४०००	८०००
		वेणुधारी	५ ×	८००० =	४०००० +	४००० =	४४०००	८०००
४.	द्वीपकुमार आदि शेष	शेष इन्द्र	५ ×	६००० =	३०००० +	२००० =	३२००० (प्रत्येक की)	६००० (प्रत्येक की)

पडिइंदादि-चउण्हं, वल्लहियाणं तहेव देवीणं ।
सव्वं विउव्वणादिं, णिय-णिय-इंदाण सारिच्छं ।।९९।।

अर्थ—प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिश, सामानिक और लोकपाल, इन चारों की वल्लभाएँ तथा इन देवियों की सम्पूर्ण विक्रिया आदि अपने-अपने इन्द्रों के सदृश ही होती हैं ।।९९।।

सव्वेसुं इंदेसुं, तणुरक्ख-सुराण होंति देवीओ ।
पत्तेक्कं सय-मेत्ता, णिरुवम-लावण्ण-लीलाओ ।।१००।।

१००

अर्थ—सब इन्द्रों में प्रत्येक तनुरक्षक देव की अनुपम लावण्य-लीला को धारण करने वाली सौ देवियाँ होती हैं ।।१००।।

अड्ढाइज्ज-सयाणि, देवीओ दुवे सया दिवड्ढ-सयं ।
आदिम-मज्झिम-बाहिर-परिसासुं होंति चमरस्स ।।१०१।।

२५० । २०० । १५० ।

अर्थ—चमरेन्द्र के आदिम, मध्यम और बाह्य पारिषद देवों के क्रमशः ढाई सौ, दो सौ एवं डेढ़ सौ देवियाँ होती हैं ।।१०१।।

देवीओ तिण्णि सया, अड्ढाइज्जं सयाणि दु-सयाणि ।
आदिम-मज्झिम-बाहिर-परिसासुं होंति बिदिय-इंदस्स ।।१०२।।

३०० । २५० । २०० ।

अर्थ—द्वितीय इन्द्र के आदिम, मध्यम और बाह्य पारिषद देवों के क्रमशः तीन सौ, ढाई सौ एवं दो सौ देवियाँ होती हैं ।।१०२।।

दोण्णि सया देवीओ, सट्ठी-चालादिरित्त[1] एक्क-सयं ।
णागिंदाणं अब्भितरादि-ति-प्परिस-देवेसुं[2] ।।१०३।।

२०० । १६० । १४० ।

---

[1] द. ब. चालादिरत्त । [2] द. ब. क. ज. ठ. तिप्परिसदेवीसु ।

अर्थ—नागेन्द्रों के अभ्यन्तरादिक तीनों प्रकार के पारिषद देवों में क्रमशः दो सौ, एक सौ साठ और एक सौ चालीस देवियाँ होती हैं ।।१०३।।

सट्ठी-जुदमेक्क-सयं, चालीस-जुदं च वीस अब्भहियं ।
गरुडिंदाणं अब्भंतरादि-ति-प्परिस-देवीओ ।।१०४।।

१६० । १४० । १२० ।

अर्थ—गरुड़ेन्द्रों के अभ्यन्तरादिक तीनों पारिषद देवों के क्रमशः एक सौ साठ, एक सौ चालीस और एक सौ बीस देवियाँ होती हैं ।।१०४।।

चालुत्तरमेक्कसयं, बीसब्भहियं सयं च केवलयं ।
सेसिंदाणं[1] आदिम-परिस-प्पहुदीसु देवीओ ।।१०५।।

१४० । १२० । १००

अर्थ—शेष इन्द्रों के आदिम पारिषदादिक देवों में क्रमशः एक सौ चालीस, एक सौ बीस और केवल सौ देवियाँ होती हैं ।।१०५।।

उदहि पहुदि कुलेसुं, इंदाणं दीव-इंद-सरिसाओ ।
आदिम-मज्झिम-बाहिर, परिसत्तिदयस्स देवीओ ।।१०६।।

१४० । १२० । १००

अर्थ—उदधिकुमार पर्यन्त कुलों में द्वीपेन्द्र के सदृश १४०, १२० और १०० देवियाँ क्रमशः आदि, मध्य और बाह्य पारिषदादिक इन्द्रों की होती हैं ।।१०६।।

असुरादि-दस-कुलेसुं, हवंति सेणा-सुराण पत्तेक्कं ।
पण्णासा देवीओ, सयं च परो महत्तर-सुराणं ।।१०७।।

। ५० । १०० ।

अर्थ—असुरादिक दस कुलों में सेना-सुरों में से प्रत्येक के उत्कृष्टतः पचास और महत्तर देवों के सौ देवियाँ होती हैं ।।१०७।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. देविंदाणं ।

भवनवासी-इन्द्रों के परिवार-देवों की देवियों का प्रमाण गाथा—९९-१०७

कुल नाम	इन्द्र-नाम	प्रतीन्द्र	त्रायस्त्रिंश	सामानिक	लोकपाल	तनु-रक्षक	पारिषद.			सेना-सुर	महत्तर	नि:कृष्ट देव
							आदि	मध्य	बाह्य			
असुरकुमार	चमरेन्द्र	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	१००	२५०	२००	१५०	५०	१००	३२
	वैरोचन					१००	३००	२५०	२००	५०	१००	३२
नागकुमार	भूतानन्द					१००	२००	१६०	१४०	५०	१००	३२
	धरणानन्द					१००	२००	१६०	१४०	५०	१००	३२
सुपर्णकुमार	वेणु					१००	१६०	१४०	१२०	५०	१००	३२
	वेणुधारी					१००	१६०	१४०	१२०	५०	१००	३२
द्वीपकुमार आदि शेष	शेष सर्व इन्द्र					१०० (प्रत्येक) की	१४० (प्रत्येक) की	१२० (प्रत्येक) की	१०० (प्रत्येक) की	५०	१००	३२

जिण-दिट्ठ-पमाणाओ[1], होंति पइण्णय-तियस्स देवीओ ।
सव्व-णिगिट्ठ-सुराणं, पियाओ बत्तीस पत्तेक्कं ॥१०८॥

। ३२ ।

अर्थ—प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, इन तीन देवों की देवियाँ जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये प्रमाण स्वरूप होती हैं। सम्पूर्ण निकृष्ट देवों के भी प्रत्येक के बत्तीस-बत्तीस प्रिया (देवियाँ) होती हैं ॥१०८॥

अप्रधान परिवार देवों का प्रमाण

एदे सव्वे देवा, देविंदाणं पहाण-परिवारा ।
अण्णे वि अप्पहाणा, संखातीदा विराजंति ॥१०९॥

अर्थ—ये सब उपर्युक्त देव इन्द्रों के प्रधान परिवार स्वरूप होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य और भी असंख्यात अप्रधान परिवार सुशोभित होते हैं ॥१०९॥

भवनवासी देवों का आहार और उसका काल-प्रमाण

इंद-पडिंद-प्पहुदी, तद्देवीओ मणेण आहारं ।
अमयमय-मइसिणिद्धं, संगेण्हंते णिरुवमाणं[2] ॥११०॥

अर्थ—इन्द्र-प्रतीन्द्रादिक तथा इनकी देवियाँ अति-स्निग्ध और अनुपम अमृतमय आहार को मन से ग्रहण करती हैं ॥११०॥

[3]चमर-दुगे आहारो, [4]वरिस-सहस्सेण होइ णियमेण ।
पणुवीस-दिणाण दलं, भूदाणंदादि-छण्हं पि ॥१११॥

व १००० । दि $\frac{२५}{२}$ ।

अर्थ—चमरेन्द्र और वैरोचन इन दो इन्द्रों के एक हजार वर्ष बीतने पर नियम से आहार होता है। इसके आगे भूतानन्दादिक छह इन्द्रों के पच्चीस दिनों के आधे ($१२\frac{१}{२}$) दिनों में आहार होता है ॥१११॥

---

[1] द. प्पमाणाओ, ज. ठ. पमाणिक। [2] द. ब. णिवरुवमणं। क. णिवरुवमाण। [3] द. ज. ठ. चरमदुगे। [4] द. ज. ठ. वरस।

बारस-दिणेसु जलपह-पहुदी-छण्हं पि भोयणावसरो ।
पण्णरस-वासर-दलं, अमिदगदि-प्पमुह-छक्कम्मि ॥११२॥

।१२। $\frac{१५}{२}$ ।

अर्थ—जलप्रभादिक छह इन्द्रों के बारह दिन के अन्तराल से और अमितगति आदि छह इन्द्रों के पन्द्रह के आधे (७$\frac{१}{२}$) दिन के अन्तराल से आहार का अवसर आता है ॥११२॥

इंदादी पंचाणं, सरिसो आहार-काल-परिमाणं ।
तणुरक्ख-प्पहुदीणं, तस्सि उवदेस-उच्छिण्णो[1] ॥११३॥

अर्थ—इन्द्रादिक पाँच (इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश और पारिषद) के आहार-काल का प्रमाण सदृश है। इसके आगे तनुरक्षकादि देवों के आहार-काल के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है ॥११३॥

दस-वरिस-सहस्साऊ, जो देवो तस्स भोयणावसरो ।
दोसु दिवसेसु पंचसु, पल्ल-[2]पमाणाउ-जुत्तस्स ॥११४॥[3]

अर्थ—जो देव दस-हजार वर्ष की आयुवाला है उसके दो दिन के अन्तराल से और पल्योपम-प्रमाण से संयुक्त देव के पाँच दिन के अन्तराल से भोजन का अवसर आता है ॥११४॥

भवनवासियों में उच्छ्वास के समय का निरूपण

चमर-दुगे उस्सासं, [4]पण्णरस-दिणाणि पंचवीस-दलं ।
पुह-पुह [5]मुहुत्तयाणि, भूदाणंदादि-छक्कम्मि ॥११५॥

। दि १५ । मु $\frac{२५}{२}$ ।

अर्थ—चमरेन्द्र एवं वैरोचन इन्द्रों के पन्द्रह दिन में तथा भूतानन्दादिक छह इन्द्रों के पृथक्-पृथक् साढ़े बारह-मूहूर्तों में उच्छ्वास होता है ॥११५॥

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. उच्छिण्णा। [2] द. पमाणावजुत्तस्स। [3] मूल प्रति में यह गाथा संख्या ११७ है किन्तु विषय प्रसंग के कारण यहाँ दी गई है। [4] ब. पणरस। [5] ब. मुहुत्तयाणं।

बारस-मुहुत्तयाणि, जलपह-पहुदीसु छस्सु उस्सासा ।
पण्णरस-मुहुत्त-दलं, अमिदगदि-पमुह-छण्हं पि ।।११६।।

। मु १२। $\frac{१५}{२}$ ।

अर्थ—जलप्रभादिक छह इन्द्रों के बारह मुहूर्तों में और अमितगति आदि छह इन्द्रों के साढ़े-सात-मुहूर्तों में उच्छ्वास होता है ।।११६।।

जो अजुदाओ देवो[1], उस्सासा तस्स सत्त-पाणेहिं ।
ते पंच-मुहुत्तेहिं, [2]पलिदोवम-आउ-जुत्तस्स ।।११७।।

अर्थ—जो देव अयुत (दस हजार) वर्ष प्रमाण आयु वाले हैं उनके सात श्वासोच्छ्वास-प्रमाण काल में और पल्योपम-प्रमाण आयु से युक्त देव के पाँच मुहूर्तों में उच्छ्वास होते हैं ।।११७।।

प्रतीन्द्रादिकों के उच्छ्वास का निरूपण

पडिइंदादि-चउण्हं, इंदस्ससरिसा हवंति उस्सासा ।
तणुरक्ख-प्पहुदीसुं, उवएसो संपइ पणट्ठो ।।११८।।

अर्थ—प्रतीन्द्रादिक चार देवों के उच्छ्वास इन्द्रों के सदृश ही होते हैं । इसके आगे तनुरक्षकादि देवों में उच्छ्वास-काल के प्रमाण का उपदेश इस समय नष्ट हो गया है ।।११८।।

असुरकुमारादिकों के वर्णों का निरूपण

सव्वे असुरा किण्हा, हवंति णागा वि कालसामलया ।
गरुडा दीवकुमारा, सामल-वण्णा सरीरेहिं ।।११९।।

[3]उदहि-त्थणिदकुमारा, ते सव्वे कालसामलायारा ।
विज्जू विज्जु-सरिच्छा, सामल-वण्णा दिसकुमारा ।।१२०।।

अग्गिकुमारा सव्वे, जलंत-सिहिजाल-सरिस-दित्ति-धरा ।
णव-कुवलय-सम-भासा, वादकुमारा वि णादव्वा ।।१२१।।

---

१. द. ठ. देओ, क. ज. देउ । २. ब. क. पलिदोवमयावजुंत्तस्स, द. ज. ठ. पलिदोवमयाहजुत्तस्स
३. द. ब. ज. ठ. उदधिधणिद ।

अर्थ—सर्व असुरकुमार (शरीर से) कृष्णवर्ण, नागकुमार कालश्यामल, गरुड़कुमार एवं द्वीपकुमार श्यामलवर्ण वाले होते हैं । सम्पूर्ण उदधिकुमार तथा स्तनितकुमार कालश्यामलवर्णवाले, विद्युत्कुमार बिजली के सदृश और दिक्कुमार श्यामलवर्णवाले होते हैं । सब अग्निकुमार जलती हुई अग्नि की ज्वाला सदृश कान्ति को धारण करने वाले तथा वातकुमार देव नवीन कुवलय (नील-कमल) की सदृशता वाले जानने चाहिए ।।११९-१२१।।

असुरकुमार आदि देवों का गमन

पंचसु कल्लाणेसुं, जिणिंद-पडिमाण पूजण-णिमित्तं ।
णंदीसरम्मि दीवे, इंदादी जांत्ति भत्तीए ।।१२२।।

अर्थ—भक्ति से युक्त सभी इन्द्र (जिनेन्द्रदेव के) पंचकल्याणकों के निमित्त (ढाई द्वीप में) तथा जिनेन्द्र- प्रतिमाओं की पूजन के निमित्त नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं ।।१२२।।

सीलादि-संजुदाणं, पूजण-हेदुं परिक्खण-णिमित्तं ।
णियणिय-कीडण-कज्जे, वइरि-समूहस्स मारणिच्छाए[1] ।।१२३।।

असुर - प्पहुदीण गदी, उड्ढ-सरूवेण जाव ईसाणं ।
णिय-वसदो पर-वसदो, अच्चुद-कप्पावही होदि ।।१२४।।

अर्थ—शीलादिक से संयुक्त किन्हीं मुनिवरादिक की पूजन एवं परीक्षा के निमित्त, अपनी-अपनी क्रीड़ा करने के लिए अथवा शत्रुसमूह को नष्ट करने की इच्छा से असुरकुमारादिक देवों की गति ऊर्ध्व रूपसे अपने वश (अन्य की सहायता के बिना) ईशान स्वर्ग-पर्यन्त और दूसरे देवों की सहायता से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त होती है ।।१२३-१२४।।

भवनवासी देव- देवियों के शरीर एवं स्वभावादिक का निरूपण

कणयं व णिरुवलेवा, णिम्मल-कंती सुगंध-णिस्सासा ।
णिरुवमय - रूवरेखा, समचउरस्संग - संठाणा ।।१२५।।

लक्खण-वंजण-जुत्ता, संपुण्णमियंक-सुन्दर-महाभा ।
णिच्चं चेय कुमारा, देंवा देवी ओ तारिसया ।।१२६।।

---

[1] द. मारणिड्डाए ।

अर्थ—(वे सब देव) स्वर्ण के समान, मल के संसर्ग से रहित निर्मल कान्ति के धारक, सुगन्धित निश्वास से संयुक्त, अनुपम रूपरेखा वाले, समचतुरस्र नामक शरीर संस्थान वाले लक्षणों और व्यंजनों से युक्त, पूर्ण चन्द्र सदृश सुन्दर महाकान्ति वाले और नित्य ही (युवा) कुमार रहते हैं, वैसी ही उनकी देवियाँ होती हैं ।।१२५-१२६।।

रोग-जरा-परिहीणा, णिरुवम-बल-वीरिएहि परिपुण्णा ।
आरत्त-पाणि-चरणा, कदलीघादेण परिचत्ता ।।१२७।।

वर-रयण-मोडधारी[1], वर-विविह-विभूसणेहि सोहिल्ला ।
[2]मंसट्ठि-मेध-लोहिद-मज्ज-वसा[3] - सुक्क - परिहीणा ।।१२८।।

कररुह-केस-विहीणा, णिरुवम-लावण्ण-दित्ति-परिपुण्णा ।
बहुविह-विलास - सत्ता, देवा देवीओ ते होंति ।।१२९।।

अर्थ—वे देव - देवियाँ रोग एवं जरा से विहीन, अनुपम बल-वीर्य से परिपूर्ण, किंचित लालिमा युक्त हाथ-पैरों से सहित कदलीघात (अकालमरण) से रहित, उत्कृष्ट रत्नों के मुकुट को धारण करने वाले, उत्तमोत्तम विविध-प्रकार के आभूषणों से शोभायमान, मांस-हड्डी-मेद-लोहू-मज्जा-वसा और शुक्र आदि धातुओं से विहीन, हाथों के नख एवं बालों से रहित अनुपम लावण्य तथा दीप्ति से परिपूर्ण और अनेक प्रकार के हाव-भावों में आसक्त रहते (होते) हैं ।।१२७-१२९।।

असुरकुमार आदिकों में प्रवीचार

असुरादी भवणसुरा, सव्वे ते होंति काय-पविचारा[4] ।
वेदस्सुदीरणाए[5], अणुभवणं [6]माणुस - समाणं ।।१३०।।

अर्थ—वे सब असुरादिक भवनवासी देव काय-प्रवीचार से युक्त होते हैं तथा वेद-नोकषाय की उदीरणा होने पर वे मनुष्यों के समान कामसुख का अनुभव करते हैं ।।१३०।।

धादु-विहीणत्तादो, रेद- विणिग्गमणमत्थि ण हु ताणं ।
संकप्प - सुहं जायदि, वेदस्स उदीरणा - विगमे ।।१३१।।

---

[1] ब. मेडधारी । [2] द. मंसड्ढि । [3] द. क. ज. ठ. वसू । [4] द. ब. क. ज. ठ. पडिचारा । [5] द. ब. वेदसुदीरणयाए । [6] द. ब. क. ज. ठ. माणस ।

अर्थ—सप्त-धातुओं से रहित होने के कारण उन देवों के वीर्य का क्षरण नहीं होता। केवल वेद-नोकषाय की उदीरणा के शान्त होने पर उन्हें संकल्पसुख उत्पन्न होता है ।।१३१।।

इन्द्र-प्रतीन्द्रादिकों की छत्रादि-विभूतियाँ

बहुविह-परिवार-जुदा, देविंदा विविह-छत्त-पहुदीहिं ।
सोहंति विभूदीहिं, पडिइंदादी य चत्तारो ।।१३२।।

अर्थ—बहुत प्रकार के परिवार से युक्त इन्द्र और प्रतीन्द्रादिक चार (प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिश, सामानिक और लोकपाल) देव भी विविध प्रकार की छत्रादिरूप विभूति से शोभायमान होते हैं ।।१३२।।

पडिइंदादि-चउण्हं, सिंहासण-आदवत्त-चमराणि ।
णिय-णिय-इंद-समाणि, आयारे होंति किंचूणा ।।१३३।।

अर्थ—प्रतीन्द्रादिक चार देवों के सिंहासन, छत्र और चमर ये अपने-अपने इन्द्रों के सदृश होते हुए भी आकार में कुछ कम होते हैं ।।१३३।।

इन्द्र-प्रतीन्द्रादिकों के चिह्न

सव्वेसिं इंदाणं, चिण्हाणि तिरीटमेव मणि-खचिदं ।
पडिइंदादि-चउण्हं, चिण्हं मउडं मुणेदव्वा ।।१३४।।

अर्थ—सब इन्द्रों का चिह्न मणियों से खचित किरीट (तीन शिखर वाला मुकुट) है और प्रतीन्द्रादिक चार देवों का चिह्न (साधारण) मुकुट ही जानना चाहिए ।।१३४।।

ओलगशाला के आगे स्थित असुरादि कुलों के चिह्न-स्वरूप वृक्षों का निर्देश

ओलगसाला-पुरदो, चेत्त-दुमा होंति विविह-रयणमया ।
असुर-प्पहुदि-कुलाणं, ते चिण्हाइं[1] इमा होंति ।।१३५।।

---

[1] ब. क. ज. ठ. चिण्हा इंदमाहोंति ।

अस्सत्थ-सत्तपण्णा, संमलि-जंबू य वेदस-कडंबा ।
[1]तह पीयंगू सिरसा, पलास-रायद्दुमा कमसो ।।१३६।।

अर्थ—असुरकुमार आदि कुलों की ओलगशालाओं (परिचर्यागृहों) के आगे क्रमशः विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, जामुन, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष, पलास और राज-द्रुम ये दस चैत्यवृक्ष उनके चिह्न स्वरूप होते हैं ।।१३५-१३६।।

(भवनवासी देवों के आहार एवं श्वासोच्छ्वास का अन्तराल तथा चैत्य-वृक्षादि का विवरण पृष्ठ ३०५ पर देखिये)

---

१. ब. क. ज. ठ. तय ।

भवनवासी देवों के आहार एवं श्वासोच्छ्वास का अन्तराल तथा चैत्य-वृक्षादि का विवरण गा० ११०-१३६

कुलों के नाम	आहार का अन्तराल	श्वासोच्छ्वास का अन्तराल	शरीर का वर्ण	ऊर्ध्व रूप से गति		संस्थान	प्रवीचार	चैत्य-वृक्ष
				स्ववश	परवश			
असुरकुमार	१००० वर्ष	१५ दिन	कृष्ण	स्व-आलम्बन से ईशान-स्वर्ग-पर्यन्त	परावलम्बन रूप से अच्युत-स्वर्ग-पर्यन्त	समचतुरस्र-संस्थान	कायप्रवीचार से युक्त	अश्वत्थ (पीपल)
नागकुमार	१२$\frac{१}{२}$ दिन	१२$\frac{१}{२}$ मु०	कालश्याम					सप्तपर्ण
सुपर्णकुमार	,,	,,	श्याम					शाल्मलि
द्वीपकुमार	,,	,,	श्याम					जामुन
उदधिकुमार	१२ दिन	१२ मु०	कालश्याम					वेतस
स्तनितकुमार	,,	,,	,,					कदम्ब
विद्युत्कुमार	,,	,,	बिजलीवत्					प्रियंगु
दिक्कुमार	७$\frac{१}{२}$ दिन	७$\frac{१}{२}$ मु०	श्यामल					शिरीष
अग्निकुमार	,,	,,	अग्निवत्					पलास
वायुकुमार	,,	,,	नीलकमल					राजद्रुम
इनके सामा०, त्राय०, पारिषद एव प्रतीन्द्र	स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्						
देव १००० वर्ष आयु वाले	२ दिन	७ श्वासो०						
देव १ पल्य की आयु वाले	५ दिन	५ मुहूर्त						

नोट—गाथाओं में चमर-वैरोचन आदि इन्द्रों के आहार एवं श्वासोच्छ्वास का अन्तराल कहा गया है। तालिका में कुलों का जो अन्तराल दर्शाया है, वही उनके चमरादि इन्द्रों का समझना चाहिए।

चैत्यवृक्षों के मूल में जिनप्रतिमाएँ एवं उनके आगे मानस्तम्भों की स्थिति

चेत्त-दुमा-मूलेसुं, पत्तेक्कं चउ-दिसासु चेट्ठंते[1] ।
पंच जिणिंद-प्पडिमा, पलियंक-ठिदा परम-रम्मा ।।१३७।।

अर्थ—प्रत्येक चैत्यवृक्ष के मूल भाग में चारों ओर पल्यंकासन से स्थित परम रमणीय पाँच पाँच जिनेन्द्र-प्रतिमाएँ विराजमान हैं ।।१३७।।

पडिमाणं अग्गेसुं, रयणत्थंभा हवंति वीस फुडं[2] ।
पडिमा-पीढ-सरिच्छा, पीडा थंभाण णादव्वा ।।१३८।।

एक्केक्क-माणथंभे, अट्ठावीसं-जिणिंद-पडिमाओ ।
चउसु दिसासुं सिंहासणादि-विण्णास-जुत्ताओ ।।१३९।।

अर्थ—प्रतिमाओं के आगे रत्नमय बीस मानस्तम्भ होते हैं । स्तम्भों का पीठिकाएँ प्रतिमाओं की पीठिकाओं के सदृश जानना चाहिए । एक-एक मानस्तम्भ के ऊपर चारों दिशाओं में सिंहासन आदि के विन्यास से युक्त अट्ठाईस जिनेन्द्र-प्रतिमाएँ होती हैं ।।१३८-१३९।।

सेसाओ वण्णणाओ, चउ-वण-मज्झत्थ-चेत्ततरु-सरिसा[3] ।
छत्तादि - छत्त - पहुदी - जुदाण[4] जिणणाह - पडिमाणं ।।१४०।।

अर्थ—छत्र के ऊपर छत्र आदि से युक्त जिनेन्द्र-प्रतिमाओं का शेष वर्णन चार वनों के मध्य में स्थित चैत्यवृक्षों के सदृश जानना चाहिए ।।१४०।।

चमरेन्द्रादिकों में परस्पर ईर्षाभाव

चमरिंदो सोहम्मे, ईसदि वइरोयणो य ईसाणे[5] ।
भूदाणंदे[6] वेणू, धरणाणंदम्मि [7]वेणुधारि त्ति ।।१४१।।

एदे अट्ठ सुरिंदा, अण्णोण्णं बहुविहाओ भूदीओ ।
दट्ठूण मच्छरेणं, ईसंति सहावदो केई ।।१४२।।

।। इंदविभवो[8] समत्तो[9] ।।

---

[1] द. चेट्ठतां । [2] द. क. ज. ठ. पुढं । [3] द. ब. सहस्सा । [4] द. ब. क. ज. ठ. जुदाणि । [5] ब. ईसाणो । [6] ब. ईसाणंदे । [7] ब. क. वेणुदारि । [8] द. इंदविमवे । [9] द. ब. समत्ता ।

अर्थ—चमरेन्द्र सौधर्म इन्द्र से, वैरोचन ईशान इन्द्र से, वेणु भूतानन्द से और वेणुधारी धरणानन्द से ईर्षा करता है। इस प्रकार ये आठ सुरेन्द्र परस्पर नानाप्रकार की विभूतियों को देखकर मात्सर्य से एवं कितने ही स्वभाव से ईर्षा करते हैं ।।१४१-१४२।।

।। इन्द्रों का वैभव समाप्त हुआ ।।

भवनवासियों की संख्या

संखातीदा सेढो, भावण-देवाण दस-विकप्पाणं ।
तीए पमाण सेढी, [1]बिदंगुल-पढम-मूल-हदा ।।१४३।।

।। संखा समत्ता ।।

अर्थ—दस भेदरूप भवनवासी देवों का प्रमाण असंख्यात-जगच्छ्रेणी रूप है, उसका प्रमाण घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से गुणित जगच्छ्रेणी मात्र है ।।१४३।।

।। संख्या समाप्त हुई ।।

भवनवासियों की आयु

रयणाकरेक्क-उवमा, चमर-दुगे होदि आउ-परिमाणं ।
तिण्णि पलिदोवमाणि, भूदाणंदादि - जुगलम्मि ।।१४४।।

सा १ । प ३ ।।

वेणु-दुगे पंच-दलं, पुण्ण-वसिट्ठेसु दोण्णि पल्लाइं ।
जलपहुदि-सेसयाणं, दिवड्ढ-पल्लं तु पत्तेक्कं ।।१४५।।

। प $\frac{५}{२}$ । प २ । प $\frac{३}{२}$ । सेसे १२ ।

अर्थ—चमरेन्द्र एवं वैरोचन इन दो इन्द्रों की आयु का प्रमाण एक सागरोपम, भूतानन्द एवं धरणानन्द युगल की तीन पल्योपम, वेणु एवं वेणुधारी इन दो इन्द्रों की ढाई पल्योपम, पूर्ण एवं वशिष्ठ की दो पल्योपम तथा जलप्रभ आदि शेष बारह इन्द्रों में से प्रत्येक की आयु का प्रमाण डेढ़ पल्योपम है ।।१४४-१४५।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. विंदंगुणगार ।

अहवा उत्तर-इंदेसु, पुव्व-भणिदं हवेदि अदिरित्तं ।
पडिइंदादि-चउण्हं, आउ-पमाणाणि इंद-समं ॥१४६॥

अर्थ—अथवा—उत्तरेन्द्रों (वैरोचन, धरणानन्द आदि) की पूर्व में जो आयु कही गयी है उससे कुछ अधिक होती है। प्रतीन्द्रादिक चार देवों की आयु का प्रमाण इन्द्रों के सदृश है ॥१४६॥

एक्क-पलिदोवमाऊ, सरीर-रक्खाण होदि चमरस्स ।
वइरोयणस्स[1] अहियं, भूदाणंदस्स कोडि-पुव्वाणि ॥१४७॥

प १ । प १ । पु को १ ।

अर्थ—चमरेन्द्र के शरीर-रक्षकों की एक पल्योपम, वैरोचन इन्द्र के शरीर-रक्षकों की एक पल्योपम से अधिक और भूतानन्द के शरीर-रक्षकों की आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण होती है ॥१४७॥

धरणिंदे अहियाणि, वच्छर-कोडी हवेदि वेणुस्स ।
तणुरक्खा - उवमाणं, अदिरित्तो वेणुधारिस्स ॥१४८॥

पु को १ । व को १ । व को १ ।

अर्थ—धरणानन्द में शरीर-रक्षकों की एक पूर्वकोटि से अधिक, वेणु के शरीर-रक्षकों की एक करोड़ वर्ष और वेणुधारी के शरीर-रक्षकों की आयु एक करोड़ वर्ष से अधिक होती है ॥१४८॥

पत्तेक्कमेक्क-लक्खं, वासा आऊ सरीर-रक्खाणं ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, उत्तर-इंदम्मि अदिरित्ता ॥१४९॥

व १ ल । व १ ल ।

अर्थ—शेष दक्षिण इन्द्रों के शरीर-रक्षकों में से प्रत्येक की एक लाख वर्ष और उत्तरेन्द्रों के शरीर-रक्षकों की आयु एक लाख वर्ष से अधिक होती है ॥१४९॥

अड्ढाइज्जा दोण्णि य, पल्लाणि दिवड्ढ-आउ-परिमाणं ।
आदिम-मज्झिम-बाहिर-तिप्परिस-सुराण चमरस्स ॥१५०॥

प $\frac{5}{2}$ । प २ । प $\frac{3}{2}$ ।

---

[1] द. वयरोयणस्स ।

अर्थ—चमरेन्द्र के आदि, मध्यम और बाह्य, इन तीन पारिषद देवों की आयु का प्रमाण क्रमशः ढाई पल्योपम, दो पल्योपम और डेढ़ पल्योपम है ॥१५०॥

तिण्णि पलिदोवमाणि, अड्ढाइज्जा दुवे कमा होदि ।
वइरोयणस्स आदिम - परिसप्पहुदीण जेट्ठाऊ ॥१५१॥

। प ३ । प $\frac{५}{२}$ । प २ ।

अर्थ—वैरोचन इन्द्र के आदिम आदिक पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः तीन पल्योपम, ढाई पल्योपम और दो पल्योपम है ॥१५१॥

[1]अट्ठ सोलस-बत्तीस-होंति पलिदोवमस्स भागाणि ।
भूदाणंदे अहिओ, धरणाणंदस्स परिस-तिद-आऊ ॥१५२॥

प $\frac{१}{८}$ । प $\frac{१}{१६}$ । प $\frac{१}{३२}$ ।

अर्थ—भूतानन्द के तीनों पारिषद देवों की आयु क्रमशः पल्योपम के आठवें, सोलहवें और बत्तीसवें–भाग प्रमाण; तथा धरणानन्द के तीनों पारिषद देवों की आयु इससे अधिक होती है ॥१५२॥

परिसत्तय-जेट्ठाऊ, तिय-दुग-एक्का य पुव्व-कोडीओ ।
वेणुस्स होदि कमसो, अदिरित्ता वेणुधारिस्स ॥१५३॥

पु को ३ । पु को २ । पु को १ ।

अर्थ - वेणु के तीनों पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः तीन, दो और एक पूर्व कोटि तथा वेणुधारी के तीनों पारिषदों की इससे अधिक है ॥१५३॥

तिप्परिसाणं आऊ, तिय-दुग-एक्काओ वास-कोडिओ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१५४॥

व को ३ । व को २ । व को १ ।

अर्थ—शेष दक्षिण-इन्द्रों के तीनों पारिषद देवों की आयु क्रमशः तीन, दो और एक करोड़ वर्ष तथा उत्तर इन्द्रों के तीनों पारिषद देवों की आयु इससे अधिक है ॥१५४॥

---

[1] ब. क. अट्ठसोलस । ज. ठ. अट्ठंसोलस ।

एक्क-पलिदोवमाऊ, सेणाधीसाण होदि चमरस्स ।
वइरोयणस्स अहियं, भूदाणंदस्स कोडि-पुव्वाणि ।।१५५।।

प १ । प १ । पुव्व को १ ।

अर्थ—चमरेन्द्र के सेनापति देवों की आयु एक पल्योपम, वैरोचन के सेनापति देवों को इससे अधिक और भूतानन्द के सेनापति देवों की आयु एक पूर्व-कोटि है ।।१५५।।

धरणाणंदे अहियं, वच्छर-कोडी हवेदि वेणुस्स ।
[1]सेणा-महत्तराऊ, अदिरित्ता[2] वेणुधारिस्स ।।१५६।।

पु० को० १ । व० को० १ । व० को० १ ।

अर्थ—धरणानन्द के सेनापति देवों की आयु एक पूर्वकोटि से अधिक, वेणु के सेनापति देवों की एक करोड़ वर्ष और वेणुधारी के सेनापतिं देवों की आयु एक करोड़ वर्ष से अधिक है ।।१५६।।

पत्तेक्कमेक्क-लक्खं, आऊ [3]सेणावईण णादव्वो ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, [4]अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ।।१५७।।

व० १ ल । व १ ल ।

अर्थ शेष दक्षिणेन्द्रों में प्रत्येक सेनापति की आयु एक लाख वर्ष और उत्तरेन्द्रों के सेनापतियों की आयु इससे अधिक जाननी चाहिए ।।१५७।।

पलिदोवमद्धमाऊ, आरोहक-वाहणाण चमरस्स ।
वइरोयणस्स अहियं, भूदाणंदस्स कोडि-वरिसाइं ।।१५८।।

प $\frac{१}{२}$ । प $\frac{१}{२}$ । व को १ ।

अर्थ—चमरेन्द्र के आरोहक वाहनों की आयु अर्ध-पल्योपम, वैरोच्चन के आरोहक-वाहनों की अर्ध-पल्योपम से अधिक और भूतानन्द के आरोहक वाहनों की आयु एक करोड़ वर्ष होती है ।।१५८।।

---

[1] द. ब. ज. ठ. सेसा । [2] द. ब. क. ज. ठ. अधिरित्ता । [3] द. सेण्णवईण । [4] ब. क. अधिरित्तं. ज. ठ. अधिरित्तं ।

धरणाणंदे अहियं, वच्छर-लक्खं हवेदि वेणुस्स ।
आरोह-वाहणाऊ[1] तु, अतिरित्तं वेणुधारिस्स[2] ।।१५९।।

।व० को १ ।व १ ल ।व १ ल ।

अर्थ—धरणानन्द के आरोहक वाहनों की आयु एक करोड़ वर्ष से अधिक, वेणु के आरोहक वाहनों की एक लाख वर्ष और वेणुधारी के आरोहक वाहनों की आयु एक लाख वर्ष से अधिक होती है ।।१५९।।

पत्तेक्कमद्ध-लक्खं, आरोहक-वाहणाण जेट्ठाऊ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ।।१६०।।

५००००

अर्थ—शेष दक्षिण इन्द्रों में से प्रत्येक के आरोहक वाहनों की उत्कृष्ट आयु अर्ध लाख वर्ष और उत्तरेन्द्रों के आरोहक वाहनों की आयु इससे अधिक है ।।१६०।।

जेत्तियमेत्तं[3] आऊ, पइण्ण-अभियोग-किब्बिस-सुराणं ।
तप्परिमाण - परूवण - उवएसस्सप्पहि[4] पणट्ठो ।।१६१।।

अर्थ प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवों की जितनी-जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के प्ररूपण के उपदेश इस समय नष्ट हो चुके हैं ।।१६१।।

[भवनवासी-इन्द्रों की (सपरिवार) आयु के प्रमाण के विवरण की तालिका
पृष्ठ ३१२-३१३ पर देखिये]

---

[1] ब. वाहणाइं । [2] क. ब. वेणुदारिस्स । [3] द. मेत्तयाऊँ, ज. ठ. मेत्तियाऊँ । [4] द. ब. ज. ठ. उवएस ।

भवनवासी-इन्द्रों की (सपरिवार)

इन्द्रों के नाम	दक्षिणेन्द्र उत्तरेन्द्र	उत्कृष्ट आयु	प्रतीन्द्रों की	त्रायस्त्रिंश की	सामानिक देवों की	लोकपालों की	तनुरक्षक देवों की
चमर	द०	एक सागर	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	एक पल्य
वैरोचन	उ०	साधिक एक सा०					साधिक एक पल्य
भूतानन्द	द०	तीन पल्योपम					एक पूर्व कोटि
धरणानन्द	उ०	साधिक तीन पल्य					सा० एक पूर्व कोटि
वेणु	द०	२$\frac{1}{2}$ पल्य					एक करोड़ वर्ष
वेणुधारी	उ०	साधिक २$\frac{1}{2}$ प०					सा० एक करोड़ वर्ष
पूर्ण	द०	२ पल्योपम					एक लाख वर्ष
वशिष्ठ	उ०	साधिक २ पल्य					सा० एक लाख वर्ष
जलप्रभादि छह	द०	१$\frac{1}{2}$ पल्य					एक लाख वर्ष
जलकान्त आदि छह	उ०	साधिक १$\frac{1}{2}$ पल्य					साधिक एक लाख वर्ष

आयु के प्रमाण का विवरण

गाथा—१४३-१५६

पारिषद			अनीक देवों की	वाहन देवों की
आदि	मध्य	बाह्य		
२½ पल्योपम	२ पल्योपम	१½ पल्योपम	१ पल्य	½ पल्य
३ पल्योपम	२½ पल्योपम	२ पल्योपम	साधिक १ पल्य	साधिक ½ पल्य
पल्य का १/८ भाग	पल्य का १/१६ भाग	पल्य का १/३२ भाग	१ पूर्वकोटि	१ करोड़ वर्ष
सा०पल्य का १/८ भाग	सा०पल्य का १/१६ भाग	सा०पल्य का १/३२ भाग	साधिक १ पूर्वकोटि	साधिक एक करोड़ वर्ष
३ पूर्वकोटि	२ पूर्वकोटि	१ पूर्वकोटि	१ करोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष
सा० ३ पूर्वकोटि	सा० २ पूर्वकोटि	साधिक १ पूर्वकोटि	साधिक एक करोड़ वर्ष	साधिक १ लाख वर्ष
३ करोड़ वर्ष	२ करोड़ वर्ष	एक करोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	½ लाख वर्ष
सा० ३ करोड़ वर्ष	सा० २ करोड़ वर्ष	सा०एक करोड़ वर्ष	साधिक १ लाख वर्ष	साधिक ½ लाख वर्ष
३ करोड़ वर्ष	२ करोड़ वर्ष	एक करोड़ वर्ष	१ लाख वर्ष	½ लाख वर्ष
साधिक ३ करोड़ वर्ष	सा० २ करोड़ वर्ष	सा०एक करोड़ वर्ष	सा० एक लाख वर्ष	साधिक ½ लाख वर्ष

आयु की अपेक्षा भवनवासियों का सामर्थ्य

दस-वास-सहस्साऊ, जो देवो[1] माणुसाण सयमेक्कं ।
मारिदुमह-पोसेदुं, सो सक्कदि अप्प-सत्तीए ।।१६२।।

खेत्तं दिवड्ढ-सय-धणु-पमाण-आयाम-वास-बहलत्तं ।
बाहाहिं [2]वेढेदुं, [3]उप्पाडेदुं पि सो सक्को ।।१६३।।

दं १५० ।

अर्थ—जो देव दस हजार वर्ष की आयुवाला है, वह अपनी शक्ति से एक सौ मनुष्यों को मारने अथवा पोसने में समर्थ है, तथा वह देव डेढ़ सौ धनुष प्रमाण लम्बे, चौड़े और मोटे क्षेत्र को बाहुओं से वेष्टित करने और उखाड़ने में भी समर्थ है ।।१६२-१६३।।

एक्क-पलिदोवमाऊ, उप्पाडेदुं महीए छक्खंडं ।
तग्गद-णर-तिरियाणं, मारेदुं पोसिदुं सक्को ।।१६४।।

अर्थ—एक पल्योपम आयु वाला देव पृथिवी के छह खण्डों को उखाड़ने तथा वहाँ रहने वाले मनुष्य एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पोसने में समर्थ है ।।१६४।।

उवहि-उवमाण-जीवी, जंबूदीवं [4]समग्गमुक्खलिदुं ।
तग्गद-णर-तिरियाणं, मारेदुं पोसिदुं सक्को ।।१६५।।

अर्थ—एक सागरोपम काल तक जीवित रहने वाला देव समग्र जम्बूद्वीप को उखाड़ फेंकने अर्थात् तहस-नहस करने और उसमें स्थित मनुष्य एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पोसने के लिए समर्थ है ।।१६५।।

आयु की अपेक्षा भवनवासियों में विक्रिया

दस-वास-सहस्साऊ, सद-रूवाणि विगुव्वणं कुणदि ।
उक्कस्सम्मि जहण्णे, सग-रूवा मज्झिमे विविहा ।।१६६।।

---

[1] ब. देवाउ । [2] द. ज. ठ. वेदेदुं । [3] द. ब. ज. ठ. उप्पादेदुं । [4] द. ब. क. ज. ठ. जंबूदीवस्स उग्गमे ;

अर्थ—दस हजार वर्ष की आयु वाला देव उत्कृष्ट रूप से सौ, जघन्य रूप से सात और मध्यम रूप से विविध रूपों की विक्रिया करता है ॥१६६॥

अवसेस-सुरा सव्वे, णिय-णिय-ओही[1] पमाण-खेत्ताणि ।
[2]जेत्तियमेत्ताणि पुढं, पूरंति [3]विकुव्वणाए एदाइं ॥१६७॥

अर्थ—अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्रों का जितना प्रमाण है, उतने क्षेत्रों को शेष सब देव पृथक्-पृथक् विक्रिया से पूरित करते हैं ॥१६७॥

आयु की अपेक्षा गमनागमन-शक्ति

सखेज्जाऊ जस्स य, सो संखेज्जाणि जोयणाणि सुरो[4] ।
गच्छेदि एक्क-समए, आगच्छदि तेत्तियाणि पि ॥१६८॥

अर्थ--जिस देव की संख्यात वर्ष की आयु है, वह एक समय में संख्यात योजन जाता है और इतने ही योजन आता है ॥१६८॥

जस्स असंखेज्जाऊ, सो वि असंखेज्ज-जोयणाणि पुढं ।
गच्छेदि एक्क-समए, आगच्छदि तेत्तियाणि पि ॥१६९॥

अर्थ—तथा जिस देव की आयु असंख्यात वर्ष की है, वह एक समय में असंख्यात योजन जाता है और इतने ही योजन आता है ॥१६९॥

भवनवासिनी-देवियों की आयु

अड्ढाइज्जं पल्लं, आऊ देवीण होदि चमरम्मि ।
वइरोयणम्मि तिण्णि य, भूदाणंदम्मि पल्ल-अट्ठंसो ॥१७०॥

प $\frac{५}{२}$ । प ३ । प $\frac{१}{८}$ ।

अर्थ--चमरेन्द्र की देवियों की आयु ढाई पल्योपम, वैरोचन की देवियों की तीन पल्योपम और भूतानन्द की देवियों की आयु पल्योपम के आठवें भाग मात्र होती है ॥१७०॥

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. उहइपमाण । [2] ब. क. ज. ठ. जिजत्तिय । [3] ब. विउव्वणाए । [4] द. ब. क. ज. ठ. सुग ।

धरणाणंदे अहियं, वेणुम्मि हवेदि पुव्वकोडि-तियं ।
देवीण[1] आउसंखा, अदिरित्तं वेणुधारिस्स ॥१७१॥

प $\frac{१}{८}$ । पु को ३ ।

अर्थ—धरणानन्द की देवियों की आयु पल्य के आठवें-भाग से अधिक, वेणु की देवियों की तीन पूर्वकोटि और वेणुधारी की देवियों की आयु तीन पूर्वकोटियों से अधिक है ॥१७१॥

पत्तेक्कमाउसंखा, देवीणं तिण्णि वरिस-कोडीओ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१७२॥

व को ३ ।

अर्थ—अवशिष्ट दक्षिण इन्द्रों में से प्रत्येक की तीन करोड़ वर्ष और उत्तर इन्द्रों में से प्रत्येक की देवियों की आयु इससे अधिक है ॥१७२॥

[2]पडिइंदादि-चउण्हं, आऊ देवीण होदि पत्तेक्कं ।
णिय-णिय-इंद-पविण्णद-देवी आउस्स सारिच्छो ॥१७३॥

अर्थ—प्रतीन्द्रादिक चार देवों की देवियों में से प्रत्येक की अपने-अपने इन्द्रों की देवियों की कही गयी आयु के सदृश होती है ॥१७३॥

जेत्तियमेत्ता आऊ, सरीररक्खादियाण देवीणं ।
तस्स पमाण-णिरूवम-उवदेसो णत्थि काल-वसा ॥१७४॥

अर्थ—अंगरक्षक आदिक देवों की देवियों की जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के कथन का उपदेश काल के वश से इस समय नहीं है ॥१७४॥

भवनवासियों की जघन्य-आयु

असुरादि-दस-कुलेसुं, सव्व-णिगिट्ठाण[3] होदि देवाणं ।
दस-वास-सहस्साणि, जहण्ण-आउस्स परिमाणं ॥१७५॥

॥ आउ-परिमाणं समत्तं[4] ॥

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. अदेवीण । [2] द. ब. क. ज. पडिइंदादि । [3] ब. क. ज. ठ. णिगिट्ठाण । [4] द. ब. क. ज. ठ. सम्मत्ता ।

अर्थ—असुरकुमारादिक दस निकायों में सर्व निकृष्ट देवों की जघन्य आयु का प्रमाण दस हज़ार वर्ष है ॥१७५॥

॥ आयु का प्रमाण समाप्त हुआ ॥

भवनवासी देवों के शरीर का उत्सेध

असुराण पंचवीसं, सेस-सुराणं हवंति दस दंडा ।
एस सहाउच्छेहो, विक्किरियंगेसु बहुभेया ॥१७६॥

दं २५ । दं १० ।

॥ उच्छेहो गदो[1] ॥

अर्थ—असुरकुमारों की पच्चीस धनुष और शेष देवों की ऊँचाई दस धनुष मात्र होती है, शरीर की यह ऊँचाई स्वाभाविक है किन्तु विक्रियानिर्मित शरीरों की ऊँचाई अनेक प्रकार की होती है ॥१७६॥

॥ उत्सेध का कथन समाप्त हुआ ॥

ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से अवधिक्षेत्र का प्रमाण

णिय-णिय-भवन-ठिदाणं, उक्कस्से भवणवासि-देवाणं ।
उड्ढेण होदि णाणं, कंचणगिरि-सिहर-परियंतं ॥१७७॥

अर्थ—अपने-अपने भवन में स्थित भवनवासी देवों का अवधिज्ञान ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से मेरुपर्वत के शिखर पर्यन्त क्षेत्र को विषय करता है ॥१७७॥

अध: एवं तिर्यग्क्षेत्र में अवधिज्ञान का प्रमाण

[2]तट्ठाणादोधोधो, थोवत्थोवं पयट्टदे ओही ।
तिरिय-सरूवेण पुणो, बहुतर-खेत्तेसु अक्खलिदं ॥१७८॥

---

१. द. ठ. गदा । २. द. तट्ठाणादो दोद्दो, ब. तट्ठाणादो द्दो, क. तट्ठाणादो, दो वो, ज. ठ. तट्ठाणादो द्दो धो ।

अर्थ—भवनवासी देवों का अवधिज्ञान अपने-अपने भवनों के नीचे-नीचे थोड़े-थोड़े क्षेत्र में प्रवृत्ति करता है परन्तु वही तिरछे रूप से बहुत अधिक क्षेत्र में अबाधित प्रवृत्ति करता है ।।१७८।।

क्षेत्र एवं कालापेक्षा जघन्य अवधिज्ञान

पणुवीस जोयणाणिं, होदि जहण्णेण ओहि-परिमाणं ।
भावणवासि-सुराणं, एक्क-दिणब्भंतरे काले ।।१७९।।

यो २५ । का दि १ ।

अर्थ—भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण जघन्य रूप से पच्चीस योजन है। पुनः काल की अपेक्षा एक दिन के भीतर की वस्तु को विषय करता है ।।१७९।।

असुरकुमार-देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण

असुराणामसंखेज्जा, जोयण-कोडीउ ओहि-परिमाणं ।
खेत्ते कालम्मि पुणो, होंति असंखेज्ज-वासाणि ।।१८०।।

रि । क् । जो । रि । व ।

अर्थ—असुरकुमार देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात करोड़ योजन और काल की अपेक्षा असंख्यात वर्ष मात्र है ।।१८०।।

शेष देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण

संखातीद-सहस्सा, उक्कस्से जोयणाणि सेसाणं ।
असुराणं कालादो, संखेज्ज-गुणेण हीणा य ।।१८१।।

अर्थ—शेष देवों के अवधिज्ञान का प्रमाण उत्कृष्ट रूप से क्षेत्र की अपेक्षा असंख्यात हजार योजन और काल की अपेक्षा असुरकुमारों के अवधिज्ञान के काल से संख्यातगुणा कम है ।।१८१।।

अवधिक्षेत्र-प्रमाण विक्रिया

णिय-णिय-ओहीक्खेत्तं, णाणा-रूवाणि तह [1]विकुव्वंता ।
पूरंति असुर-पहुदी, भावण-देवा दस-वियप्पा ।।१८२।।

।। ओही गदा ।।

---

[1] द. क. वकुव्वंता, ज. ठ. वकुव्वंती ।

अर्थ—असुरकुमारादि दस प्रकार के भवनवासी देव अनेक रूपों की विक्रिया करते हुए अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र को पूरित करते हैं ।।१८२।।

।। अवधिज्ञान का कथन सभाप्त हुआ ।।

भवनवासी-देवों में गुणस्थानादि का वर्णन

गुण-जीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो ।
उवजोगा कहिदव्वा, एदाण कुमार-देवाणं ।।१८३।।

अर्थ---अब इन कुमार-देवों के क्रमशः गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा आदि चौदह मार्गणा और उपयोग का कथन करना चाहिए ।।१८३।।

भवण-सुराणं अवरे, दो [1]गुणठाणं च तम्मि चउसंखा ।
मिच्छाइट्ठी सासण-सम्मो मिस्सो विरदसम्मा ।।१८४।।

अर्थ—भवनवासी देवों के जघन्य से मिथ्यात्व तथा असंयत सम्यक्त्व ये दो गुणस्थान होते हैं तथा उत्कृष्टतः मिथ्यादृष्टि, सासादन-सम्यक्त्व, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान होते हैं । (क्योंकि सासादन सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व नामक गुणस्थान तो कभी तीन लोक में किसी के भी नहीं हों, यह भी सम्भव है । तब उस अवस्था में यहाँ जघन्यतः दो गुणस्थान मिथ्यात्व व असंयत सम्यक्त्व ही होंगे ।) ।।१८४।।

उपरितन गुणस्थानों की विशुद्धि-विनाश के फल से भवनवासियों में उत्पत्ति

ताण अपच्चक्खाणावरणोदय-सहिद भवण-जीवाणं ।
विसयाणंद-जुदाणं, णाणाविह राग-पाराणं ।।१८५।।

देसविरदादि उवरिम, दसगुणठाणाण-हेदु भूदाओ ।
जाओ विसोहियाओ, कइया वि-ण-ताओ जायंते ।।१८६।।

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय सहित, विषयों के आनन्द से युक्त, नानाप्रकार की राग-क्रियाओं में निपुण उन भवनवासी जीवों के देशविरत-आदिक उपरितन दस गुणस्थानों के हेतु-भूत जो विशुद्ध परिणाम हैं, वे कदापि नहीं होते हैं ।।१८५-१८६।।

---

[1] ब. गुणट्ठाणं चउ ।

जीवसमासा दो च्चिय, णिव्वित्तियपुण्ण-पुण्ण भेदेण ।
पज्जत्ती छच्चेव य, तेत्तियमेत्ता अपज्जत्ती ।।१८७।।

अर्थ--इन देवों के निर्वृत्त्यपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो जीवसमास, छह पर्याप्तियाँ और इतने मात्र ही अपर्याप्तियाँ होती हैं ।।१८७।।

पंच य इंदिय-पाणा, मण-वय-कायाणि आउ-आणपाणाइं ।
पज्जत्ते दस पाणा, इदरे मण-वयण-आणपाणूणा ।।१८८।।

अर्थ—पर्याप्त अवस्था में पाँचों इन्द्रियप्राण, मन, वचन और काय, आयु एवं आनप्राण ये दस प्राण तथा अपर्याप्त अवस्था में मन, वचन और श्वासोंच्छ्वास से रहित शेष सात प्राण होते हैं ।।१८८।।

चउ सण्णा ताओ भय-मेहुण-आहार-गंथ-णामाणि ।
देवगदी पंचक्खा, तस - काया एक्करस-जोगा ।।१८९।।

चउ-मण-चउ-वयणाइं, वेगुव्व-दुगं तहेव कम्म-इयं ।
पुरिसित्थी [1]वेद-जुदा, सयल - कसाएहि परिपुण्णा ।।१९०।।

सव्वे छण्णाण-जुदा, मदि-सुद-णाणाणि ओहि-णाणं च ।
मदि-अण्णाणं तुरिमं, सुद-अण्णाणं विभंग-णाणं पि ।।१९१।।

सव्वे असंजदा[2] ति-दंसण-जुत्ता अचक्खु-चक्खोही ।
लेस्सा किण्हा णीला, कउया पीता य [3]मज्झिमंस-जुदा ।।१९२।।

भव्वाभव्वा, [4]पंच हि, सम्मत्तेहिं समण्णिदा सव्वे ।
उवसम-वेदग-मिच्छा-सासण[5] - मिच्छाणि ते होंति ।।१९३।।

अर्थ—वे देव भय, मैथुन, आहार और परिग्रह नामवाली चारों संज्ञाओं से, देवगति, पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय से चारों मनोयोग, चारों वचनयोग, दो वैक्रियिक (वैक्रियिक, वैक्रियिक-

---

[1] द. ब. सहूणा, ज. संडूणा, ठ. संदूणा ।
[2] द. ब. क. ज. ठ. असंजदाइं-दंसण-जुत्ता य चक्खु-अचक्खोही ।
[3] द. क. मज्झिमस्स-जुदा ब. मज्झिमस-जुदा । ज. ठ. जिमस्सजुदा ।
[4] ब. क. ज. ट. एव्व हि ।
[5] ब. सामासण ।

मिश्र) तथा कार्मण इन ग्यारह योगों से, पुरुष और स्त्री वेदों से, सम्पूर्ण कषायों से परिपूर्ण, मति, श्रुत, अवधि, मतिअज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंग, इन सभी छह ज्ञानों से, सब असंयम, अचक्षु, चक्षु एव अवधि इन तीन दर्शनों से, कृष्ण, नील, कापोत और पीत के मध्यम अंशों से, भव्य एवं अभव्य तथा औपशमिक, वेदक, मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन पाँचों सम्यक्त्वों से समन्वित होते हैं ।।१८९-१९३।।

सण्णी[1] य भवणदेवा, हवंति आहारिणो अणाहारा ।
सायार-अणायारा, उवजोगा होंति सव्वाणं ।।१९४।।

अर्थ—भवनवासी देव संज्ञी तथा आहारक और अनाहारक होते हैं, इन सब देवों के साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) ये दोनों ही उपयोग होते हैं ।।१९४।।

मज्झिम-विसोहि-सहिदा, उदयागद-सत्थ-[2]पगिदि-सत्तिगदा ।
एवं [3]गुणठाणादी, जुत्ता देवा व होंति देवीओ ।।१९५।।

।। गुणठाणादी समत्ता ।।

अर्थ—वे देव मध्यम विशुद्धि से सहित हैं और उदय में आई हुई प्रशस्त प्रकृतियों की अनुभाग-शक्ति को प्राप्त हैं । इस प्रकार गुणस्थानादि से संयुक्त देवों के सदृश देवियाँ भी होती हैं ।।१९५।।

गुणस्थानादि का वर्णन समाप्त हुआ ।

एक समय में उत्पत्ति एवं मरण का प्रमाण

सेढी-असंखभागो, विंदंगुल-पढम-वग्गमूल-हदो ।
भवणेसु एक्क-समए, जायंति मरंति तम्मेत्ता ।।१९६।।

।। जम्मण-मरण-जीवाणं संखा समत्ता ।।

अर्थ—घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से गुणित जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें-भाग प्रमाण जीव भवनवासियों में एक समय में उत्पन्न होते है और इतने ही मरते हैं ।।१९६।।

।। उत्पन्न होने वाले एवं मरने वाले जीवों की संख्या समाप्त हुई ।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. सव्वे । [2] द. ब. क. ज. ठ. परिदि । [3] द. ब. क. एवं गुणठाणजुत्त देवं वा होइ देवीओ । ज. ठ. एवं गुणगणजुत्ता देवा वा होइ देवीओ ।

भवनवासियों की आगति निर्देश

णिक्कंता भवणादो, गब्भे [1]सम्मुच्छि कम्म-भूमीसु ।
पज्जत्ते उप्पज्जदि, णरेसु तिरिएसु मिच्छभाव-जुदा ।।१९७।।

अर्थ—मिथ्यात्वभाव से युक्त भवनवासी देव भवनों से निकल (चय) कर कर्मभूमियों में गर्भज या सम्मूर्च्छनज तथा पर्याप्त मनुष्यों अथवा तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं ।।१९७।।

सम्माइट्ठी देवा, णरेसु जम्मंति कम्म-भूमीए ।
गब्भे पज्जत्तेसुं, सलाग-पुरिसा ण होंति कइयाइं ।।१९८।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि भवनवासी देव (वहाँ से चयकर) कर्मभूमियों के गर्भज और पर्याप्त मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे शलाका-पुरुष कदापि नहीं होते ।।१९८।।

तेसिमणंतर-जम्मे, णिब्बुदि-गमणं हवेदि केसिं पि ।
संजम-देसवदाइं, गेण्हंते केइ भव-भीरू ।।१९९।।

।। आगमणं गदं ।।

अर्थ—उनमें से किन्हीं के आगामी भव में मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है और कितने ही संसार से भयभीत होकर सकल संयम अथवा देशव्रतों को ग्रहण कर लेते हैं ।।१९९।।

।। आगमन का कथन समाप्त हुआ ।।

भवनवासी-देवों की आयु के बन्ध-योग्य परिणाम

[2]अचलिद-संका केई, णाण-चरित्ते किलिट्ठ-भाव-जुदा ।
भवणामरेसु आउं, बंधंति हु मिच्छ-भाव-जुदा ।।२००।।

अर्थ—ज्ञान और चारित्र में दृढ़ शंका सहित, संक्लेश परिणामों वाले तथा मिथ्यात्व भाव से युक्त कोई (जीव) भवनवासी देवों सम्बन्धी आयु को बाँधते हैं ।।२००।।

सबल-चरित्ता केई, उम्मग्गंथा णिदाणगद-भावा ।
पावग-पहुदिम्हि मया, भावणवासीसु जम्मंते ।।२०१।।

द. ब. क. ज. ठ. सम्मुच्छ ।   २. द. ब. क. आवलिदसखा ।

अर्थ—शबल (दोष पूर्ण) चारित्र वाले, उन्मार्ग-गामी, निदान भावों से युक्त तथा पापों की प्रमुखता से सहित जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं ।।२०१।।

अविणय-सत्ता केई, कामिणि-विरहज्जरेण जज्जरिदा ।
कलहपिया पाविट्ठा, जायंते [1]भवण-देवेसु ।।२०२।।

अर्थ—कामिनी के विरह रूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव भवनवासी देवों में उत्पन्न होते हैं ।।२०२।।

सण्णि-असण्णी जीवा, मिच्छा-भावेण संजुदा केई ।
[2]जायंति भावणेसुं, दंसण-सुद्धा ण कइया वि ।।२०३।।

अर्थ—मिथ्यात्व भाव से संयुक्त कितने ही संज्ञी और असंज्ञी जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु विशुद्ध सम्यग्दृष्टि (जीव) इन देवों में कदापि उत्पन्न नहीं होते ।।२०२।।

देव-दुर्गतियों में उत्पत्ति के कारण

मरणे विराहिदम्हि य, केई कंदप्प-किब्बिसा देवा ।
अभियोगा संमोह-प्पहुदी-सुर-दुग्गदीसु जायंते ।।२०४।।

अर्थ—(समाधि) मरण के विराधित करने पर कितने ही जीव कन्दर्प, किल्विष, आभियोग्य और सम्मोह आदि देव-दुर्गतियों में उत्पन्न होते हैं ।।२०४।।

कन्दर्प-देवों में उत्पत्ति के कारण

जे सच्च-वयण-हीणा, [3]हस्सं कुव्वंति बहुजणे णियमा ।
कंदप्प - रत्त - हिदया, ते कंदप्पेसु जायंति ।।२०५।।

अर्थ—जो सत्यवचन से रहित हैं, बहुजन में हँसी करते हैं और जिनका हृदय कामासक्त रहता है, वे निश्चय से कन्दर्प देवों में उत्पन्न होते हैं ।।२०५।।

वाहन-देवों में उत्पत्ति के कारण

जे भूदि-कम्म-मंताभिजोग - कोदूहलाइ - संजुत्ता ।
जण-वंचणे पयट्ठा, वाहण-देवेसु ते होंति ।।२०६।।

---

[1] द. भवणादिवेसु । [2] द. जायंते । [3] द. ब. क. ज. ठ. हिंसं ।

अर्थ— जो भूतिकर्म, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि से संयुक्त हैं, तथा लोगों की वंचना करने में प्रवृत्त रहते हैं, वे वाहन देवों में उत्पन्न होते हैं ।।२०६।।

किल्विषिक-देवों में उत्पत्ति के कारण

तित्थयर-संघ-पडिमा-आगम-गंथादिएसु पडिकूला ।
दुव्विणया णिगदिल्ला, जायंते किब्बिस-सुरेसुं ।।२०७।।

अर्थ—तीर्थंकर, संघ, (जिन) प्रतिमा एवं आगम-ग्रन्थादिक के विषय में प्रतिकूल, दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले (जीव) किल्विषिक देवों में उत्पन्न होते हैं ।।२०७।।

सम्मोह-देवों में उत्पत्ति के कारण

उप्पह-उवएसयरा, विप्पडिवण्णा जिणिंद-मग्गम्मि ।
मोहेणं संमूढा, सम्मोह-सुरेसु जायंते ।।२०८।।

अर्थ—उत्पथ-कुमार्ग का उपदेश करने वाले, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी और मोह से मुग्ध जीव सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं ।।२०८।।

असुरों में उत्पन्न होने के कारण

जे कोह-माण-माया-लोहासत्ता किलिट्ठ-चारित्ता ।
वइराणुबद्ध - रुचिणो, ते उप्पज्जंति असुरेसुं ।।२०९।।

अर्थ—जो क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त हैं; दुश्चारित्र वाले (क्रूराचारी) हैं तथा बैर-भाव में रुचि रखते हैं; वे असुरों में उत्पन्न होते हैं ।।२०९।।

उत्पत्ति एवं पर्याप्ति वर्णन

उप्पज्जंते भवणे, उववादपुरे महारिहे सयणे ।
पावंति छ-पज्जत्ति, जादा अंतो-मुहुत्तेण ।।२१०।।

अर्थ—(उक्त जीव) भवनवासियों के भवन के भीतर उपपादशाला में बहुमूल्य शय्या पर उत्पन्न होते हैं और अन्तर्मुहूर्त में ही छह पर्याप्तियाँ प्राप्त कर लेते हैं ।।२१०।।

सप्तादि-धातुओं का एवं रोगादि का निषेध

अट्ठि-सिरा-रुहिर-वसा-मुत्त-पुरीसाणि केस-लोमाइं ।
[1]चम्म-णह-मंस-पहुदी, ण होंति देवाण संघडणे ॥२११॥

अर्थ—देवों की शरीर रचना में हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, मल, केश, रोम, चमड़ा, नख और मांस आदि नहीं होते हैं ॥२११॥

वण्ण-रस-गंध-फासे[2] , अइसय-वेकुव्व-दिव्व-खंदा हि ।
णेदेसु[3] रोयवादि-उवठिदी कम्माणुभावेण ॥२१२॥

अर्थ—उन देवों के वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श के विषय में अतिशयता को प्राप्त वैक्रियिक दिव्य-स्कन्ध होते हैं, अतः कर्म के प्रभाव से रोग आदि की उत्पत्ति नहीं होती है ॥२१२॥

भवनवासियों में उत्पत्ति - समारोह

[4]उप्पण्णे सुर-भवणे, पुव्वमणुग्घाडिदं कवाण-जुगं ।
उग्घडदि तम्मि समए, पसरदि आणंद-भेरि-रवो ॥२१३॥

आयण्णिय भेरि-रवं, ताणं वासम्हि कय जयकारा ।
एंति परिवार-देवा, देवीओ पमोद-भरिदाओ ॥२१४॥

वायंता जयघंटा-पडह-पडा-किब्बिसा य गायंति ।
संगीय-णट्ट-मागध - देवा एदाण देवीओ ॥२१५॥

अर्थ सुरभवन में उत्पन्न होने पर पहिले अनुद्घाटित दोनों कपाट खुलते हैं और फिर उसी समय आनन्द भेरी का शब्द फैलता है। भेरी के शब्द को सुनकर पारिवारिक देव और देवियाँ हर्ष से परिपूर्ण हो जयकार करते हुए उन देवों के पास आते हैं। उस समय किल्विषिक देव जयघण्टा, पटह और पट बजाते हैं तथा संगीत एवं नाट्य में चतुर मागध देव-देवियाँ गाते हैं ॥२१३-२१५॥

---

१. द. ब. क. चम्मह, ज. ठ. पंचमह । २. द. क. ज. ठ. पासे । ३. गेण्हेसु रोयवादि-उवठिदि, क. ज. ठ. गेण्हेसु रोयवादि उवविदि । ४. द. ब. क. ज. ठ. उप्पण्ण-सुर-विमाणे ।

विभंगज्ञान उत्पत्ति

देवी-देव-समूहं, दट्ठूणं तस्स विम्हओ होदि ।
तक्काले उप्पज्जदि, विब्भंगं थोव-पच्चक्खं ।।२१६।।

अर्थ—उन देव-देवियों के समूह को देखकर उस नवजात देव को आश्चर्य होता है तथा उसी समय उसे प्रत्यक्ष रूप अल्प-विभंग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।।२१६।।

नवजात देवकृत पश्चाताप

माणुस्स-तेरिच्च-भवम्हि पुव्वे, लद्धो ण सम्मत्त-मणी[1] पुरूवं ।
तिलप्पमाणस्स सुहस्स कज्जे, चत्तं मए काम-विमोहिदेण ।।२१७।।

अर्थ—मैंने पूर्वकाल में मनुष्य एवं तिर्यंच भव में सम्यक्त्वरूपी मणि को प्राप्त नहीं किया और यदि प्राप्त भी किया तो उसे काम से विमोहित होकर तिल प्रमाण अर्थात् किंचित् सुख के लिए छोड़ दिया ।।२१७।।

जिणोवदिट्ठागम-भासणिज्जं, देसव्वदं [2]गेण्हिय सोक्ख-हेदुं ।
मुक्कं मए दुव्विसयत्थमप्पस्सोक्खाणु-रत्तेण विचेदणेण ।।२१८।।

अर्थ—जिनोपदिष्ट आगम में कथित वास्तविक सुख के निमित्तभूत देशचारित्र को ग्रहण करके मेरे जैसे मूर्ख ने अल्प सुख में अनुरक्त होकर दुष्ट विषयों के लिए उसे छोड़ दिया ।।२१८।।

अणंत-[3]णाणादि-चउक्क-हेदुं, णिव्वाण-बीजं जिणणाह-लिंगं ।
पमूद-कालं धरिदूण चत्तं, मए मयंधेण बहू-णिमित्त ।।२१९।।

अर्थ—अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय के कारणभूत और मुक्ति के बीजभूत जिनेन्द्रनाथ के लिंग (सकलचारित्र) को बहुत काल तक धारण करके मैंने मदान्ध होकर कामिनी के निमित्त छोड़ दिया ।।२१९।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. मणं । [2] द. ब. क. ज. ठ. गेण्हय । [3] द. ब. क. ज. ठ. णाणाणि ।

कोहेण लोहेण भयंकरेण, माया-पवंचेण[1] समच्छरेण ।
माणेण [2]वड्ढंत-महाविमोहो, मेल्लाविदोहं जिणणाह-लिंगं ॥२२०॥

अर्थ—भयंकर क्रोध, लोभ और मात्सर्यभावसहित माया-प्रपंच एवं मान से वृद्धिगत अज्ञानभाव को प्राप्त हुआ मैं जिनेन्द्र-लिंग को छोड़े रहा ॥२२०॥

एदेहि दोसेहि सयंकिलेहिं, कादूण णिव्वाण-फलम्हि विग्घं ।
तुच्छं फलं संपइ जादमेदं, एवं मणे वड्ढिद तिव्व-दुक्खं ॥२२१॥

अर्थ—ऐसे दोषों तथा संक्लेशों के कारण, निर्वाण के फल में विघ्न डालकर मैंने यह तुच्छफल (देव पर्याय) प्राप्त कर तीव्र दुःखों को बढ़ा लिया है; मैं ऐसा मानता हूँ ॥२२१॥

दुरंत-संसार-विणास-हेदुं, णिव्वाण-मग्गम्मि परं पदीवं ।
गेण्हंति सम्मत्तमणंत-सोक्खं, संपादिणं छंडिय-मिच्छ-भावं ॥२२२॥

अर्थ—(वे देव उसी समय) मिथ्यात्व भाव को छोड़कर, तुरन्त संसार के विनाश के कारणभूत, निर्वाण मार्ग में परम प्रदीप, अनन्त सौख्य के सम्पादन करने वाले सम्यक्त्व को ग्रहण करते हैं ॥२२२॥

तादो देवी-णिवहो, आणंदेणं महाविभूदीए ।
सेसं भरंति ताणं, सम्मत्तग्गहण-तुट्ठाणं ॥२२३॥

अर्थ—तब महा विभूतिरूप आनन्द के द्वारा देवियों के समूह और शेष देव, उन देवों के सम्यक्त्व-ग्रहण से संतुष्टि को प्राप्त होते हैं ॥२२३॥

जिणपूजा-उज्जोगं, कुणंति केई महाविसोहीए ।
केई पुव्विल्लाणं, देवाण पबोहण-वसेण ॥२२४॥

अर्थ—कोई पहले से वहाँ उपस्थित, देवों के प्रबोधन वशीभूत हुए (परिणामों की) महाविशुद्धिपूर्वक जिन-पूजा का उद्योग करते हैं ॥२२४॥

---

[1] द. पवत्तण । [2] द. ब. क. ज. ठ. वदंत ।

पढमं दहण्हदाणं, तत्तो अभिसेय-मंडव-गदाणं ।
सिंहासणट्ठिदाणं, एदाण सुरा कुणंति अभिसेयं ॥२२५॥

अर्थ—सर्वप्रथम स्नान करके फिर अभिषेक-मण्डप के लिए जाते हुए (सद्योत्पन्न) देव को सिंहासन पर बिठाकर ये (अन्य) देव अभिषक करते हैं ॥२२५॥

भूसणसालं पविसिय, मउडादि विभूसणाणि दिव्वाइं ।
गेण्हिय विचित्त-वत्थं, देवा-कुव्वंति णेपत्थं ॥२२६॥

अर्थ—फिर आभूषणशाला में प्रविष्ट होकर मुकुटादि दिव्य आभूषण ग्रहण करके अन्य देवगण अत्यन्त विचित्र (सुन्दर) वस्त्र लेकर उसका वस्त्र-विन्यास करते हैं ॥२२६॥

नवजात देव द्वारा जिनाभिषेक एवं पूजन आदि

तत्तो ववसायपुरं[1], पविसिय पूजाभिसेय-जोग्गाइं ।
गहिदूणं दव्वाइं, देवा-देवीहि[2] संजुत्ता ॥२२७॥

णच्चिद-विचित्त-केदण-माला-वर-चमर-छत्त-सोहिल्ला ।
णिब्भर-भत्ति-पसण्णा, वच्चंते कूड-जिण-भवणं ॥२२८॥

अर्थ—पश्चात् स्नान आदि करके व्यवसायपुर में प्रवेश कर पूजा और अभिषेक के योग्य व्य लेकर देव-देवियों सहित झूलती हुई अद्भुत पताकाओं, मालाओं, उत्कृष्ट चमरों और छत्रों से शोभायमान होकर प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होते हुए वे नवजात देव कूटपर स्थित जिन-भवन को जाते हैं ॥२२७-२२८॥

पाविय जिण-पासादं, वर-मंगल-तूर रइदहलबोला ।
देवा देवी-सहिदा, कुव्वंति पदाहिणं णमिदा ॥२२९॥

अर्थ—उत्कृष्ट माङ्गलिक वाद्यों के रव से परिपूर्ण जिन-भवन को प्राप्त कर वे देव, देवियों साथ नमस्कार पूर्वक प्रदक्षिणा करते हैं ॥२२९॥

---

[1] द. क. तत्तो वसाय । [2] द. ब. क. ज. ठ. देवेहिं ।

सीहासण - छत्त-तय - भामंडल - चामरादि - चारूओ ।
दट्ठूण जिणप्पडिमा, जय-जय-सद्दा पकुव्वंति ।।२३०।।

थोदूण थुदि-सएहिं, विचित्त-चित्तावली णिबद्धेहिं ।
तत्तो जिणाभिसेए, भत्तीए कुणंति उज्जोगं ।।२३१।।

खीरोवहि जल-पूरिद, मणिमय-कुंभेहि अड-सहस्सेहिं ।
मंतुग्घोसणमुहला, जिणाभिसेयं पकुव्वंति ।।२३२।।

अर्थ—(जिनमन्दिर में) सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल और चमर आदि (आठ प्रातिहार्यों) से सुशोभित जिनेन्द्र मूर्तियों का दर्शन कर जय-जय शब्द करते हैं, फिर विचित्र अर्थात् सुन्दर मनमोहक शब्दावली में निबद्ध अनेक स्तोत्रों से स्तुति करके भक्ति सहित जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करने का उद्योग करते हैं। क्षीरोदधि के जल से परिपूर्ण १००८ मणिमय घटों से मन्त्रोच्चारण पूर्वक जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक करते हैं ।।२३०-२३२।।

पडु-पडह-संख-मद्दल-जयघंटा काहलादि वज्जेहिं ।
वाइज्जंते हि सुरा, जिणिंद-पूजा पकुव्वंति ।।२३३।।

अर्थ—(पश्चात्) वे देव उत्तम पटह, शङ्ख, मृदङ्ग, जयघण्टा एवं काहलादि बाजों को बजाते हुए जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते हैं ।।२३३।।

भिंगार- कलस- दप्पण- छत्तत्तय- चमर- पहुदि- दिव्वेहिं ।
पूजंति [1]फलिय - दंडोवमाण - वर - वारि - धारेहिं ।।२३४।।

गोसीस - मलय - चंदण - कुंकुम - पंकेहि परिमलिल्लेहिं ।
मुत्ताफलुज्जलेहिं, सालीए तंदुलेहिं [2]सयलेहिं ।।२३५।।

वर-विविह-कुसुम-माला-सएहिं दूरंग-मत्त-गंधेहिं ।
अमियादो महुरेहिं, णाणाविह-दिव्व-भक्खेहिं ।।२३६।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. पलिह । [2] द. सालेहिं ।

रयणुज्जल-दीवेहिं, सुगंध-धूवेहि मणहिरामेहिं ।
पक्केहि फणस-कदली-दाडिम-दक्खादि य फलेहिं ॥२३७॥

अर्थ—वे देव दिव्य झारी, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि से; स्फटिक मणिमय दण्ड के तुल्य उत्तम जलधाराओं से; सुगन्धित गोशीर मलय-चन्दन और केशर के पङ्कों से; मोतियों के समान उज्ज्वल शालिधान्य के अखण्डित तन्दुलों से; दूर-दूर तक फैलने वाली मत्त गन्ध से युक्त उत्तमोत्तम विविध प्रकार की सैकड़ों फूलमालाओं से; अमृत से भी मधुर नाना प्रकार के दिव्य नैवेद्यों से; मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाले रत्नमयी उज्ज्वल दीपकों से; सुगन्धित धूप से और पके हुए कटहल, केला, दाड़िम एवं दाख आदि फलों से (जिनेन्द्रदेव की) पूजा करते हैं ॥२३४-२३७॥

पूजन के बाद नाटक

पूजाए अवसाणे, कुव्वंते णाडयाइ विविहाइं ।
पवरच्छराप - जुत्ता - बहुरस - भावाभिणेयाइं ॥२३८॥

अर्थ—(वे देव) पूजा के अन्त में उत्तम अप्सराओं सहित बहुत प्रकार के रस, भाव एवं अभिनय से युक्त विविध प्रकार के नाटक करते हैं ॥२३८॥

सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि देवों के पूजन-परिणाम में अन्तर

णिस्सेस-कम्मक्खवणेक्क[1] -हेदुं, मण्णंतया तत्थ जिणिंद-पूजं ।
[2]सम्मत्त-जुत्ता विरयंति णिच्चं, देवा महाणंद-विसोहि-पुव्वं ॥२३९॥

[3]कुलाहिदेवा इव मण्णमाणा, पुराण-देवाण पबोहणेण ।
मिच्छा-जुदा ते य जिणिंद-पूजं, [4]भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति ॥२४०॥

अर्थ— अविरत-सम्यग्दृष्टि देव, समस्त कर्मों के क्षय करने में एक अद्वितीय कारण समझकर नित्य ही महान् अनन्तगुणी विशुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि देव पुराने

---

[1] द. व. क. ज. ठ. क्खवणंकहेदुं । [2] द. ब क. ज. ठ. मम्मत्तविरयं । [3] द. ब. कुलाइदेवा । क. ज. ठ. कुलाई देवाइ । [4] द. क. ज. ठ. भत्तीय ।

देवों के उपदेश से जिन प्रतिमाओं को कुलाधिदेवता मानकर नित्य ही नियम से भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रार्चन करते हैं ॥२३९-२४०॥

जिनपूजा के पश्चात्

कादूण दिव्व-पूजं, आगच्छिय णिय-णियम्मि पासादे ।
सिंहासणाहिरूढा, [1]ओलग्गं देंति देवा णं ॥२४१॥

अर्थ—वे देव, दिव्य जिनपूजा करने के पश्चात् अपने-अपने भवन में आकर ओलगशाला (परिचर्यागृह) में सिंहासन पर विराजमान हो जाते हैं ॥२४१॥

भवनवासी देवों के सुखानुभव

विविह-रतिकरण-भाविद-विसुद्ध-बुद्धीहि दिव्व-रूवेहिं ।
णाणा - विकुव्वणं बहुविलास - संपत्ति - जुत्ताहिं ॥२४२॥

मायाचार-विवज्जिद-पयदि-पसण्णाहि अच्छराहि समं ।
णिय-णिय-विभूदि-जोग्गं, संकप्प-वसंगदं सोक्खं ॥२४३॥

पडु-पडह-प्पहुदीहिं, सत्त - सराभरण - महुर-गीदेहिं ।
वर-ललिद-णच्चणेहिं, देवा भुंजंति उवभोगं ॥२४४॥

अर्थ—(पश्चात् वे देव) विविध रूप से रति के प्रकटी-करण में चतुर, दिव्य रूपों से युक्त, नाना प्रकार की विक्रिया एवं बहुत विलास-सम्पत्ति से सहित तथा मायाचार से रहित होकर स्वभाव से ही प्रसन्न रहने वाली अप्सराओं के साथ अपनी-अपनी विभूति के योग्य एवं संकल्प मात्र से प्राप्त होने वाले सुख तथा उत्तम पटह आदि वादित्र, सप्त स्वरों से शोभायमान मधुर गीत तथा उत्कृष्ट सुन्दर नृत्य का उपभोग करते हैं ॥२४२-२४४॥

---

[1] [ओलगसालम्मि]

ओहिं पि विजाणंतो, अण्णोण्णुप्पण्ण-पेम्म-मूढ-मणा ।
कामंधा ते सव्वे, गदं पि कालं ण जाणंति ।।२४५।।

अर्थ— अवधिज्ञान से जानते हुए भी परस्पर उत्पन्न प्रेम से मूढ़ मन वाले मानसिक विचारों से युक्त वे सब देव कामान्ध होकर बीते हुए समय को भी नहीं जानते हैं ।।२४५।।

वर-रयण-कंचणमये, विचित्त-सयलुज्जलम्मि पासादे ।
कालागरु - गंधड्ढे, राग - णिहाणे रमंति सुरा ।।२४६।।

अर्थ—वे देव उत्तम रत्न और स्वर्ण मे विचित्र एवं सर्वत्र उज्ज्वल, कालागरु की सुगन्ध से व्याप्त तथा राग के स्थानभूत प्रासाद में रमण करते हैं ।।२४६।।

सयणाणि आसणाणि, मउवाणि विचित्त-रूव रइदाणि ।
तणु-मण- णयणाणंदण-जणणाणि होंति देवाणं ।।२४७।।

अर्थ—देवों के शयन और आसन मृदुल, विचित्र रूप से रचित तथा शरीर, मन एवं नेत्रों के लिए आनन्दोत्पादक होते हैं ।।२४७।।

पास-रस-रूव[1] - सद्धुणि-गंधेहिं वड्ढियाणि [2]सोक्खाणि ।
उवभुंजंता[3] देवा, तित्ति ण लहंति णिमिसं पि ।।२४८।।

अर्थ— (वे देव) स्पर्श, रस, रूप, सुन्दर शब्द और गन्ध से वृद्धि को प्राप्त हुए सुखों का अनुभव करते हुए क्षणमात्र के लिए भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होते हैं ।।२४८।।

---

[1] द. क. ज. ठ. रूववज्जूणि गंधेहि, ब. रूवचक्खूणि गंधेहि । [2] द. ब. क. ज. ठ. सोज्जाणि ।
[3] द. ब. क. उवयंजुत्ता । ज. ठ. उववयजुत्ता ।

दीवेसु णगिंदेसुं, भोग-खिदीए वि णंदण-वणेसुं ।
वर-पोक्खरिणी-पुलिणत्थलेसु कीडंति राएण ।।२४९।।

।। एवं [1]सुहप्परूवणा समत्ता ।।

अर्थ—(वे कुमार देव) राग से द्वीप, कुलाचल, भोगभूमि, नन्दनवन एवं उत्तम बावड़ी अथवा नदियों के तट-स्थानों में भी क्रीड़ा करते हैं ।।२४९।।

इस प्रकार देवों की सुख-प्ररूपणा का कथन समाप्त हुआ ।

सम्यक्त्वग्रहण के कारण

भवणेसु समुप्पण्णा, पज्जत्ति पाविदूण छब्भेयं ।
जिण-महिम-दंसणेणं, केई [2]देविद्धि-दंसणादो ।।२५०।।

जादीए सुमरणेणं, वर-धम्मप्पबोहणावलद्धीए ।
गेण्हंते सम्मत्तं, दुरंत-संसार-णासयरं ।।२५१।।

।। सम्मत्त-गहणं गदं ।।

अर्थ—भवनों में उत्पन्न होकर छह प्रकार की पर्याप्तियों को प्राप्त करने के पश्चात् कोई जिन-महिमा (पंचकल्याणकादि) के दर्शन से, कोई देवों की ऋद्धि के देखने से, कोई जातिस्मरण से और कितने ही देव उत्तम धर्मोपदेश की प्राप्ति से दुरन्त संसार को नष्ट करने वाले सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं ।।२५०-२५१।।

।। सम्यक्त्व-ग्रहण का कथन समाप्त हुआ ।।

---

[1] द. ब. क. ज. ठ. सरूवप्पं । [2] द. ब. क. ज. ठ. देविंद ।

भवनवासियों में उत्पत्ति के कारण

जे केइ अण्णाण-तवेहि जुत्ता, णाणाविहुप्पाडिद-देह-दुक्खा ।
घेत्तूण सण्णाण-तवं पि पावा, डज्झंति जे दुव्विसयापसत्ता ॥२५२॥

विसुद्ध-लेस्साहि सुराउ-बंधं, [1]काऊण कोहादिसु घादिदाऊ ।
सम्मत्त-संपत्ति-विमुक्क-बुद्धी, जायंति एदे भवणेसु सव्वे ॥२५३॥

अर्थ—जो कोई अज्ञान तप से युक्त होकर शरीर में नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न करते हैं, तथा जो पापी सम्यग्ज्ञान से युक्त तप को ग्रहण करके भी दुष्ट विषयों में आसक्त होकर जला करते हैं, वे सब विशुद्ध लेश्याओं से पूर्व में देवायु बाँधकर पश्चात् क्रोधादि कषायों द्वारा उस आयु का घात करते हुए सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति से मन हटाकर भवनवासियों में उत्पन्न होते हैं ॥२५२-२५३॥

महाधिकारान्त मंगलाचरण

सण्णाण-रयण-दीवं, लोयालोयप्पयासण-समत्थं ।
पणमामि सुमइ-सामिं, सुमइकरं भव्व-संघस्स ॥२५४॥

एवमाइरिय-परंपरागय-तिलोयपण्णत्तीए भवणवासिय-लोय-सरूव-णिरूवणं पण्णत्ती णाम तदियो महाहियारो समत्तो ।

अर्थ—जिनका सम्यग्ज्ञान रूपी रत्नदीपक लोकालोक के प्रकाशन में समर्थ है एवं जो (चतुर्विध) भव्य संघ को सुमति देने वाले हैं, उन सुमतिनाथ स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२५४॥

इस प्रकार आचार्य-परम्परागत-त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में भवनवासी-लोकस्वरूप-निरूपण-प्रज्ञप्ति नामक **तीसरा महाधिकार समाप्त हुआ ।**

* * *

---

[1] द. ब. कोऊण ।

तिलोयपण्णत्ती : प्रथम खण्ड (प्रथम तीन महाधिकार)

गाथानुक्रमणिका

	अधिकार/गाथा	
अ		
अइतित्तकडुवकत्थरि	२	३४६
अइवट्टेहिं तेहिं	१	१२०
अग्गमहिसीण ससमं	३	९०
अग्गिकुमारा सव्वे	३	१२१
अग्गीवाहणणामो	३	१६
अचलिद संका केई	३	२००
अजगज-महिस-तुरंगम	२	३४
अजगज-महिस-तुरंगम	२	३०९
अजगज-महिस-तुरंगम	२	३४७
अजियजिणं जियमयणं	२	१
अज्जखरकरहसरिसा	२	३०७
अट्ठगुणिदेग सेढी	१	१९५
अट्ठछचउदुगदेयं	१	२७९
अट्ठत्तालं दलिदं	२	७१
अट्ठत्तालं दुसयं	२	१९१
अट्ठत्तीसं लक्खा	२	११५
अट्‍ठरस महाभासा	१	६१
अट्ठ विसिंहासणाणि	२	२३२
अट्ठविहकम्मवियला	१	१

	अधिकार/गाथा	
अट्ठविहप्पं साहिय	१	२७०
अट्ठविहं सव्वजगं	१	२१६
अट्ठसगछक्कपणचउ	२	२८७
अट्ठसेण जुदाओ	१	२०९
अट्ठं सोलस बत्तीस होंति	३	१५२
अट्ठाणउदिविहत्तो	१	२११
अट्ठाणउदी जोयण	२	१८४
अट्ठाणउदी णवसय	२	१७७
अट्ठाणउदी णवसय	२	१८५
अट्ठाणवदि विहत्ता	१	२६०
अट्ठाणवदिं विहत्तं	१	२४५
अट्ठाणं पि दिसाणं	२	५७
अट्ठारस ठाणेसुं	१	१२३
अट्ठारस लक्खाणि	२	१३७
अट्ठावण्णा दंडा	२	२५९
अट्ठावीसविहत्ता सेढी	१	२४३
अट्ठावीसविहत्ता सेढी	१	२४४
अट्ठावीसं लक्खा	२	१२६
अट्ठासट्ठीहीणं	२	९३
अट्ठिसिरारुहिरवसा	३	२११

	अधिकार/गाथा	
अट्ठेहिं गुणिदेहिं	१	१०४
अडणउदी बाणउदी	१	२४६
अडवीसं उणहत्तरि	१	२४९
अडवीसं छव्वीसं	३	७३
अड्ढाइज्ज सयाणि	३	१०१
अड्ढाइज्जं पल्लं	३	१७०
अड्ढाइज्जा दोण्णि य	३	१५०
अणंतणाणादि चउक्क	३	२१९
अणुभागपदेसाइं	१	१२
अण्णाणघोरतिमिरे	१	४
अण्णेहि अणंतेहिं	१	७५
अण्णोण्णं बज्झंते	२	३२५
अदिकुणिममसुहमण्णं	२	३४८
अद्धारपल्लछेदे	१	१३१
अप्पमहद्धियमज्झिम	३	२४
अप्पाणं मण्णंता	२	३००
अब्भंतर दव्वमलं	१	१३
अमुणियकज्जाकज्जो	२	३०१
अयदंबतउरसासय	२	१२
अरिहाणं सिद्धाणं	१	१९
अवरं मज्झिमउत्तम	१	१२२
अवसादि अद्धरज्जू	१	१६०
अवसेस इंदयाणं	२	५४
अवसेससुरा सव्वे	३	१६७
अविणयसत्ता केई	३	२०२
असुरप्पहुदीण गदी	३	१२४
असुरम्मि महिसतुरगा	३	७७
असुराण पंचवीसं	३	१७६

	अधिकार/गाथा	
असुराणमसंखेज्जा	३	१८०
असुरा णागसुवण्णा	३	९
असुरादिदसकुलेसुं	३	१०७
असुरादिदसकुलेसुं	३	१७५
असुरादी भवणसुरा	३	१३०
अस्सत्थसत्तवण्णा	३	१३६
अहवा उत्तरइंदेसु	३	१४६
अहवा बहुभयगयं	१	१४
अहवा मंगं सोक्खं	१	१५
अंगोवंगट्ठीणं	२	३३९
अंजणमूलं अंकं	२	१७
अंतादिमज्झहीणं	१	९८

आ

आउस्स बंधसमए	२	२९४
आतुरिमखिदी चरिमंग	२	२९३
आदिणिहणेण हीणा	३	३६
आदिणिहणेण हीणो	१	१३३
आदिमसंहणणजुदो	१	५७
आदी अंते सोहिय	२	२१९
आदीओ णिद्दिट्ठा	२	६१
आदी छअट्ठचोद्दस	२	१५८
आदेसमुत्तमुत्तो	१	१०१
आयण्णिय भेरिरवं	३	२१४
आरिंदए णिसट्ठो	२	५०
आरो मारो तारो	२	४४
आहुट्ठं रज्जुघणं	१	१८८

इ

	अधिकार/गाथा	
इगितीसं लवखाणि	२	१२३
इगतीस उवहि उवमा	२	२११
इच्छे पदरविहीणा	२	५९
इट्ठिदयप्पमाणं	२	५८
इय णायं अवहारिय	१	८४
इय मूल तंतकत्ता	१	८०
इय सक्खापच्चवखं	१	३८
इह खेत्ते जह मणुवा	२	३५३
इह रयण सक्करावालु	१	१५२
इंगालजाल मुम्मुर	२	३२८
इंदपडिंददिगिंदय	१	४०
इंदपडिंदप्पहुदी	३	११०
इंदयसेढीबद्धा	२	३६
इंदयसेढीबद्धा	२	७२
इंदयसेढीबद्धा	२	३०३
इंदसमा पडिइंदा	३	६८
इंदादी पंचण्णं	३	११३
इंदा रायसरिच्छा	३	६४

उ

उच्छेहजोयणाणि	२	३१६
उड्ढजगे खलु वड्ढी	१	२८०
उड्ढुड्ढं रज्जुघणं	१	२६४
उणवदी तिण्णि सया	२	५६
उणतीसं लवखाणि	२	८८
उणदालं पण्णत्तरि	१	१६८

	अधिकार/गाथा	
उणदालं लक्खाणि	२	११४
उणवण्णभजिदसेढी	१	१७८
उणवण्णा दुसयाणि	२	१८२
उणवीसजोयणेसुं	१	११८
उत्तपइण्णयमज्भे	२	१०२
उत्तमभोगखिदीए	१	११९
उदओ हवेदि पुव्वा	१	१८०
उदहित्थणिदकुमारा	३	१२०
उदहि पहुदि कुलेसुं	३	१०६
उद्दिट्ठं पचोणं	२	६०
उद्धियदिवड्ढमुख	१	१४३
उप्पज्जंते भवणे	३	२१०
उप्पण्णे सुरभवणे	३	२१३
उप्पहउवएसयरा	३	२०८
उभयेसिं परिमाणं	१	१८६
उवरिमखिदिजेट्ठाऊ	२	२०९
उवरिमलोयाआरो	१	१३८
उववादमारणंतिय	२	८
उवसण्णा सण्णो वि य	१	१०३
उवहिउवमाणजीवी	३	१६५
उस्सेहअंगुलेणं	१	११०
उस्सेहोहि पमाणं	३	५

ऊ

ऊणपमाणं दंडा	२	७

ए

एक्कारसलक्खाणि	२	१४५

	अधिकार/गाथा	
एकोणसट्ठिहत्था	२	२४१
एक्क ति सग दस सत्तरस	२	३५४
एक्कत्तरिलक्खाणि	३	८४
एक्कत्तालं दंडा	२	२६६
एक्कत्तालं लक्खा	२	११२
एक्कत्तिण्णि य सत्त	२	२०४
एक्कत्तीसं दंडा	२	२५२
एक्कदुत्तिपंचसत्तय	२	३१२
एक्कधणुमेक्कहत्थो	२	२२१
एक्कधणू बे हत्था	२	२४३
एक्कपलिदोवमाऊ	३	१४७
एक्कपलिदोवमाऊ	३	१५५
एक्कपलिदोवमाऊ	३	१६४
एक्करसवण्णगंधं	१	९७
एक्कविहीणा जोयण	२	१६९
एक्कस्सिं गिरिगडए	१	२३६
एक्कस्सिं गिरिंगडए	१	२५२
एक्कं कोदंडउसयं	२	२६४
एक्कं कोदंडउसयं	२	२६५
एक्कं जोयणलक्खा	२	१५५
एक्कंत तेरसादी	२	३९
एक्काहियखिदिसंखं	२	१५७
एक्कारसचावाणि	२	२३६
एक्कासीदी लक्खा	३	८०
एक्केक्क माणथंभे	३	१३९
एक्केक्करज्जुमेत्ता	१	१९२
एक्केक्कस्सिं इंदे	३	६२
एक्केक्कं रोमग्गं	१	१२५

	अधिकार/गाथा	
एक्कोणचउसयाइं	१	२२९
एक्कोणतीस दंडा	२	२५१
एक्कोणतीसलक्खा	२	१२५
एक्कोणमवणिइंदय	२	६५
एक्कोण्णपण्णदंडा	२	२५७
एक्कोण्णवीसदंडा	२	२४५
एक्कोणवीसलक्खा	२	१३६
एक्कोण सट्ठि हत्था	२	२४१
एक्कोणा दोण्णि सया	१	२३२
एक्को हवेदि रज्जू	२	१७०
एक्को हवेदि रज्जू	२	१७२
एक्को हवेदि रज्जू	२	१७४
एत्तो दलरज्जूणं	१	२१४
एत्तो चउचउहीणं	१	२८२
एत्थावसप्पिणीए	१	६८
एदस्स उदाहरणं	१	२२
एदं खेत्तपमाणं	१	१८३
एदाए बहलत्तं	२	१५
एदाणं पल्लाणं	१	१३०
एदाणं भवणाणं	३	१२
एदाणि य पत्तेक्कं	१	१९९
एदासिं भासाणं	१	६२
एदे अट्ठ सुरिंदा	३	१४२
एदेण पयारेणं	१	१४८
एदेणं पल्लेणं	१	१२८
एदे सव्वे देवा	३	१०९
एदेहि दोसेहि	३	२२०
एदेहिं अण्णेहिं	१	६४

	अधिकार/गाथा	
एवज्जिय अवसेसे	१	१४६
एवमवसेसखेत्तं	१	१४७
एवं अट्ठवियप्पा	१	२३७
एवं अट्ठवियप्पा	१	२५३
एवं अणेयभेयं	१	२६
एवं पण्णरसविहा	२	५
एवं बहुविहदुक्खं	२	३५७
एवं बहुविहरयण	२	२०
एवं रयणादीणं	२	२७१
एवं वरपंचगुरू	१	६
एवं सत्तखिदीणं	२	२१६

ओ

ओलगसालापुरदो	३	१३५
ओहिं पि विजाणंतो	३	२४५

क

कच्छुरिकरकचसूई	२	३४५
कणयधराधरधीरं	१	५१
कणयं व णिरुवलेवा	३	१२५
कत्तरि सलिलायारा	२	३२९
कत्तारो दुवियप्पो	१	५५
कदलीघादेण विणा	२	३५६
कम्ममहीए वालं	१	१०६
कररुहकेसविहीणा	३	१२९
करवत्तकं धुरीदो	२	३५
करवत्तसरिच्छाओ	२	३०८
करवालपहरभिण्णं	२	३४४
करितुरयरहाहिवई	१	४३
कंखापिपासणामा	२	४७
कादूण दिव्वपूजं	३	२४१
कापिट्ठ उवरिमंते	१	२०५
कालग्गिरुद्दणामा	२	३५२
कालो रोरवणामो	२	५३
किण्हादितिलेस्सजुदा	२	२९६
किण्हा अणीलकाऊ	२	२९५
किण्हा रयणसुमेघा	३	८९
कुलदेवा इदि मण्णिय	३	५४
कुलाहिदेवा इव मण्णमाणा	३	२४०
कूडाण समंतादो	३	५५
कूडोवरि पत्तेक्कं	३	४२
केई देवाहिंतो	२	३६२
केवलणाणतिणेत्तं	१	२८६
केवलणाणदिवायर	१	३३
केसवबलचक्कहरा	२	२९२
कोसदुगमेक्ककोसं	१	२७६
कोहेण लोहेण भयंकरेण	३	२२०

ख

खरपंकप्पब्बहुला	२	९
खरभागो णादव्वो	२	१०
खंदं सयलसमत्थं	१	९५
खीरोवहि जलपूरिद	३	२३८
खे संठियचउखंडं	१	१४५
खेत्त जवे विंदफलं	१	२३६
खेत्तं दिवड्ढसयधणु	३	१६३

ग

	अधिकार/गाथा	
च्छसमे गुणयारे	३	७९
णरायमंतितलवर	१	४४
हि्रबिलधूममारुद	२	३२१
लयदि विणासयदे	१	९
द्धा गरुडा काया	२	३३८
रिकंदर विसंतो	२	३३२
णगारा पणणउदो	१	२४८
णजीवा पज्जत्ती	२	२७३
णजीवा पज्जत्ती	३	१८३
णपरिणदासणं परि	१	२१
वेज्ज णवाणुद्दिस	१	१६२
उरदारजुदाओ	३	२९
मुत्तमुग्गवण्ण	१	२७१
सीसमलयचंदण	३	२३५
हत्थितुरयभत्था	२	३०५

घ

	अधिकार/गाथा	
णघाइकम्ममहणा	१	२
णफलमुवरिमहेट्ठिम	१	१७४
णफलमेक्कम्मि जवे	१	२२१
णफलमेक्कम्मि जवे लोओ	१	२४०
णफलमेक्कम्मि	१	२५७
माए आहारो	२	३४९
माए णारइया	२	१९६
मादीखिदितिदए	२	३६२
मादी पुढवीणं	२	४६
मावंसामेघा	१	१५३

च

	अधिकार/गाथा	
चउकोसेहिं जोयण	१	११६
चउगोउरा ति-साला	३	४३
चउजोयणं लक्खाणि	२	१५२
चउठाणेसुं सुण्णा	३	८३
चउठाणेसुं सुण्णा	३	८७
चउतीसं चउदालं	३	२०
चउतीसं लक्खाणि	२	११९
चउतोरणाहिरामा	३	३८
चउदंडा इगिहत्थो	२	२५३
चउदालं चावाणि	२	२५६
चउदुति इगितीसेहिं	१	२२२
चउपासाणि तेसु	३	६१
चउ मण चउ वयणाइ	३	१९०
चउरस्सो पुव्वाए	१	६६
चउरूवाइं आदिं	२	८०
चउविहउवसग्गेहिं	१	५९
चउवीसमुहुत्ताणि	२	२८८
चउवीसवीस बारस	२	९८
चउवीससहस्साहिय	३	७२
चउवीसं लक्खाणि	२	८९
चउवीसं लक्खाणि	२	१३०
चउसट्ठि छस्सयाणि	२	१९२
चउसट्ठि सहस्साणि	३	६९
चउसट्ठी चउसीदी	३	११
चउसण्णा ताओ भय	३	१८९
चउसीदि चउसयाणं	१	२३१
चउहिदतिगुणिदरज्जू	१	२५९

	अधिकार/गाथा	
चक्कसरकणयतोमर	२	३३६
चक्कसर सूल तोमर	२	३१९
चत्तारिच्चिय एदे	२	९९
चत्तारि लोयपाला	३	६५
चत्तारि सहस्साणिं	३	९५
चत्तारि सहस्साणि	२	७७
चत्तारि सहस्साणिं चउ	२	१७५
चत्तारो कोदंडा	२	२२५
चत्तारो गुणठाणा	२	२७४
चत्तारो चावाणिं	२	२२४
चमरग्गिममहिसीणं	३	९१
चमरदुगे आहारो	३	१११
चमरदुगे उस्सासं	३	११५
चमरिंदो सोहम्मे	३	१४१
चयदलहदसंकलिदं	२	८५
चयहदमिच्छूणपदं	२	६४
चयहदमिट्ठाधियपद	२	७०
चामरदुंदुहि पीढ	१	११३
चालीसं कोदंडा	२	२५५
चालीसं लक्खाणि	२	११३
चालुत्तरमेक्कसयं	३	१०५
चावसरिच्छो छिण्णो	१	६७
चुलसीदी लक्खाणं	२	२६
चूडामणिअहिगरुडा	३	१०
चेट्ठंदि जम्मभूमी	२	३०४
चेत्ततरूणं मूले	३	३८
चेत्तद्दुमत्थलरुंदं	३	३१
चेत्तद्दुममूलेसुं	३	३७
चेत्तदुमामूलेसुं	३	१३७

	अधिकार/गाथ	
चोत्तीसं लक्खाणि	२	१२
चोदालं लक्खाणि	२	१०
चोद्दसजोयणलक्खा	२	१४
चोद्दसदंडा सोलस	२	२४
चोद्दसभजिदो तिगुणो	१	२५
चोद्दसभजिदो तिउणो	१	२६
चोद्दसरज्जुपमाणो	१	१५
चोद्दस जोयण लक्खा	२	१४
चोद्दसलक्खाणि तहा	२	९
चोद्दस सयाणि छाहत्तरी	२	७
चोद्दस सहस्सजोयण	२	१७

छ

छक्कदिहिदेक्कणउदी	२	१८
छक्खंडभरहणाहो	१	४
छच्चिय कोदंडाणि	२	२२
छज्जोयण लक्खाणि	२	१५
छट्ठमखिदिचरिमिंदय	२	१७
छण्णउदि णवसयाणि	२	१९
छत्तीसं लक्खाणि	२	११
छद्दव्वणवपयत्थे	१	२
छट्ठोभूमुहरुंदा	३	३
छप्पणाहरिदो लोओ	१	२०
छप्पण्णासहस्साहिय	३	९
छप्पण्णाहिदो लोओ	१	२
छप्पण्णा इगिसट्ठी	२	२
छप्पंचतिदुगलक्खा	२	६
छब्बीसब्भहियसयं	१	२
छब्बीसं चावाणि	२	२

	अधिकार/गाथा	
छब्बीसं लक्खाणि	२	१२८
छस्सम्मत्ता ताइं	२	२८३
छहि अंगुलेहि पादो	१	११४
छावट्ठिछस्सयाणि	२	१०६
छासट्ठी अंहियसयं	२	२६७
छाहत्तरि लक्खाणि	३	८२
छिण्णसिरा भिण्णकरा	२	३३७
छेत्तूण भित्ति वधिदूण पीयं	२	३६८
छेत्तूणं तसणालि	१	१६७
छेत्तूणं तसणालिं	१	१७२
ज		
जइ विलवयंति करुणं	२	३४०
जगसेढिघणपमाणो	१	९१
जम्मणखिदीण उदया	२	३११
जम्मणमरणाणंतर	२	३
जम्माभिसेयभूसण	३	५७
जलयरकच्छव मंडूक	२	३३०
जस्स असंखेज्जाऊ	३	१६९
जस्सि जस्सि काले	१	१०९
जादीए सुमरणेणं	३	२५१
जादे अणंत णाणे	१	७४
जिणदिट्ठपमाणाओ	३	१०८
जिणपूजा उज्जोगं	३	२२४
जिणोवदिट्ठागमभासणिज्जं	३	२१८
जिब्भाजिब्भगलोला	२	४२
जीवसमासा दो च्चिय	३	१८७
जीवा पोग्गलधम्मा	१	९२
जे केइ अण्णाणतवेहिं	३	२५२

	अधिकार/गाथा	
जे कोहमाणमाया	३	२०९
जेत्तियमेत्तं आऊ	३	१६१
जेत्तियमेत्ता आऊ	३	१७४
जे भूदिकम्म मंता	३	२०६
जे सच्चवयणहीणा	३	२०५
जो ण पमाणणयेहिं	१	८२
जो अजुदाओ देवो	३	११७
जोणीओ णारइयाणं	२	३६५
जोयणपमाणसंठिद	१	६०
जोयणवीससहस्सा	१	२७३
झ		
झल्लरिमल्लयपत्थी	२	३०६
ठ		
ठावणमंगलमेदं	१	२०
ण		
णउदिपमाणा हत्था	२	२४७
णच्चिदविचित्तकेदण	३	२२८
णवणउदिजुदचउस्सय	२	१८०
णवणउदिणवसयाणि	२	१८१
णवणउदिसंहियणवसय	२	१८६
णवणउदिजुदणवसय	२	१९०
णव णव अट्ठ य बारस	१	२३३
णव णवदिजुदचदुस्सय	२	१६७

	अधिकार/गाथा	
णवणवदिजुदचदुस्सय	२	१८०
णवदंडा तियहत्थं	२	२३४
णवदंडा बावीसं	२	२३३
णवरि विसेसो एसो	२	१८८
णव लक्खा णवणउदा	२	९१
णवहिदबावीससहस्स	२	१८३
णंदादिओ तिमेहल	३	४४
णाणं होदि पमाणं	१	८३
णाणावरणप्पहुदी	१	७१
णाणाविहवण्णाओ	२	११
णामाणिठावणाओ	१	१८
णावा गरुडगइंदा	३	७८
णासदि विग्घं भेददि	१	३०
णिक्कंता णिरयादो	२	२९०
णिक्कंता भवणादो	३	१९७
णिण्णट्ठरायदोसा	१	८१
णिब्भूसणायुहंबर	१	५८
णियणियइंदयसेढी	२	१६०
णियणियओहीक्खेत्तं	३	१८२
णियणियचरिमिंदयधय	१	१६३
णियणियचरिमिंदयधण	२	७३
णियणियभवणठिदाणं	३	१७७
णिरएसु णत्थि सोक्खं	२	३५५
णिरयगदिआउबंधय	२	४
णिरयगदीए सहिदा	२	२७९
णिरयपदरेसु आऊ	२	२०३
णिरयविलाणं होदि हु	२	१०१
णिस्सेसकम्मक्खवणेक्कहेदुं	३	२३९
णेरइय णिवास खिदो	२	२

	अधिकार/गाथा	
त		
तक्खयवड्ढिपमाणं	१	१७७
तक्खयवड्ढिपमाणं	१	१९४
तक्खयवड्ढि विमाणं	१	२२६
तट्ठाणादोधोधो	३	१७८
तणुरक्खा तिप्परिसा	३	६३
तण्णामा वेरुलियं	२	१६
तत्तो उवरिमभागे -	१	१६२
तत्तो दोइदरज्जू	१	१५५
तत्तो य अद्धरज्जू	१	१६१
तत्तो ववसायपुर	३	२२७
तत्तो तसिदो तवणो	२	४३
तत्थ वि विविहतरुणं	२	३३५
तद्दिए भुयकोडीओ	१	२५५
तब्बाहिरे असोयं	३	३०
तमकिंदए णिरुद्धो	२	५१
तमभमझसअद्धाविय	२	४५
तम्मि जवे विंदफलं	१	२५६
तम्मिस्ससुद्धसेसे	१	२१२
तसरेणू रथरेणू	१	१०५
तस्स य एक्कम्मि दए	१	१४४
तस्स य जवखेत्ताणं	१	२६८
तस्साइं लहुबाहुं	१	२३५
तस्साइं लहुबाहू	१	२५१
तह अब्भवालुकाओ	२	१३
तह य पहंजणणामो	३	१९

	अधिकार/गाथा	
तं चिय पंचसयाइं	१	१०८
तं पणतीसप्पहदं	१	२३४
तं मज्झे मुहमेक्कं	१	१३९
तं वग्गे पदरंगुल	१	१३२
तं सोधिदूण तत्तो	१	२७८
ताण खिदोणं हेट्ठा	२	१८
ताणअपच्चक्खाणा	२	२७५
ताणअपच्चक्खाणा	३	१८५
ताणं मूले उवरिं	३	४०
तादो देवीणिवहो	३	२२३
तिट्ठाणे सुण्णाणि	३	८१
तिट्ठाण सुण्णाणि	३	८५
तिण्णि तडा भूवासो	१	२६१
तिण्णि पलिदोवमाणि	३	१५१
तिण्णिसहस्सा छस्सय	२	१७३
तिण्णिसहस्सा णवसय	२	१७९
तिण्णि सहस्सा दुसया	२	१७१
तित्थयर संघपडिमा	३	२०७
तिद्दारतिकोणाओ	२	३१३
तिप्परिसाणं आऊ	३	१५४
तियगुणिदो सत्तहिदो	१	१७१
तियजोयणलक्खाणि	२	१५३
तियदंडा दो हत्था	२	२२३
तियपुढवीए इंदय	२	६७
तिरियक्खेत्तप्पणिधिं	१	२७७
तिवियप्पमंगुलं तं	१	१०७
तिहिदो दुगुणिदरज्जू	१	२५८
तीसं अट्ठावीसं	३	७४

	अधिकार/गाथा	
तीसं इगिदालदलं	१	२८३
तीसं चालं चउतीसं	३	२१
तीसं पणवीसं च य	२	२७
तीसं विय लक्खाणि	२	१२४
तुरिमाए णारइया	२	१९९
ते णवदिजुत्त दुसया	२	६२
तेत्तीसब्भहियसयं	१	१९१
तेत्तीसं लक्खाणि	२	१२१
तेदालं लक्खाणि	२	११०
तेरसएक्कारसणव	२	३७
तेरसएक्कारसणव	२	६३
तेरसएक्कारसणव	२	७५
तेरसजोयणलक्खा	२	१४२
तेरह उवही पढमे	२	२१०
तेवण्णा चावाणि	२	२५८
ते वण्णाण हत्थाइं	२	२३९
तेवीसं लक्खाणि	२	१३१
तेवीसं लक्खाणि	२	१३२
तेसट्ठी लक्खाइं	३	८६
ते सव्वे णारइया	२	२८१
तेसिमणंतर जम्मे	३	१९९
तेसीदिं लक्खाणि	२	९४
तेसु चउसु दिसासु	३	२७

थ

थंभुच्छेहा पुव्वा	१	२००
थिरधरियसीलमाला	१	५
थुव्वंतो देइ धणं	२	३०२
थोदूण थुदि	३	२३१

	अधिकार/गाथा	
द		
दक्खिणइंदा चमरो	३	१७
दक्खिणउत्तरइंदा	३	३
दट्ठूण मयसिलंबं	२	३१७
दसजोयणलक्खाणि	२	१४६
दसणउदिसहस्साणि	२	२०५
दसदंडा दोहत्था	२	२३५
दसमंसचउत्थस्स	२	२०७
दसवरिससहस्साऊ	३	११४
दसवाससहस्साऊ	३	१६२
दसवाससहस्साऊ	३	१६६
दससुकुलेसुं पुह पुह	३	१३
दहसेलदुमादीणं	२	२३
दंडपमाणंगुलए	१	१२१
दंसणमोहे णट्ठे	१	७३
दारुणहुदासजाला	२	३३४
दिप्पंतरयणदीवा	३	४९
दिसविदिसाणं मिलिदा	२	५५
दीविंदप्पहुदीणं	३	९७
दीवेसु णगिंदेसु	३	२४९
दीवोदहिसेलाणं	१	१११
दुक्खा य वेदणामा	२	४९
दुचयहदं संकलिदं	२	८६
दुजुदाणि दुसयाणि	१	२६५
दुरंत संसारविणासहेदुं	३	२२२
दुविहो हवेदि हेदू	१	३५
दुसहस्सजोयणाधिय	२	१६५
दुसहस्समउउबद्ध	१	४६

	अधिकार/गाथा	
देवमणुस्सादीहिं	१	३७
देवीओ तिण्णि सया	३	१०२
देवीदेवसमूहं	३	२१६
देसविरदादि उवरिम	२	२७६
देसविरदादि उवरिम	३	१८६
देह अवट्ठिदकेवल	१	२३
देहोव्व मणो वाणी	२	२९
दो अट्ठसुण्णतिअणह	१	१२४
दो कोसा उच्छेहा	३	२९
दो छब्बारसभाग	१	२८४
दो जोयणलक्खाणि	२	१५४
दोण्णिवियप्पा होंति हु	१	१०
दोण्णि सयाणि अट्ठा	२	२६८
दोण्णिसया देवीओ	३	१०३
दो दंडा दो हत्था	२	२२२
दोपक्खखेत्तमेत्तं	१	१४०
दो भेदं च परोक्खं	१	३९
दोलक्खाणि सहस्सा	२	९२
दोहत्था वीसंगुल	२	२३१
ध		
धम्मदयापरिचत्तो	२	२९७
धम्माधम्मणिबद्धा	१	१३४
धरणाणंदे अहियं	३	१५६
धरणाणंदे अहियं	३	१५९
धरणाणंदे अहियं	३	१७१
धरणिंदे अहियाणि	३	१४८
धादुविहीणत्तादो	३	१३१

	अधिकार/गाथा	
घुव्वंतधयवडाया	३	५९
घूमपहाए हेट्ठिम	१	१५६

प

पउमापउमसिरीओ	३	९३
पज्जत्तापज्जत्ता	२	२७७
पडिइंदादिचउण्हं	३	११८
पडिइंदादिचउण्हं	३	१७३
पडिइंदादिचउण्हं	३	९९
पडिइंदादिचउण्हं	३	१३३
पडिमाणं अग्गेसु	३	१३८
पडुपडहसंखमद्दल	३	२३३
पडुपडहप्पहुदीहिं	३	२४४
पढमधरंतमसण्णी	२	२८५
पढमबिदीयत्रणीणं	२	१६४
पढमम्हि इंदयम्हि य	२	३८
पढमं दहण्हदाणं तत्तो	३	२२५
पढमा इंदयसेढी	२	६६
पढमादिबितिचउक्के	२	२९
पढमे मंगलकरणे	१	२९
पढमो अणिच्चणामो	२	४८
पढमो लोयाधारो	१	२७२
पढमो हु चमरणामो	३	१४
पण अग्गमहिसियाओ	३	९४
पणकोसवासजुत्ता	२	३१०
पणणवदियधियचउदस	१	२६६
पणतीसं दंडाइं	२	२५४
पणतीसं लक्खाणि	२	११८

	अधिकार/गाथा	
पणदालहदारज्जू	१	२२४
पणदालं लक्खाणि	२	१०५
पणबीससहस्साधिय	२	१३५
पणबीससहस्साधिय	२	१४७
पणसट्ठी दोण्णिसया	२	६८
पणहत्तरिपरिमाणा	२	२६२
पणिधीसु आरणच्चुद	१	२०७
पणुवीसजोयणाणिं	३	१७९
पणुवीससहस्साधिय	२	१११
पणुवीसं लक्खाणि	२	१२९
पण्णरसहदा रज्जू	१	२२३
पण्णरसं कोदंडा	२	२४२
पण्णरसेहिं गुणिदं	१	१२४
पण्णारसलक्खाणि	२	१४०
पण्णासब्भहियाणि	२	२६९
पत्तेक्कं इंदयाणं	३	७०
पत्तेक्कमद्धलक्खं	३	१६०
पत्तेक्कमाऊसंखा	३	१७२
पत्तेक्कमेक्कलक्खं	३	१४९
पत्तेक्कमेक्कलक्खं	३	१५७
पत्तेक्कं रुक्खाणं	३	३३
पत्तयं रयणादी	२	८७
पददलहदबेकपदा	२	८४
पददलहिदसंकलिदं	२	८३
पदवग्गं चयपहदं	२	७६
पदवग्गं पदरहिदं	२	८१
परमाणूहिं अणंता	१	१०२
परवंचणप्पसत्तो	२	२९९
परिणिक्कमणं केवल	१	२५

	अधिकार/गाथा	
परिवारसमाणा ते	३	६७
परिसत्तयजेट्ठाऊ	३	१५३
पलिदोवमद्धमाऊ	३	१५८
पल्लसमुद्दे उवमं	१	९३
पहदो णवेहि लोओ	१	२२०
पंकपहापहुदीणं	२	३६४
पंकाजिरो य दीसदि	२	१९
पंचच्चिय कोदंडा	२	२२६
पंचमखिदिणारइया	२	२००
पंचमखिदिपरियंतं	२	२८६
पंचमहव्वयतुंगा	१	३
पंचमिखिदिए तुरिमे	२	३०
पंच य इंदियपाणा	३	१८८
पंच वि इंदियपाणा	२	२७८
पंचसयरायसामी	१	४५
पंचसु कल्लाणेसुं	३	१२२
पंचादी अट्ठचयं	२	६९
पंचुत्तर एक्कसयं	१	२६३
पावं मलं त्ति भण्णइ	१	१७
पाविय जिणपासादं	३	२२९
पावेणं णिरयबिले	२	३१४
पासरसरूवसद्धुणि	३	२४८
पीलिज्जंते केई	२	३२४
पुढमीए सत्तमिए	२	२७०
पुण्णवसिट्ठजलप्पह	३	१५
पुण्णं पूदपवित्ता	१	८
पुत्ते कलत्ते सजणम्मि मित्ते	२	३७०
पुव्ववण्णिदखिदीणं	१	२१५

	अधिकार/गाथा	
पुव्वं बद्धसुराऊ	२	३५०
पुव्वं व विरचिदेणं	१	१२९
पुव्वावरदिब्भाए	२	२५
पुव्विल्लयरासीणं	२	१६१
पुव्विलाइरिएहिं उत्तो	१	२८
पुव्विलाइरिएहिं मंगं	१	१६
पुह पुह सेसिंदाण	३	९८
पूजाए अवसाणे	३	२३८
पूरंति गलंति जदो	१	९९
पेच्छिय पलायमाणं	२	३२३
फ		
फालिज्जंते केई	२	३२६
ब		
बत्तीसट्ठावीसं	२	२२
बत्तीसं तीसं दस	३	७५
बत्तीसं लक्खाणि	२	१२२
बम्हुत्तरहेट्ठुवरिं	१	२१०
बहुविहपरिवारजुदा	३	१३२
बंबयबगमो असारग्ग	२	१४
बाणउदिजुत्तदुसया	२	७४
बाणासणाणि छच्चिय	२	२२८
बादालहरिदलोओ	१	१८२
बारसजोयणलक्खा	२	१४३
बारसजोयणलक्खा	२	१४४
बारसदिणेसु जलपह	३	११२
बारस मुहुत्तयाणि	३	११६
बारस सरासणाणि	२	२३७

	अधिकार/गाथा	
बारस सरासणाणि	२	२३८
बारस सरासणाणि	२	२६१
बावण्णुवही उवमा	२	२१२
बावीसं लक्खाणि	२	१३३
बाहत्तरि लक्खाणि	३	५२
बाहिरछब्भाएसुं	१	१८७
बाहिरमज्झब्भंतर	३	६६
बिदियादिसु इच्छंतो	२	१०७
बेकोसा उच्छेहा	३	२८
बेरिक्कूहि दंडा	१	११५

भ

भवणसुराणं अवरे	३	१८४
भवणं वेदोकूडा	३	४
भवणा भवणपुराणि	३	२२
भवणेसु समुप्पण्णा	३	२५०
भव्वजणमोक्खजणणं	३	१
भव्वजणाणंदयरं	१	८७
भव्वाण जेण एसा	१	५४
भव्वाभव्वा पंचहि	३	१९३
भंभामुइंगमद्दल	३	५०
भावणणिवासखेत्तं	३	२
भावणलोयस्साऊ	३	६
भावणवेंतरजोइसिय	१	६३
भावसुदं पज्जाएहिं	१	७९
भावेसुं तियलेस्सा	२	२८२
भिंगारकलसदप्पण	१	११२
भिंगारकलसदप्पण	३	४८
भिंगारकलसदप्पण	३	२३४

	अधिकार/गाथा	
भीदीए कंपमाणा	२	३१५
भुजकोडीवेदेसुं	१	२१८
भुजपडिभुजमिलिदद्धं	१	१८१
भूमीए मुहं सोहिय	१	१९३
भूमीअ मुहं सोहिय	१	१७६
भूमीअ मुहं सोहिय	१	२२५
भूसणसालं पविसिय	३	२२६

म

मघवीए णारइया	२	२०१
मज्जं पिबंता पिसिदं	२	३६६
मज्झम्हि पंचरज्जू	१	१४१
मज्झिमजगस्स उवरिम	१	१५८
मज्झिमजगस्स हेट्ठिम	१	१५४
मज्झिमविसोहिसहिदा	३	१९५
मणहरजालकवाडा	३	६०
मरणे विराहिदम्हि य	३	२०४
महतमपहाअ हेट्ठिमअंते	१	१५७
महमंडलिया णामा	१	४७
महमंडलियाणं अद्ध	१	४१
महवीरभासियत्थो	१	७६
महुमज्जाहाराणं	२	३४३
मंगलकारणहेदू	१	७
मंगलपज्जाएहिं	१	२७
मंगलपहुदिच्छक्कं	१	८५
मंदरसरिसम्मि जगे	१	२३०
मंसाहाररदाणं	२	३४२
माणुस्स तेरिच्चभवम्हि	३	२१७
मायाचारविवज्जिद	३	२४३

	अधिकार/गाथा	
माहिंद उवरिमंते	१	२०४
मुरजायारं उड्ढं	१	१६९
मुहभूसमासमद्धिअ	१	१६५
मेघाए णारइया	२	१९८
मेरुतलादो उवरिं	१	२८१
मेरुसमलोहपिंडं सीदं	२	३२
मेरुसमलोहपिंडं उण्हं	२	३३
मेरुसरिच्छम्मि जगे	१	२२७

र

रज्जुघणद्धं णवहद	१	१९०
रज्जुघणा ठाणदुगे	१	२१३
रज्जुघणा सत्तच्चिय	१	१८९
रज्जुस्स सत्तभागो	१	१८४
रज्जुए सत्तभागं	१	१९६
रज्जूवो तेभागं	१	२४१
रयणप्पह अवणीए	२	१०८
रयणप्पहचरमिंदय	२	१६८
रयणप्पहपहुदीसुं	२	८२
रयणप्पहपुढवीए	३	७
रयणप्पहक्खिदीए	२	२१८
रयणप्पहावणीए	२	२७२
रयणाकरेक्कउवमा	३	१४४
रयणादिछट्ठमंतं	२	१५९
रयणादिणारयाणं	२	२८९
रयणुज्जल दीवेहिं	३	२३७
रोगजरापरिहीणा	३	१२७
रोहगए जेट्ठाऊ	२	२०६

	अधिकार/गाथा	

ल

लक्खणवंजणजुत्ता	३	१२६
लक्खाणि अट्ठ जोयण	२	१४८
लक्खाणि पंच जोयण	२	१५१
लज्जाए चत्ता मयणेण मत्ता	२	३६९
लद्धो जोयणसंखा	२	१६२
लोयबहुमज्झदेसे	२	६
लोयंते रज्जुघणा	१	१८५
लोयायासट्ठाणं	१	१३५
लोयालोयाण तहा	१	७७
लोहकडाहावट्टिद	२	३२७
लोहकोहभयमोहबलेणं	२	३६७
लोहमयजुवइपडिमं	२	३४१

व

वइतरणी सलिलादो	२	३३१
वइरोअणो य धरणाणंदो	३	१८
वक्कंत अवक्कंता	२	४१
वच्चदि दिवड्ढरज्जू	१	१५९
वण्णरसगंधफासे	१	१००
वण्णरसगंधफासे	३	२१२
वयवग्घतरच्छसिगाल	२	३२०
वररयणकंचणमये	३	२४६
वररयणमउउधारी	१	४२
वररयणमउडधारी	३	१२८
वरविविहकुसुममाला	३	२३६
ववहाररोमरासिं	१	१२६
ववहारुद्धारद्धा	१	९४
वंदणभिसेयणच्चण	३	४६

	अधिकार/गाथा	
वंसाए णारइया	२	१९७
वादवरुद्धक्खेत्ते	१	२८५
वायंता जयघंटा	३	२१५
वालेसु दाढीसु	२	२९१
वासट्ठी कोदंडा	२	२६०
वासस्स पढममासे	१	६९
वासोदिं लक्खाणं	२	३१
वासो जोयणलक्खो	२	१५६
विउलसिलाविच्चाले	२	३३३
विगुणियछच्चउसट्ठी	२	२३
विमले गोदमगोत्ते	१	७८
विरिएण तहा खाइय	१	७२
विविहत्थेहिं अणंतं	१	५३
विविहरतिकरणभाविद	३	२४२
विविहवररयणसाहा	३	३४
विविहवियप्पं लोयं	१	३२
विविहंकुरचेंचइया	३	३५
विसयासत्तो विमदी	२	२९८
विसुद्धलेस्साहि सुराउबंधं	३	२५३
विस्साणं लोयाणं	१	२४
विंदफलं संमेलिय	१	२०२
विंसदिगुणिदो लोओ	१	१७३
वीसए सिखासयाणि	२	२४६
वेणुदुगे पंचदलं	३	१४५
वेदीणब्भंतरए	३	४१
वेदीणं बहुमज्झे	३	३९
वोच्छामि सयलभेदे	१	९०

	अधिकार/गाथा	
स		
सक्करवालुवपंका	२	२१
सक्खापच्चक्खपरं	१	३६
सगजोयणलक्खाणि	२	१४९
सगतीसं लक्खाणि	२	११६
सगपणचउजोयणायं	१	२७८
सगपंचचउसमाणा	१	२७५
सगवण्णोवहि उवमा	२	२१३
सगवीसगुणिदलोओ	१	१६८
सगसगपुढविगयाणं	२	१०३
सट्ठाणे विच्चालं	२	१८७
सट्ठाणे विच्चालं	२	१९५
सट्ठीजुदमेक्कसयं	३	१०४
सट्ठी तमप्पहाए	२	७९
सण्णाणरयणदीवं	३	२५४
सण्णिअसण्णीजीवा	३	२०३
सण्णी य भवणदेवा	३	१९४
सत्तघणहरिदलोयं	१	१७९
सत्तच्चिय भूमीओ	२	२४
सत्तट्ठणवदसादिय	३	५६
सत्तटठाणें रज्जू	१	२६२
सत्ततिछदंडहत्थंगुलाणि	२	२१७
सत्तमखिदिजीवाणं	२	२१५
सत्तमखिदिणारइया	२	२०२
सत्तमखिदिबहुमज्झे	२	२८
सत्तमखिदीअ बहले	२	१६३
सत्त य सरासणाणि	२	२२९
सत्तरसं चावाणि	२	२४४

	अधिकार/गाथा	
सत्तरसं लक्खाणि	२	१३८
सत्तरि हिद सेढिघरणा	१	२१६
सत्त विसिरवासरणारिण	२	२३०
सत्तहदबारसंसा	१	२४२
सत्तहिददुगुणलोगो	१	२३४
सत्ताहियत्रीसेहिं	१	१६७
सत्तारणउदी हत्था	२	२४८
सत्तारणउदी जोयरण	२	१६३
सत्तारणीया होंति हु	३	७६
सत्तावीसं दंडा	२	२५०
सत्तावीसं लक्खा	२	१२७
सत्तासीदी दंडा	२	२६३
सत्थादिमज्झअवसारण	१	३१
सत्थेण सुतिक्खेणं	१	९६
सबलचरित्ता केई	३	२०१
समचउरस्सा भवरणा	३	२५
समयं पडि एक्केक्कं	१	१२७
समवट्टवासवग्गे	१	११७
सम्मत्तरयरणजुत्ता	३	५३
सम्मंत्तरयरणपव्वद	२	३५८
समत्तरहियचित्तो	२	३६१
सम्मत्तं देसजमं	२	३५९
सम्मत्तं सयलजमं	२	३६०
सम्माइट्ठी देवा	३	१९८
सयकदिरूऊणद्धं	२	१६६
सयरणारिण आसरणारिण	३	२४७
समलो एस य लोओ	१	१३६
सव्वे असंजदा तिद्दंसरणा	३	१९२

	अधिकार/गाथा	
सव्वे असुरा किण्हा	३	११९
सव्वे छण्णारणजुदा	३	१९१
सव्वेसिं इंदाणं	३	१३४
सव्वेसु इंदेसु	३	१००
सहसारउवरिमंते	१	२०६
संखातीदसहस्सा	३	१८१
संखातीदासेढी	३	१४३
संखेज्जमिदयारणं	२	९५
संखेज्ज रुंद भवणेसु	३	२६
संखेज्जरुंदसंजुद	२	१००
संखेज्जवासजुत्ते	२	१०४
संखेज्जाऊ जस्स य	३	१६८
संखेज्जा वित्थारा	२	९६
संसारण्णवमहणं	२	३७१
सारणगणा एक्केक्के	२	३१८
सामण्णगब्भकदली	३	५८
सामण्णजगसरूवं	१	८८
सामण्णे बिंदफलं	१	२३८
सामण्णे बिंदफलं	१	२५४
सामाण्णं सेढिघरणं	१	२१७
सायर उवमा इगिदुति	२	२०८
सायारअरणायारा	२	२८४
सावण बहुले पाडिव	१	७०
सासदपदमावण्णं	१	८६
सिकदारणारणासिपत्ता	२	३५१
सिद्धारणं लोगो त्ति य	१	८९
सिरिदेवी सुददेवी	३	४७
सिंहासणादिसहिदा	३	५१
सीमंतगो य पढमो	२	४०

	अधिकार/गाथा	
सीलादिसंजुदाणं	३	१२३
सिंहासण छत्तत्तय	३	२३०
सुदणाणभावणाए	१	५०
सुरखेयरमणहरणे	१	६५
सुरखेयरमणुवाणं	१	५२
सूवरवणग्गिसोणिद	२	३२२
सेढिपमाणायामं	१	१४९
सेढीअसंखभागो	३	१९८
सेढीए सत्तभागो	१	१७०
सेढीए सत्तभागो	१	१७५
सेढीए सत्तंसो	१	१६४
सेदजलरेणुकद्दम	१	११
सेदरजाइमलेणं	१	५६
सेसाओ वण्णणाओ	३	१४०
सेसाणं इंदाणं	३	९६
सोक्खं तित्थयराणं	१	४९
सोलसजोयणलक्खा	२	१३९
सोलस सहस्समेत्ता	३	९२
सोलससहस्समेत्तो	३	८
सोलसहस्सं छस्सय	२	१३४
सोहम्मीसाणोवरि	१	२०३
सोहम्मेदलजुत्ता	१	२०८

ह

	अधिकार/गाथा	
हरिकरिवंसहखगाहिव	३	४५
हाणिचयाणपमाणं	२	२२०
हिमइंदयम्मि होंति हु	२	५२
हेट्ठादो रज्जुघणा	१	२४७
हेट्ठिममज्झिमउवरिम	१	१५१
हेट्ठिमलोएलोओ	१	१६६
हेट्ठिमलोयाआरो	१	१३७
हेट्ठोवरिदं मेलिद	१	१४२
होंति णपुंसयवेदा	२	२८०
होंति पयण्णयपहुदी	३	८८

4507
30-7-99